कविवर—विद्वन्मणि राजमल्ल विरचिता

लाटी संहिता

(श्रावकाचार ग्रंथ)

संपादक एव अनुवादक

सिद्धांताचार्य पं० हीरालाल शास्त्री, न्यायतीर्थ

व्यवस्थापक

ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवन, ब्यावर (राज०)

तथा

स्वामी समन्तभद्राचार्यकृत—

रत्नकरण्ड—श्रावकाचार

प० गिरधर शर्मा कृत हिन्दी पद्यानुवाद

प्रकाशक
शास्त्र सभा
अहिंसा मन्दिर,
१, दरियागज, नई दिल्ली-२

मूल्य स्वाध्याय

प्रथम सस्करण
१००० प्रतियाँ
वीर स० २५१३
सन् १९८८

मुद्रक
शकुन प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

प्राक्कथन

जैन धर्म मूल मे निवृत्ति-प्रधान है क्योकि मोक्ष का प्रधान कारण निवृत्ति है किन्तु गृहस्थाश्रम प्रवृत्ति प्रधान होता है। प्रवृत्ति के बिना गृहस्थाश्रम का निर्वाह असम्भव है।

श्रावक धर्म ही नही, अपितु, मुनिधर्म का भी मूल आधार सम्यग्दर्शन है, इसलिए सभी श्रावकाचारो मे सर्वप्रथम सम्यक्त्व का ही वर्णन किया गया है। परन्तु इसके विषय मे अलग-अलग महान आचार्यों ने विभिन्न विशेपताओ पर जोर दिया है।

सम्यग्दर्शन सज्ञी (मनसहित) पचेन्द्रिय जीवो को ही हो सकता है और वह हर काल और हर गति मे होता है ऐसी भगवान सर्वज्ञ की आज्ञा है। इसके विपरीत इस पचम काल मे निश्चय सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति नही हो सकती ऐसा मानना ठीक नही है।

सम्यकदर्शन अपना ही गुण होने से इसके लिए कही जाना नही पडता। इसे अपने मे ही खोजना पडता है इसीलिये इसको प्राप्त करना बहुत सरल है तथा अत्यन्त कठिन और दुर्लभ नही है।

इसका उपाय अध्ययन और ध्यान का निरन्तर करते रहना है। महान आचार्यों ने इस विषय मे जो लिखा है उसकी स्वाध्याय और उस पर मनन-चिन्तन करते रहना चाहिये और तत्व-सबधी श्रद्धा को सही करना चाहिए। ज्ञान ज्यो-ज्यो सही होगा मिथ्यात्व कर्म की गाठ ढीली पडती जाएगी और मिथ्यात्व ज्यो-ज्यो ढीला पडेगा स्वाध्याय और ज्ञान-उपार्जन की रुचि और अधिक बढ़ेगी और इस क्रम से एक दिन तम्यग्दर्शन प्राप्त हो ही जाता है।

सम्यक् दशन हुआ कि नही, इसकी पहचान शास्त्रो मे प्रशम, सवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य से बताई है। दूसरो को पना चले या न चले पर स्वय अपने को स्वानुभूति या स्वय के अनुभव से पता चल ही जाता है।

जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर से "श्रावकाचार सग्रह" पाच भागो मे प्रकाशित हुआ है। इसमे ३६ श्रावकाचारो का सग्रह किया गया है। यह इस ग्रन्थमाला की अनुपम देन है और जैन समाज को इस सस्था का आभारी होना चाहिए।

इन सब ग्रन्थो को इकट्ठा करना, पुरानी हस्तलिखित प्रतियो से मिलान करना, उनका अनुवाद करना और प्रेस कापी तैयार करना, यह सब एक जटिल कार्य है और केवल एक व्यक्ति के लिए तो यह सब काम असम्भव-सा जान पडता है पर सिद्धानाचार्य प० हीरालाल शास्त्री न्यायतीर्थ (साढुमल वालो) ने इस असम्भव काम को सम्भव कर दिखाया। जैन समाज अनेक पीढियो तक उनका ऋणी रहेगा।

इन ही पण्डित जी के कथनानुसार उन ३६ श्रावकाचारो मे लगभग १५ ग्रन्थ महान आचार्यों द्वारा रचित ऐसे हैं जिनमे से किसी भी ग्रथ या ग्रथो को कोई भी मुमुक्षु सम्यक दर्शन की प्राप्ति का निमित्त बनाना चाहे तो बना सकता है और रत्नत्रय मे से इस परम आवश्यक रत्न को उपरोक्त ढग से (अध्ययन और ध्यान द्वारा) प्राप्त कर सकता है। इन १५ ग्रन्थो को अलग-अलग प्रकाशित कराने की परम आवश्यकता है।

पण्डित हीरालाल जी के अतिरिक्त सभी विद्वानो ने १०८ श्री समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित "रत्नकरण्ड श्रावकाचार" को पहला नम्बर दिया है। इसमे दो मत नही हैं और इसीलिए प्रस्तुत ग्रन्थ मे रत्नकरण्ड श्रावकाचार का पण्डित गिरधर शर्मा कृत हिन्दी पद्यानुवाद परिशिष्ट के रूप मे दिया है। इसे तो कण्ठस्थ ही कर लेना चाहिए।

पण्डित हीरालाल जी ने ग्रथो का मूल्याकन करने मे १, २, ३ का कोई क्रम तो नही रखा है पर "लाटी-सहिता" की प्रशसा को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि रत्नकरण्ड के बाद दूसरा नम्बर इसी का है। वे लिखते हैं कि "पण्डित राजमल्ल जी ने सम्यक्त्व का जो अपूर्व सागोपाग व सूक्ष्म वर्णन किया है वह श्रावकाचारो मे तो क्या करणानुयोग या द्रव्यानुयोग के किसी भी शास्त्र मे दृष्टिगोचर नहीं होता। सम्यक्त्व विषयक उनका यह समग्र विवेचन पढकर मनन करने योग्य है। प्रशम सवेगादि का विशद वर्णन करते हुये लिखा है कि ये बाह्य दृष्टि से सम्यक्त्व के लक्षण हैं। यदि वे सम्यक्त्व के बिना हो तो प्रशमाभास आदि जानना चाहिए।

परन्तु स्व० पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री का मत है कि 'रत्नकरण्ड' के पश्चात् नम्बर आता है "पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय" का। यह अध्यात्मी आचार्य अमृतचन्द्र की कृति है और उस पर उनके अध्यात्म की छाप सुस्पष्ट है। प्रारम्भ के १५ पद्य बहुमूल्य हैं। आदि की तरह इस ग्रथ का अन्त भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस तरह का श्रावकाचार यही एक मात्र है।"

अन्त मे मैं वह बात कहना चाहता हूँ कि जो मुझे सर्वप्रथम कहनी चाहिए थी और वह यह कि "लाटी-सहिता" के इस सस्करण को प्रकाशित करने का सम्पूर्ण श्रेय श्री बाबूलाल जी कलकत्ते वालो को जाता है क्योकि उन्होने ही पहले शास्त्र सभा मे गद्दी पर इसका स्वाध्याय किया था और कहा था कि यह ग्रथ तो अलग से छप जाय तो अच्छा है। उनकी प्रेरणा से ही इसे छपवाने का प्रबन्ध किया गया। इसके अतिरिक्त मेरी प्रार्थना पर उन्होने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखने की स्वीकृति भी प्रदान की। यह प्रस्तावना अगले पृष्ठ से प्रारम्भ होती है और अपने मे मोक्षमार्ग पर एक स्वतन्त्र और सम्पूर्ण ट्रैक्ट है। साधक कहाँ कहाँ ठोकर खाता है यह बात उन्हे स्वाध्याय और स्वानुभव से भली प्रकार मालूम है और इस ही का वर्णन उन्होने इस प्रस्तावना मे किया है।

इतना ही नही, ग्रथ की छपाई के खर्चे मे भी उन्होने अपना योगदान दिया है। इस सबके लिए धन्यवाद देने और आभार प्रकट करने के लिये मेरे पास यथायोग्य और पर्याप्त शब्द नही हैं।

श्री बाबूलाल जी के दिल मे कविवर श्री राजमल्ल जी के लिए बडी श्रद्धा और बहुमान है। उन्हें वे एक बेजोड ग्रथकर्ता मानते हैं।

कुछ साल पहले इन्ही की प्रेरणा से स्व० श्री महेन्द्रसेन जैनी ने कविवर राजमल्ल जी की समयसार-कलश पर ढुढारी भाषा की टीका का हिन्दी मे अनुवाद किया था। इस ग्रथ की प्रस्तावना भी श्री बाबूलालजी ने ही लिखी है और बार बार पढ़ने और मनन करने योग्य है।

सभी मुमुक्षुओ को (जिनमे मैं स्वय भी शामिल हूँ) निश्चय सम्यक् दर्शन और स्वानुभूति की प्राप्ति शीघ्रातिशीघ्र हो यही मेरी एक मात्र भावना है।

—अजीत प्रसाद
व्यवस्थापक

प्रस्तावना

"जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो"

जिन शासन मे चार अनुयोग हैं। चारो ही अनुयोग मोक्ष मार्ग का अपनी अपनी मुख्यता से उपदेश देते हैं। चारो अनुयोगो की एकता होना ही सच्ची समझ है। पूज्यनीय वर्णीजी कहा करते थे कि एक ब्राह्मणी के चार लडके थे। किसी ने सबसे छोटे लडके को जीमने का न्यौता दिया। यह समझकर कि यह सबसे कम खायेगा। उस ब्राह्मणी ने कहा कि चाहे छोटे को न्यौता दो या बडे को सभी पाँच पसेरी हैं। याने खाने मे सभी बराबर है। यहा पर भी यही कह रहे हैं कि चारो अनुयोगो मे कोई छोटा बडा नही है। हमारी बात सही वही है जो चारो अनुयोगो को पुष्ट करे किसी का निषेध न करें।

किसी ने चरणानुयोग से पूछा कि मोक्ष कैसे हो उसने जवाब दिया कि मुनिव्रत धारण करने से मोक्ष होगा। फिर करणानुयोग से पूछा कि मोक्ष कैसे हो उसने जवाब दिया कि कर्मों का नाश कर दो मोक्ष हो जाएगा। उसने फिर अध्यात्म से पूछा कि मोक्ष कैसे हो तब उसने जवाब दिया कि आत्मा मे रमण करने से मोक्ष हो जायेगी। जब प्रथमानुयोग से पूछा गया, तब उसने जवाब दिया कि पहले तीर्थंकरादि हुये है उन्होने संसार शरीर भोगो का त्याग करके मुनिव्रत धारण कर, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता को प्राप्त किया और मोक्ष गए आगे भी इसी उपाय से मोक्ष जाएँगे। इस प्रकार चारो अनुयोगो ने अपने अपने विषय की मुख्यता से कथन किया। उनकी एकता तभी हो सकती हैं जब एक दूसरे की सापेक्षता रहे। जैसे अगर मोक्ष प्राप्त करना है तो बाहर मे मुनिव्रत धारण कर अपनी आत्मा मे रमण करे तो कर्मो का नाश कर मोक्ष की प्राप्ति हो। ऐसा ही भूतकाल मे हुआ है और आगामी काल मे भी ऐसा ही होगा। यह चारो की एकता है। चरणानुयोग का कथन अध्यात्म सापेक्ष है और अध्यात्मका उपदेश चरणानुयोग सापेक्ष है। यह सापेक्षता बिना कहे हमारे ज्ञानमे आ जानी चाहिए। व्रत धारण करने से मोक्ष होगी उसका अर्थ है व्रत धारणकर अपने स्वरूपमे रमण करेगा तो मोक्ष होगी। इसी प्रकार अगर यह कहा जा रहा है कि अपने स्वरूप मैं रमण कर तब उसका अर्थ है बाहर से हट-कर अपने मे रमण कर। यह भी बिना कहे हमारे ज्ञान मे आनी चाहिए यही अनुयोगो के कथन की सापेक्षता है। चरणानुयोग बाहरी साधन सामग्री का वर्णन करता है और अध्यात्म अन्तरग साधन सामग्री का वर्णन कर रहा है। जैन शासन का पूरा स्वरूप वही बनता है जहा अध्यात्म और चरणानु-योग की एकता बनती है। दोनो को अलग-अलग करने से दोनो ही कार्यकारी नही रहते। एक द्रव्य दृष्टि का एकान्त बन जाएगा और दूसरा पर्याय दृष्टि का एकान्त हो जाएगा।

चरणानुयोग मे पर्याय दृष्टि की मुख्यता से वर्णन है पर्यायदृष्टि मे ग्रहण भी है और त्याग भी है। इसलिए पर्याय दृष्टि से जब उपदेश दिया जाता है तब त्याग का उपदेश दिया जाता है। कुछ लोग चरणानुयोग के कथन को द्रव्यदृष्टि की मुख्यता करके यह कह देते हैं कि मैं ग्रहण त्याग से शून्य हूँ। तब व्रतादि धारण करना-मुनिव्रत धारण करना---यह उपदेश सब निरर्थक हो जाता है। चरणानुयोग का कथन पर्यायदृष्टि से करना चाहिए जहाँ ग्रहण है वही उसके त्याग का उपदेश है। और वह ग्रहण त्याग बुद्धि पूर्वक किया जाता है।

शुभ भाव दो प्रकार के हैं एक दयारूप परिणाम-गरीबो की, दुखी लोगो की देख-भाल करना, दानादि करना—लोगो का उपकारादि करना। दूसरा सच्चेदेव शास्त्र गुरू के आश्रित होते हैं उनके प्रति भक्ति का होना, उनके गुणो का चिन्तवन करना आदि। यह दूसरे प्रकार का शुभोपयोग मात्र वन्ध का ही कारण नही है यह अपने स्वभाव की प्राप्ति मे बाहरी साधन भी है। सच्चे देव शास्त्र गुरू को माध्यम बनाकर हम अपने स्वभाव के निकटवर्ती हो सकते हैं—स्वभाव की प्राप्ति का उपाय कर सकते हैं। व्रत-उपवासादी के द्वारा कषाय को मन्द करके स्वभाव की प्राप्ति का या उसमे ठहराव का उपाय कर सकते है। जो लोग शुभोपयोग को मोक्ष का कारण मानकर अथवा इसी को धर्म मानकर इसमे लगे हुए थे उनको यह बध का कारण है धर्म नही है, धर्म तो वीतराग भाव है। ऐसा कहकर वीतराग भाव मे लगाने का उपाय किया। जो लोग बध का कारण मानकर अशुभोपयोग के समान इसको हेय समझ कर अपने स्वभाव की प्राप्ति का उपाय नही कर रहे थे उनको स्वभाव की प्राप्ति का साधन बताकर उसको माध्यम बनाने का उपदेश दिया। यह व्यवहार धर्म है। इसकी व्याख्या पडितवर टोडरमल जी ने की है कि यह धर्म नही है परन्तु धर्म का बाहरी साधन है इसलिए साधन मे साध्य का उपचार करके इसको व्यवहार (उपचार) से धर्म कहा है इसी को धर्म न मानना परन्तु धर्म का बाहरी साधन मानना।

प्रश्न होता है कि जो बध का कारण है वह साधन कैसे हो सकता है। इसका उत्तर है कि एडवरटाइजमेन्ट का खर्चा यद्यपि खर्चा है उतना रुपया नफे मे से कम हो जाता है परन्तु एडवरटाइजमेन्ट का खर्चा, खर्चा होते हुये भी नफा का बाहरी साधन है। अगर कोई एडवरटाइजमेन्ट तो बहुत करे और माल बेचने का पुरुषार्थ न करे तो नुकसान ही होगा। परन्तु जो एडवरटाइज करके दुकान खोल कर माल बेचने का पुरुषार्थ करे तो नफा हो। इसी प्रकार शुभोपयोग मे बन्ध होता है यह सही है जितने अश मे राग है उतना बध जरूर होगा। परन्तु जब तक शुद्धोपयोग की प्राप्ति न हो तब तक तीव्र कषाय से बचने के लिए और मद कषाय मे रहकर शुद्धोपयोग की प्राप्ति का उपाय करते रहना जरूरी है। इससे स्वरूप की पुष्टि होती है। पुण्य बध तो गौण फल है मुख्य तो स्वभाव की पुष्टि करना—वीतरागता के प्रति—तत्व ज्ञान के प्रति तीव्र रुचि का होना इसका मुख्य फल है। इसीलिये आचार्यो ने इसका विधान किया और व्यवहार धर्म के नाम से कहा है। इसलिए इसको बध का कारण कहने के साथ साधनपने की दृष्टि बनाना भी जरूरी है। साधनपना भी उसी के लिए है जो स्वरूप की प्राप्ति के लिए अथवा स्वरूप मे ठहरने के लिये इनको माध्यम बनाता है। जो कोई अन्य अभिप्राय से—मान बडाई अथवा पुण्य बध का माध्यम बनाता है उसके लिए स्वरूप की प्राप्ति का माध्यम या साधन नही बनता है। यह भी हमारे पर ही निर्भर है।

श्री समयसार मे आचार्यों ने इसको हस्तालबन नाम दिया है। जैसे बच्चे को पहले गाडुला का अवलम्बन दिया जाता है और जब उसके अवलम्बन से चलना आ जाता है तो उस गाडुले का अवलबन छुटाया जाता है इसीप्रकार व्यवहार का अवलम्बन दिलाया भी गया है और व्यवहार का अवलबन छुटाया भी गया है। कोई मात्र व्यवहार का अबलम्बन छुटाया गया है यह मानकर व्यवहार का अवलम्बन नही लेता है-जैसे गाडुले का अवलम्बन नही लेता है उसकी तरह उसको निरालम्बन चलना नही आ सकता। जबकि व्यवहार हजारो विकल्पो को तुडवाकर एक विकल्प को पकडवाता है तब अध्यात्म एक को छुडाकर स्वभाव मे लगाता है। ससार शरीर भोगो का विकल्प बहुत गहरा होता है उससे हटाकर तत्व के विकल्प मे लगाया और वहाँ से हटाकर स्वभाव मे लगाया। विकल्प तो दोनो

ही हैं परन्तु दोनो के अन्तर को समझना भी जरूरी है। पण्डितवर टोडरमल जी ने यह लिखा है कि अशुभ विकल्प से बचकर शुभभाव हो तो खुश भी होना है पर उसको कम घाटा समझता है ज्यादा घाटा से बचने की खुशी भी है परन्तु उसको नफा नही मानता।

श्री समयसार मे प० जयचन्द जी पाचवे कलस का भावार्थ लिखते हुए और कलस १११ का पुण्य-पाप अधिकार मे भावार्थ लिखते हुये खुलासा किया है और सच्चे देव शास्त्र गुरू के आश्रित शुभ भावो को साधनपने की दृष्टि से मजूर किया है।

कहने का अभिप्राय यही है कि चरणानुयोग को मात्र बन्ध का कारण कहने से लोगो की चरनुयोग के प्रति श्रद्धा ही खत्म हो गई है व्रतादि धारण करे अथवा न करे परन्तु व्रतादि के प्रति हमारी श्रद्धा नही रहनी चाहिए। लोग आचरण से रहित तो पहले ही हो रहे हैं ऐसा उपदेश मिलने पर आचरण के प्रति श्रद्धा भी नही रहेगी—करेले की बेल नीम पर चढ जायेगी। ऐसा ही होता मालूम दे रहा है।

पहली सीढी पर आकर दूसरी सीढी पर चढ़ने का उपाय करे उसके लिये पहली सीढी साधन है परन्तु जो दूसरी सीढी पर चढने का उपाय न करे और पहली पर ही सन्तुष्ट हो जाये अथवा ऐसा माने कि पहली पर आने से दूसरी पर अपने आप पहुच जाऊँगा ऐसा मानना मिथ्या है।

प्रवचन सार मे चरणानुयोग चूलिका मे गाथा २०१ की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द स्वामी लिखते है। अहोअनशनावमोदर्य स्वाध्यायध्यानव्युत्सर्गलक्षणतपआचार, न शुद्धस्यात्मत्वममीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वा तावदासीदामि यावत् त्वत्प्रसादात् न शुद्धस्यात्मानमुपलभे इत्यादि—इसका अर्थ है अहो अनशन, अवमोदर्य—स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग स्वरूप तपाचार। मै यह निश्चय से जानता हूँ कि तू शुद्धात्मा का नही है तथापि तुझे तब तक अगीकार करता हूँ जब तक तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लू। यहाँ पर दो शब्द विचारने योग्य है तू "शुद्धात्मा का नही है" इससे बध का कारण साबित किया है और "तेरे प्रसाद से" इस शब्द के द्वारा साधनपना स्वीकार किया। क्या तत्त्व विचार करने से व्रत उपवास करने से अथवा जिन पूजन-भक्ति करने से ससार शरीर भोगो की पुष्टि होती है अथवा अपने शुद्धात्मा के स्वभाव की पुष्टि होती है? अगर पुण्य बन्ध की पुष्टि होती है तब आश्रय लेने योग्य नही। अगर स्वभाव की, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की पुष्टि होती है तो उसका नीचे के गुण स्थानो मे यथायोग्य अवलम्बन लेना जरूरी है।

जीव वर्तमान मे पराधीन हो रहा है उसको स्वाधीन होना है यह पर्याय दृष्टि की बात है। शरीर के आधीन है गर्मी-सर्दी के आधीन है बार बार चाय चाहिए, कपडा चाहिए, खाने को चाहिये यह सब पराधीनता है उस पराधीनता को क्रम से हटाया गया है। और स्वाधीनता की तरफ त्याग मार्ग के द्वारा लगाया गया है। एक गृहस्थ से एक ब्रह्मचारी ज्यादा स्वाधीन है और उससे एक मुनी और ज्यादा स्वाधीन है। जिसको कोई चीज की जरूरत नही है। इस प्रकार चरणानुयोग के द्वारा पराधीनता क्रम से दूर करके इसको स्वाधीनता की तरफ ले जाया जाता है।

पाप का त्याग तो हर हालत मे करना चाहिए चाहे सम्यग्दृष्टि हो या मिथ्यादृष्टि जिनको भेद विज्ञान नही हुआ है वे भी व्रतादि धारण कर सकते हैं। परन्तु उनको यह मानना चाहिए कि व्रतादि धारण करने से मैं मोक्षमार्गी हो गया ऐसा नही है परन्तु मोक्षमार्ग तो सम्यग्दर्शन होने पर ही होगा। ऐसा जीव अगर मुनिपना धारण किए हुए है तो पहले से सीधा सतवाँ गुणस्थान हो सकता है।

इसलिये जहाँ शुभराग को बन्ध का कारण कहा जा रहा है वहा उसके साधनपने का कथन करना भी जरूरी है।

यह ग्रन्थ लाटी-संहिता राजमल कवि की रचना है। राजमल जी ने पचाध्यायी नाम का ग्रन्थ बनाया जो अपने ढम का अद्वितीय ग्रन्थ है। वह पूरा नही हो सका। जिस प्रकार पचाध्यायी मे हरेक बात न्याय युक्ति से सिद्ध करके बताई गई है उसी प्रकार इस ग्रन्थ मे भी सम्यग्दर्शन के विषय को न्याय युक्ति से सिद्ध करके समझाया गया है इसके बाद ११ प्रतिमा रूप श्रावक के आचरण का वर्णन है वह भी न्याय युक्ति से सिद्ध करके बताया है।

स्वाध्याय प्रेमियो के लिए यह ग्रन्थ बहुत जरूरी है। यह छपा हुआ उपलब्ध नही हो रहा था। इसलिये शास्त्र सभा मे बैठने वालो की, खासकर वयोवृद्ध श्री अजीत प्रसाद जी की प्रेरणा से इसको छपवाने का निश्चय किया गया है। श्री अजीत प्रसाद जी स्वाध्याय प्रेमी हैं। जबसे मैं दिल्ली आया १९७० से बराबर शास्त्र स्वाध्याय मे बैठते हैं। इसके लिए शास्त्र सभा के बैठने वाले भाई बहन और खासकर अजित प्रसाद जी धन्यवाद के पात्र हैं। श्री अजीत प्रसाद जी ने इसके छपवाने मे बडी मेहनत करी है तथा सब भाई बहनो ने इसके छपवाने मे सहयोग दिया है।

सभी भाई-बहनो से अनुरोध है कि इस ग्रन्थ का स्वाध्याय बराबर करे और चरणानुयोग के अनुसार अपने आचरण को सही बनाने की चेष्टा करे।

सन्मति बिहार,
२/१० अन्सारी रोड, दरियागज
नई दिल्ली-११०००२

—बाबूलाल जैन

विषय-सूची

जो मुनिराज जिनलिंग अथवा निर्ग्रन्थ अवस्था को धारण करने वाले हैं, जो अत्यन्त सज्जन हैं शुभोपयोग वा शुद्धोपयोग मे लीन रहते है और जो विशेषकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को सदा पालन करते हैं ऐसे मुनियो की त्रयी को अर्थात् आचार्य उपाध्याय सर्व साधुओ को मैं नमस्कार करता हूँ ॥४॥

यहा तक ग्रन्थकर्ता ने अनुक्रम से अरहत सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु इन पाँचो परमेष्ठियो को नमस्कार किया तथा अरहन्तो मे भी सबसे पहले श्रीमहावीर स्वामी को नमस्कार किया इसका कारण यह है कि यह वर्तमान समय श्रीमहावीर स्वामी का शासन समय है इसलिए श्रीमहावीर स्वामी अन्य तीर्थकरो के समान ही पूज्य होने पर भी शासनकर्ता होने से अधिक पूज्य हैं अथवा इस वर्तमान समय मे श्रीमहावीरस्वामी की दिव्यध्वनि ही परम्परा से मोक्षमार्ग का प्रकाश कर रही है और उसी से हम लोगो का वा समस्त भव्य जीवो का उपकार हो रहा है इसलिए भी भगवान महावीरस्वामी केवल उपकारदृष्टि से हम लोगो के लिए अधिक पूज्य हैं। कविवर ने सबसे पहले श्रीमहावीर स्वामी को नमस्कार किया है और फिर अन्य तीर्थंकरो को नमस्कार किया है। यहा पर इतना और समझ लेना चाहिए कि यद्यपि अरहन्त अवस्था तीर्थंकर केवली और सामान्य केवली दोनो की एक सी होती है तथापि देव के स्वरूप मे जो सर्वज्ञ वीतराग और हितोपदेशी ये तीन गुण बतलाए हैं उनमे से हितोपदेशी गुण तीर्थंकर केवली मे नियमरूप से होता है तथा सामान्य केवली मे इसके होने का कोई नियमित नियम नही है क्योकि सामान्य केवलियो मे कोई अन्तकृत केवली भी (उसी समय केवल ज्ञान और उसी समय मोक्ष जिन्हे प्राप्त हो उनको अन्तकृतकेवली कहते हैं) होते और कोई मूक केवली भी (जिनकी दिव्य ध्वनि खिरती ही नही) होते हैं। अन्तकृत केवलियो की भी दिव्य ध्वनि खिरती नही और मूक केवलियो की भी दिव्य ध्वनि खिरती नही। तथा देव के स्वरूप मे हितोपदेशी गुण मुख्य है क्योकि भव्य जीवो को मोक्षमार्ग मे लगाने वाला तथा कल्याण करने वाला हितोपदेशी गुण ही है। इस हितोपदेशी गुण के ही कारण अरहन्त भगवान सिद्धो से भी प्रथम पूज्य माने जाते हैं इसलिए देव के स्वरूप मे अरहन्त परमेष्ठी शब्द से तीर्थंकर केवली ही लिये जाते है और इसीलिए कविवर ने उनको ही नमस्कार किया है ॥ ४ ॥ जिस प्रकार सूर्य की किरणो से बडा भारी अन्धकार भी दूर हो जाता है उसी प्रकार जिन कवियो वा कवियो की जिस वाणी ने इस ससार के प्राणियो का अज्ञान दूर कर दिया और जो धर्ममार्ग के उपदेश की प्रवृत्ति करने वाले है ऐसे जैन धर्म की वृद्धि करने वाले कवियो की वाणी सदा जयशील हो ॥ ५ ॥ इस प्रकार पच परमेष्ठी की श्रेष्ठ मागलिक स्तुति करते हुए तथा श्रीमहावीर स्वामी के समय मे गुरु परम्परापूर्वक चली आई श्रावको के अणुव्रत आदि उत्तम व्रतो की स्थिति को अच्छी तरह अध्ययन करने वाले कविराज राजमल्ल उन्ही उत्तम व्रतो के स्वरूप को कहने वाली 'लाटी-सहिता' नाम के ग्रन्थ को बनाने की प्रतिज्ञा करते है ॥६॥



लाटीसंहिता

प्रथम सर्ग

अहिंसा परमो धर्म स्यादधर्मस्तदत्ययात् । सिद्धान्त सर्वतन्त्रोऽयं तद्विशेषोऽधुनोच्यते ॥१
सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते । यो मृषादिपरित्याग सोऽस्तु तस्यैव विस्तर ॥२
तद्व्रत सर्वत कर्तुं मुनिरेव क्षमो महान् । तस्यैव मोक्षमार्गश्च भावो नान्यस्य जातुचित् ॥३
अतः सर्वात्मना सम्यक् कर्तव्य नहि धीधनै । कृच्छ्रलब्धे नरत्वेऽस्मिन् तृणबिन्दूदकोपमे ॥४
तत्रालसो जन कश्चित्कषायभरगौरवात् । असमर्थस्तथाप्येव गृहस्थव्रतमाचरेत् ॥५

उक्तं च—

गुण वय तव सम पडिमा दाण च जलगालणं अणत्थमियं । दसणणाणचरित्त किरिया तेवण्ण सावयाण च ॥१

तथा चोक्तम्—

दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य । बम्भारम्भ परिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदो य २

इस ससारमे अहिंसा ही परम धर्म है और उस अहिंसा धर्मका उल्लघन करना या विनाश करना ही अधर्म है। यह सिद्धान्त सर्वतन्त्र है—अर्थात् सर्वसिद्धान्त-सम्मत है। अब आगे इसी अहिंसा धर्मका विशेष वर्णन करते हैं ॥१॥ पाप सहित समस्त योगोका त्याग करना व्रत कहलाता है तथा झूठ बोलनेका त्याग करना, चोरीका त्याग करना, आदि अलग-अलग पापोका त्याग करना बतलाया है वह सब उसी व्रतका विस्तार समझना चाहिए ॥२॥ उन व्रतका पूर्ण रीतिसे पालन करनेके लिए मुनिराज ही समर्थ होते हैं और इसीलिए उन मुनिराजोको ही मोक्षमार्गकी प्राप्ति होती है ॥३॥ जिस प्रकार कमल पत्रपर जलकी बूँदका ठहरना अत्यन्त कठिन है उसी प्रकार इस मनुष्य जन्मका प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। इसलिए ऐसे दुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकर पापरूप योगोका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥४॥ कदाचित् तीव्र कषायोके उदयसे कोई मनुष्य उन व्रतोको पूर्णरूपसे पालन करनेमे आलस्य करे अथवा असमर्थ हो तो उसे एक-देशरूप गृहस्थोका व्रत अवश्य पालन करना चाहिए ॥५॥

कहा भी है—आठ मूलगुण, बारह व्रत, बारह प्रकारका तप, एक समता, ग्यारह प्रतिमा, चार प्रकारका दान, एक पानी छानकर काममे लाना, एक रात्रिभोजनका त्याग करना और रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनो रत्नोको धारण करना ये तिरेपन श्रावकोकी क्रिया कहलाती हैं ॥१॥ग्रन्थकारोने श्रावकोके व्रत इस प्रकार भी कहे हैं—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध (प्रोषधोपवास), सचित्त त्याग, रात्रिभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ त्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतत्याग, और उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिमाओको पालन करनेवाला देश-विरत श्रावक कहलाता है ॥२॥

अष्टमूलगुणोपेतो द्यूतादिव्यसनोज्झित । नरो दर्शनिक प्रोक्त स्याच्चेत्सद्दर्शनान्वित ॥६
मद्य मांस तथा क्षौद्रमथोदुम्बरपञ्चकम् । वर्जयेच्छ्रावको धीमान् केवलं कुलधर्मवित् ॥७
ननु साक्षान्मकारादित्रय जैनो न भक्षयेत् । तस्य किं वर्जनं न स्यादसिद्ध सिद्धसाधनात् ॥८
नैव यस्मादतीचारा सन्ति तत्रापि केचन । अनाचारसमा. नून त्याज्या धर्माथिभि स्फुटम् ॥९
तद्भेदा बहव सन्ति मादृशां वागगोचरा । तथापि व्यवहारार्थ निर्दिष्टा केचिदन्वयात् ॥१०
चर्मभाण्डे तु निक्षिप्ता घृततैलजलादय । त्याज्या यतस्त्रसादीनां शरीरपिशिताश्रिता ॥११
न चाशङ्क्यं पुनस्तत्र सन्ति यद्वा न सन्ति ते । संशयोऽनुपलब्धित्वाद् दुर्वारो व्योमचित्रवत् ॥१२
सर्वं सर्वज्ञज्ञानेन दृष्ट विश्वैकचक्षुषा । तदाज्ञया प्रमाणेन माननीय मनीषिभि ॥१३
सौक्ष्म्यमेतावता पाप स्याद्वा न स्यादतीन्द्रियात् । अहो मांसाशिनोऽवश्य प्रोक्त जैनागमे यत ॥१४
तदेवं वक्ष्यमाणेषु सूत्रेषूदितसूत्रवत् । संशयो नैव कर्तव्य शासन जैनमिच्छता ॥१५

जो जीव सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला हो और फिर वह यदि आठो मूलगुणोको धारण कर ले तथा जुआ, चोरी आदि साता व्यसनोका त्याग कर दे तो वह दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता है ॥६॥ केवल अपने कुलधर्मको जाननेवाले बुद्धिमान् श्रावकको मद्य, मास, शहद और पाँचो उदुम्बरोका त्याग कर देना चाहिए ॥७॥ कदाचित् यहाँपर कोई यह शका करे कि कोई भी जैनी मद्य मास शहदको साक्षात् भक्षण नही करता, इसलिए क्या जैनी मात्रके उनका त्याग नहीं हुआ ? अवश्य हुआ । इसलिए सिद्ध साधन होनेसे आपके त्याग करानेका उपदेश असिद्ध है । परन्तु यह बात नही है क्योकि यद्यपि जैनी इनका साक्षात् भक्षण नही करते हैं, तथापि उनके कितने ही अतिचार हैं और वे अतिचार अनाचारोके समान हैं इसलिए धर्मात्मा जीवोको उन अतिचारोंका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए ॥८-९॥ उन अतिचारोके बहुत-से भेद हैं जो मेरे समान पुरुषसे कहे भी नही जा सकते तथापि केवल व्यवहारके लिए गुरुओकी आम्नायपूर्वक चले आये कुछ भेद कहे जाते हैं ॥१०॥ चमडेके बर्तनमे रक्खे हुए घी तेल पानी आदिका त्याग कर देना चाहिए क्योकि चमडेके बर्तनमे रखे घी तेल आदिमे त्रस जीवोके शरीरके मांसके आश्रित रहनेवाले जीव अवश्य रहते हैं ॥११॥ चमडेके बर्तनमे रक्खे हुए तेल घी जल आदिमे जिस पशुका वह चमडा है उस पशुके मामके आश्रित रहनेवाले जीव हैं या नही ऐसी शका भी नही करनी चाहिए । यहाँपर कदाचित् यहाँ कोई यह कहे कि जिस प्रकार पूर्ण आकाशका चित्र दिखाई नही पडता इसलिए वह कोई पदाथ नही है इसी प्रकार चमडेके बर्तनमे रक्खे हुए तेल घी आदिमें जिस पशुका वह चमडा है उस पशुके मासके आश्रित रहनेवाले जीव दिखाई नही पडते इसलिए उसमे जीव हैं या नही इस शकाका दूर होना अत्यन्त कठिन है ॥१२॥ परन्तु इसका उत्तर यह है कि भगवान् अरहन्तदेवने अपने सर्वज्ञ ज्ञानसे समस्त सूक्ष्म पदार्थ भी प्रत्यक्ष देख और जान लिए हैं और गुरु परम्परापूर्वक उनके उपदेशके अनुसार आचार्योंने वैसा ही शास्त्रोमे निरूपण किया है इसलिए बुद्धिमानोको भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मानकर प्रमाणरूपसे सब मान लेना चाहिए ॥१३॥ जो जीव इन्द्रियगोचर नही होते ऐसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय जीवोके भक्षण करनेसे पाप होता है या नही ऐसी शका भी नही करनी चाहिए । क्योकि मासभक्षण करनेवालोको पाप अवश्य होता है ऐसा जैन शास्त्रोमे स्पष्टरूपसे बतलाया है ॥१४॥ इसलिए सर्वज्ञ वीतराग भगवान् अरहन्तदेवके कहे हुए जैन शासनको धारण करनेकी इच्छा करनेवालोको जो सूत्र पहले कहा

अन्नं मुद्गादि शुण्ठ्यादि भेषजं शर्करादि वा । खाद्यं स्वाद्यं तु भोगार्थं ताम्बूलादि यथागमात् ॥१६
पेयं दुग्धादि लेपस्तु तैलाभ्यङ्गादि कर्म यत् । चतुर्विधमिदं यावदाहार इति संज्ञित' ॥१७
अथाहारकृते द्रव्य शुद्धशोधितमाहरेत् । अन्यथामिषदोष स्यात्तदनेकत्र साधितात् ॥१८
विद्धं त्रसाश्रित यावद्वर्जयेत्तदभक्ष्यवत् । शतश शोधित चापि सावधानैर्दृगादिभि ॥१९
सन्दिग्धं च यदन्नादि श्रित वा नाश्रित त्रसै । मन शुद्धिप्रसिद्ध्यर्थं श्रावक. क्वापि नाहरेत् ॥२०
अविद्धमपि निर्दोष योग्य चानाश्रित त्रसै । आचरेच्छ्रावक सम्यग्दृष्ट नादृष्टमीक्षणै ॥२१
ननु शुद्धं यदन्नादि कृत शोधनयानया । नैव प्रमाददोषत्वात्कल्मषस्यास्रवो भवेत् ॥२२
गालितं दृढवस्त्रेण सर्पिस्तैल पयो द्रवम् । तोयं जिनागमाम्नायादाहरेत्स न चान्यथा ॥२३
अन्यथा दोष एव स्यान्मांसातीचारसंज्ञक. । अस्ति तत्र त्रसादीनां मृतस्याङ्गस्य शेषता ॥२४

गया है और जो सूत्र आगे कहे जायेगे उनमे कभी सशय नही करना चाहिए ॥१५॥ मूंग, मोठ, चना, गेहूँ, जौ, आदि अन्न कहलाता है। सोठ, मिरच, पीपल आदि औषधियाँ कहलाती हैं। मिश्री, बूरा, लड्डू, पेडा, बरफी आदि खाद्य पदार्थ कहलाते हैं। भोगोके लिए आगमानुकूल ताम्बूल आदि पदार्थ स्वाद्य कहलाते हैं। दूध, पानी आदि पदार्थ पेय कहे जाते हैं और तेल मर्दन करना, उबटन लगाना आदि लेप कहे जाते हैं। ये सब पदार्थ चार प्रकारके आहारके नामसे प्रसिद्ध हैं ॥१६-१७॥ इनको आहाररूपमे ग्रहण करनेके लिये शुद्ध पदार्थोंको ग्रहण करना चाहिए, अशुद्ध पदार्थ कभी ग्रहण नही करना चाहिए। तथा जो शुद्ध पदार्थ भी ग्रहण किये जायें वे भी शोधकर ग्रहण करने चाहिए। यदि वे पदार्थ विना शोधे हुए ग्रहण किये जायेंगे तो उनके भक्षण करनेमे मास खानेका दोष लगेगा क्योकि इन खाने-पीनेके पदार्थोंमे प्राय त्रस जीवोंके रहनेकी या आ जानेकी सम्भावना रहती है। यदि विना शोधे हुए पदार्थ खाये जायेंगे तो उनमे आये हुए वा उनमे रहनेवाले वा उत्पन्न होनेवाले जीवोके मारे जानेका पाप लगेगा और विना शोधे पदार्थोंके साथ वे जीव भी भक्षणमे आ जायेगे इसलिए उनके मास खानेका भी महापाप लगेगा। इसलिए खानेके समस्त पदार्थोंको देख-शोधकर ही ग्रहण करना चाहिए। खानेके पदार्थोंको विना शोधे ग्रहण करना मास त्यागका दूसरा अतिचार है ॥१८॥ घुने हुए व बीधे हुए अन्नमें भी अनेक त्रस जीव होते है। यदि सावधान होकर नेत्रोके द्वारा सैकडो बार देखा व शोधा जाय तो भी घुने हुए अन्नमेसे सब त्रस जीवोका निकल जाना असम्भव है इसलिए सावधानीके साथ सैकडो बार शोधा या देखा हुआ भी घुना या बीधा अन्न अभक्ष्यके समान त्याग कर देना चाहिए ॥१९॥ जिन अन्न आदि पदार्थोंमे त्रस जीवोके रहनेका सन्देह हो और 'इसमे त्रस जीव हैं या नही हैं' इस बातका सन्देह बना ही रहे तो भी श्रावकको मन शुद्ध रखनेके लिए ऐसे पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिए ॥२०॥ जो अन्न आदि पदार्थ घुने हुए नही हैं, जिनमे कोई किसी प्रकारका दोष नही है और जो त्रस जीवोसे सर्वथा रहित हैं ऐसे पदार्थ नेत्रोंसे अच्छी तरह देख-शोधकर खाने आदिके काममे लेने चाहिए विना अच्छी तरह देखे-शाधे योग्य निर्दोष पदार्थ भी काममे नही लेने चाहिये ॥२१॥ शंका—जो अन्नादिक पदार्थ ऊपर लिखी विधिसे अच्छी तरह शोधकर शुद्ध कर लिये गये हैं उनके ग्रहण करनेमे प्रमादरूप दोषोसे उत्पन्न हुए पापोका आस्रव कभी नही हो सकेगा ॥२२॥ घी, तेल, दूध, पानी आदि पतले पदार्थोंको जैनशास्त्रोमे कही हुई विधिसे मजबूत गाढे वस्त्रमे छानकर ही खानेके काममें लाना चाहिए, पतले पदार्थोंको विना छाने कभी काममे नही लाना चाहिए ॥ ३॥ इसका भी कारण यह है कि विना छने घी तेल आदि पदार्थोंमे त्रस जीवोंके मरे

दुरवधानतया मोहात्प्रमादाद्वापि शोधितम् । दु शोधितं तदेव स्याद् ज्ञेयं चाशोधितं यथा ॥२५
तस्मात्सद्व्रतरक्षार्थं पलदोषनिवृत्तये । आत्मदृग्भि स्वहस्तैश्च सम्यगन्नादि शोधयेत् ॥२६
यथात्मार्थं सुवर्णादिक्रयार्थी सम्यगीक्षयेत् । व्रतवानपि गृह्णीयादाहारं सुनिरीक्षितम् ॥२७
सधर्मेणानभिज्ञेन साभिज्ञेन विधर्मिणा । शोधितं पाचितं चापि नाहरेद् व्रतरक्षक ॥२८
ननु केनापि स्वीयेन सधर्मेण विधर्मिणा । शोधितं पाचितं भोज्यं सुज्ञेन स्पष्टचक्षुषा ॥२९
नैवं यथोदितस्योच्चैर्विश्वासो व्रतहानये । अनार्यस्याप्यनार्द्रस्य संयमे नाधिकारिता ॥३०
चलितत्वात्सीम्नश्चैव नूनं भावि व्रतक्षते । शैथिल्याद्धीयमानस्य संयमस्य कुत स्थिति ॥३१
शोधितस्य चिरात्तस्य न कुर्याद् ग्रहणं कृती । कालस्यातिक्रमाद्भूयो दृष्टिपूतं समाचरेत् ॥३२

हुए शरीरके अवयव अवश्य रहते हैं। इसलिए विना छने घी तेल आदि पदार्थ ग्रहण करनेमे मास त्यागका अतिचार अवश्य लगता है। अतएव घी तेल आदि पदार्थोंको भी अच्छे मजबूत दोहरे बडे छन्नेमे छानकर ही काममे लाना चाहिए ॥२४॥ जो अन्नादिक पदार्थ मनकी असावधानीसे शोधे गये हैं, या होश हवाश रहित अवस्थामे शोधे गये हैं अथवा प्रमादपूर्वक शोधे गये हैं ऐसे शोधे हुए पदार्थ भी दु शोधित (अच्छी तरह नही शोधे हुए) कहलाते हैं और ऐसे दु शोधित पदार्थ विना शोधे हुएके समान ही गिने जाते हैं ॥२५॥ इसलिए श्रेष्ठ व्रतोकी रक्षा करनेके लिए और मास भक्षणके दोषोका त्याग करनेके लिए श्रावकोको अन्न आदि पदार्थ अपने ही नेत्रोसे और अपने ही हाथोसे शोध लेना चाहिए फिर काममे लाना चाहिए ॥२६॥ जिस प्रकार अपने लिए सोना खरीदनेवाला पुरुष उस सोनेको बहुत अच्छी तरह देखकर खरीदता है उसी प्रकार व्रती श्रावकको भी बहुत अच्छी तरह देख-शोधकर आहार ग्रहण करना चाहिए ॥२७॥

जो आहार शोधने या शुद्धता पूर्वक भोजन तैयार करनेकी विधिको न जाननेवाले साधर्मी द्वारा शोधा हुआ है या ऐसे ही अजानकार साधर्मीके द्वारा पकाकर तैयार किया हुआ है अथवा जो शोधने या शुद्धतापूर्वक विधिको जाननेवाले विधर्मी द्वारा शोधा हुआ है या ऐसे ही जानकार विधर्मीके द्वारा पकाकर तैयार किया हुआ है ऐसा भोजन भी अपने व्रतोकी रक्षा करनेवाले श्रावकोको कभी नही ग्रहण करना चाहिये ॥२८॥ कदाचित् यहाँपर कोई यह शका करे कि जो मनुष्य शोधने या शुद्धता पूर्वक भोजन तैयार करनेकी विधिको जानता है और शोधने आदि कामो के लिये जिसके नेत्र निर्मल हैं, जिसके नेत्रोमे कोई दोष नही है, जिसके नेत्रोकी ज्योति मन्द नही है ऐसे मनुष्यके द्वारा शोधा हुआ और पकाया हुआ भोजन ग्रहण कर लेना चाहिये वह मनुष्य अपना साधर्मी हो और चाहे विधर्मी हो। अर्थात् भोजन शुद्धतापूर्वक तैयार किया हुआ होना चाहिये चाहे वह साधर्मी द्वारा तैयार किया हुआ हो और चाहे वह विधर्मी द्वारा तैयार किया हुआ हो। भोजन तैयार करने या शोधनेमे साधर्मी या विधर्मीकी क्या आवश्यकता है? परन्तु यह बात नही है। क्योकि जो आहारको शोधने और शुद्धतापूर्वक तैयार करनेकी विधिको जाननेवाला विधर्मी हो इन दोनो प्रकारके मनुष्योपर दृढ विश्वास किया जायेगा तो व्रतोमे हानि अवश्य होगी। तथा इसका भी कारण यह है कि जो पुरुष अनार्य है अथवा निर्दय है उसको सयमके काम मे सयमकी रक्षा करनेमे कोई अधिकार नही है ॥२९–३०॥ यदि व्रती मनुष्य अपनी सीमा या मर्यादासे चलायमान हो जायेगा तो आगे होनेवाले उसके व्रतोमे अवश्य ही हानि पहुँचेगी तथा यदि वह सयम इसी प्रकार शिथिलता पूर्वक घटता जायगा तो फिर भला उसकी स्थिरता किस प्रकार रह सकेगी? ॥३१॥ जिन अन्न आदि पदार्थोंको शोधे हुए कई दिन हो गये हैं ऐसे पदार्थ

केवलेनाग्निना पक्वं मिश्रितेन घृतेन वा । उषितान्नं न भुञ्जीत पिशिताशनदोषवित् ॥३३
तत्रातिकालमात्रत्वे परिणामगुणात्तथा । सम्मूर्छन्ते त्रसा. सूक्ष्मा ज्ञेया सर्वविदाज्ञया ॥३४
शाकपत्राणि सर्वाणि नादेयानि कदाचन । श्रावकैर्मांसदोषस्य वर्जनार्थं प्रयत्नतः ॥३५
तत्रावश्यं त्रसा सूक्ष्मा केचित्स्युर्दृष्टिगोचरा । न त्यजन्ति कदाचित्तं शाकपत्राश्रयं मनाक् ॥३६
तस्माद्धर्माथिना नूनमात्मनो हितमिच्छता । आताम्बूलं दलं त्याज्यं श्रावकैर्दर्शनान्वितैः ॥३७
रजन्यां भोजनं त्याज्यं नैष्ठिकैर्व्रतधारिभि । पिशिताशनदोषस्य त्यागाय महदुद्यमै ॥३८
ननु रात्रिभुक्तित्यागो नात्रोद्देश्यस्त्वया क्वचित् । षष्ठसञ्ज्ञकविख्यातप्रतिमायामास्ते यत ॥३९
सत्यं सर्वात्मना तत्र निशाभोजनवर्जनम् । हेतो किन्त्वत्र दिग्मात्रं सिद्धं स्वानुभवागमात् ॥४०
अस्ति कश्चिद्विशेषोऽत्र स्वल्पाभासोऽर्थतो महान् । सातिचारोऽत्र दिग्मात्रे तत्रातीचारवर्जिता ॥४१

भी व्रती श्रावकोको ग्रहण नही करना चाहिये । जिन पदार्थोंको शोध लेनेपर भी बहुत सा काल बीत गया है, मर्यादासे अधिक काल हो गया है उनको फिर अपने नेत्रोसे देख-शोधकर ग्रहण करना चाहिये ॥३२॥ जो रोटी, दाल आदि पदार्थ केवल अग्निपर पकाये हुए हैं अथवा पूडी कचौरी आदि गरम घीमे पकाये हुए हैं अथवा परामठे आदि पदार्थ घी और अग्नि दोनोंके संयोग से पकाये हुए है ऐसे सब प्रकारके पदार्थ मास-भक्षणके दोषोको जाननेवाले श्रावकोंको दूसरे दिन बासी नही खाना चाहिये ॥३३॥ इसका भी कारण यह है कि बासी भोजनमे मर्यादासे बाहर काल बीत जाता है इसलिये उनमे इस प्रकारका परिणमन होता है जिससे कि उनमे सूक्ष्म और सम्मूर्च्छन ऐसे त्रस जीव उत्पन्न हो जाते हैं जो इन्द्रियोसे दिखाई नहीं पड़ सकते, ऐसे सूक्ष्म त्रस जीव केवल सर्वज्ञदेवके द्वारा प्रतिपादन किये हुए शास्त्रोसे ही जाने जा सकते हैं ॥३४॥ श्रावकोको प्रयत्न पूर्वक मासके दोषोका त्याग करनेके लिये सब तरहकी पत्तेवाली शाक भाजी भी कभी ग्रहण नही करना चाहिये अर्थात् मैथी, पालक, चनाकी शाक, बथुआ, चौराई आदि पत्तेवाले शाक भी नही खाने चाहिये ॥३५॥ क्योकि उस पत्तेवाले शाकमे सूक्ष्म त्रस जीव अवश्य होते हैं उनमेसे कितने ही जीव तो दृष्टिगोचर होते हैं, दिखाई पडते है और कितने ही दिखाई नही पडते, परन्तु वे जीव किसी समयमे भी उस पत्तेवाले शाकका आश्रय थोडा सा भी नही छोडते ॥३६॥ इसलिये अपने आत्माका कल्याण चाहनेवाले धर्मात्मा जीवोको पत्तेवाले सब शाक तथा पानतक छोड देना चाहिये और दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकोको विशेषकर इनकात्याग कर देना चाहिये ॥३७॥ व्रत धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकोको मास-भक्षणके दोषोकात्याग करनेके लिए बहुत बडे उद्यमके साथ रात्रिमे भोजन करनेका त्याग कर देना चाहिये ॥३८॥ कदाचित् कोई यहांपर यह शका करे कि आपको यहापर मूल गुणोके वर्णनम रात्रि-भोजनके त्यागका उपदेश नही देना चाहिये क्योकि रात्रि-भोजनका त्याग करनेवाली छठी प्रतिमा है । छठी प्रतिमाके वर्णन मे इसके त्यागका वर्णन करना चाहिये । इसके उत्तरम कहा है कि यह बात ठीक है परन्तु उसके साथ इतना और समझ लेना चाहिये कि छठो प्रतिमामे तो रात्रि भोजनका त्याग पूर्ण रूपसे है और यहाँपर मूल गुणोके वर्णनमे स्थूल रूपसे रात्रि भोजनका त्याग है । मूल गुणोमे स्थूल रूपसे भी रात्रि भोजनका त्याग करना अपने अनुभवसे भी सिद्ध है और आगमसे भी सिद्ध है ॥३९-४०॥ यहाँपर मूलगुणोके धारण करनेमे जो रात्रि भोजनका त्याग है उसमे कुछ विशेषता है । तथा वह विशेषता मालूम तो थोडी होती है किन्तु उसको अच्छी तरह समझ लेनेपर वह विशेषता बहुत बडी मालूम देती है । सामान्य रीतिसे वह विशेषता यह है कि मूलगुणोमे जो रात्रि भोजनका

निषिद्धमन्नमात्रादिस्थूलभोज्यं व्रते दृशः । न निषिद्धं जलाद्यत्र ताम्बूलाद्यपि वा निशि ॥४२
तत्र ताम्बूलतोयादि निषिद्धं यावदञ्जसा । प्राणान्तेऽपि न भोक्तव्यमौषधादि मनीषिणा ॥४३
न वाच्यं भोजयेदत्र कश्चिद्दर्शनिको निशि । अव्रतित्वादशक्यत्वात्पक्षमात्रात्सपाक्षिकः ॥४४
अस्ति तत्र कुलाचारः सैषा नाम्ना कुलक्रिया । तां विना दर्शनिको न स्यान्न स्यान्नामतस्तथा ॥४५
मांसमात्रपरित्यागादनस्तमितभोजनम् । व्रतं सर्वजघन्यं स्यात्तदधस्तात्स्यादक्रिया ॥४६
नेत्थं यः पाक्षिकः कश्चिद् व्रताभावादस्त्यव्रती । पक्षमात्रावलम्बी स्याद्व्रतमात्रं न चाचरेत् ॥४७
यतोऽस्य पक्षग्राहित्वमसिद्धं बाधसम्भवात् । लोपात्सर्वविदाज्ञाया साध्या पाक्षिकता कुतः ॥४८

त्याग है वह अतिचार सहित है। उसमे अतिचारोका त्याग शामिल नही है और छठी प्रतिमामे जो रात्रि भोजनका त्याग है वह अतिचार रहित है उसमे रात्रि भोजनके सब अतिचारोका त्याग है ॥४१॥ इस व्रतमे रात्रिमे केवल अन्नादिक स्थूल भोजनोका त्याग है इसमे पान जल तथा आदि शब्दसे औषधिका त्याग नही है ॥४२॥ तथा छठी प्रतिमामे पानी, पान, सुपारी, इलायची, औषधि आदि समस्त पदार्थोंका सर्वथा त्याग बतलाया है इसलिये छठी प्रतिमा धारण करनेवाले बुद्धिमान् मनुष्यको औषधि या जल आदि पदार्थ प्राणोके नाश होनेका समय आनेपर भी रात्रिमे कभी नही खाने चाहिये ॥४३॥ कदाचित् यहाँपर कोई यह शका करे कि दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाला (दर्शन प्रतिमामे भी मूलगुणोका धारण करनेवाला) अव्रती है—उसके कोई व्रत नही है इसलिये वह रात्रिमे अन्नादिक भोजनोका भी त्याग नही कर सकता—वह रात्रिमे अन्नादिक भोजन खा सकता है अथवा वह अभी अव्रती है इसलिए वह रात्रि भोजनके त्यागमे असमर्थ है—शक्ति रहित है इसलिए भी वह रात्रिमे अन्नादिक भोजन खा सकता है। अथवा वह पाक्षिक है—व्रतादिको के धारण करनेका केवल पक्ष रखता है। व्रतादिकोको धारण नही करता इसलिए भी वह रात्रि भोजनका त्याग नही कर सकता। परन्तु ऐसी शका करना ठीक नही है क्योकि इस दर्शन प्रतिमा मे अथवा दर्शन प्रतिमाके अन्तर्गत मूलगुणोके धारण करनेमे एक कुलाचार माना गया है—कुल परम्परासे चला आया जो आचरण उसे कुलाचार कहते हैं और उसी कुलाचारको कुलक्रिया भी कहते हैं। रात्रि-भोजनका त्याग करना इस पाक्षिक श्रावकका कुलाचार या कुलक्रिया है। इस कुलाचार या कुलक्रियाके बिना वह मनुष्य दर्शन प्रतिमाधारी अथवा पाक्षिक श्रावक नही हो सकता। और की तो क्या ? इस रात्रि भोजन त्यागरूप कुलक्रियाके बिना नाम मात्रसे भी वह पाक्षिक श्रावक नही हो सकता ॥४४–४५॥ जो मास मात्रका त्यागी है और रात्रि भोजन नही करता है वह सबसे जघन्य व्रती कहलाता है तथा उससे जो नीच है अर्थात् जिसके मास और रात्रि भोजनका भी त्याग नही है वहाँपर कोई भी क्रिया नही समझनी चाहिए ॥४६॥

कदाचित् कोई यह कहे कि पाक्षिक श्रावक किसी व्रतको पालन नही करता इसीलिए वह अव्रती है। वह तो व्रत धारण करनेको केवल पक्ष रखता है—किसी व्रतको पालन नही करता अतएव वह रात्रि भोजनका त्याग भी नही कर सकता। परन्तु शका करनेवालेकी यह शका करना ठीक नही है और इसका भी कारण यह है कि रात्रि भोजनका त्याग न करनेसे उसका पाक्षिकपना अथवा व्रतोके धारण करनेके पक्षको स्वीकार करना भी सिद्ध नही होता, क्योकि उसमे प्रत्यक्ष बाधा आ जाती है। जब रात्रि भोजनका त्याग करना कुलक्रिया है और उसके बिना दर्शन प्रतिमा या मूलगुण हो ही नही सकते फिर भला रात्रि भोजन करनेवालेके मूलगुणोका अथवा

आज्ञा सर्वविदः सैव क्रियावान् श्रावको मतः । कश्चित्सर्वनिकृष्टोऽपि न त्यजेत्स कुलक्रियाः ॥४९
उक्तेषु वक्ष्यमाणेषु दर्शनिकव्रतेषु च । सन्देहो नैव कर्तव्यः कर्तव्यो व्रतसंग्रहः ॥५०
प्रसिद्धं सर्वलोकेऽस्मिन् निशायां दीपसन्निधौ । पतङ्गादि पतत्येव प्राणिजातं त्रसात्मकम् ॥५१
म्रियन्ते जन्तवस्तत्र झञ्झापातात्समन्ततः । तत्कलेवरसम्मिश्रं तत्कुतः स्यादनामिषम् ॥५२
युक्तायुक्तविचारोऽपि नास्ति वा निशि भोजने । मक्षिका नेक्ष्यते सम्यक् का कथा मशकस्य तु ॥५३
तस्मात्संयमवृद्ध्यर्थं निशायां भोजनं त्यजेत् । शक्तितस्तच्चतुष्कं स्यादन्नाद्यन्यतमादि वा ॥५४
यत्रोषितं न भक्ष्यं स्यादन्नादि पलदोषतः । आसवारिष्टसन्धानाथानादीनां कथाऽत्र का ॥५५
रूपगन्धरसस्पर्शाच्चलितं नैव भक्षयेत् । अवश्यं त्रसजीवानां निकोतानां समाश्रयात् ॥५६

सम्यग्दर्शन धारण करनेका भी पक्ष किस प्रकार कहा जा सकता है ? दूसरी बात यह है कि यदि रात्रि भोजन त्यागरूप कुलक्रियाका पालन न किया जायगा तो फिर सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका लोप करना समझा जायगा। क्योंकि सर्वज्ञदेवने रात्रि भोजनका त्याग कुलाचारमे बतलाया है और बिना इस कुलाचारके सम्यग्दर्शन हो नही सकता इसलिए रात्रि भोजनका त्याग न करना कुलाचारका पालन नही करना है और कुलाचारका पालन न करना सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका लोप करना है तथा जब सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका लोप ही हो जायगा तो फिर उसका पाक्षिकपना भी किस प्रकार ठहर सकेगा ॥४७-४८॥ क्योकि भगवान् सर्वज्ञदेवकी यही आज्ञा है कि जो क्रियावान् है—कुलक्रियाका पालन करता है वही श्रावक माना जाता है। जो सबसे निकृष्ट श्रावक है उसको भी अपनी कुलक्रियायें कभी नही छोडनी चाहिये। अतएव मास त्याग करनेवाले पाक्षिक श्रावकको रात्रि भोजनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥४९॥ बहुत कहाँतक कहा जाय इस दर्शन प्रतिमाके वर्णनमे जो कुछ पहले कह चुके हैं और जो कुछ आगे कहेंगे उसमे किसी प्रकारका सन्देह नही करना चाहिए। सभी सन्देहोको छोडकर केवल व्रतोका संग्रह करना चाहिए ॥५०॥ यह बात समस्त ससारमे प्रसिद्ध है कि रात्रिमे दीपकके सहारे पतगा आदि अनेक त्रस जीवोका समुदाय आ जाता है ॥५१॥ वह त्रस जीवोका समुदाय जरा सी हवाका झकोरा लगने मात्रसे ही अपने देखते-देखते मर जाता है तथा उनका कलेवर उड-उडकर सब भोजनमे मिल जाता है। (कुछ जीव तो जीवित ही भोजनमे पडकर मर जाते हैं और फिर वे उसमेसे अलग नही किये जा सकते तथा कुछ मरे हुए भी उड-उडकर भोजनमे मिल जाते हैं।) ऐसी हालतमे रात्रि भोजनके त्याग न करनेवालोके मासका त्याग कैसे हो सकता है ? ॥५२॥ दूसरी बात यह है कि रात्रिमे भोजन करनेमे योग्य और अयोग्यका विचार भी नही रहता है। अरे जहाँपर अच्छी तरह मक्खी भी दिखाई न पडे फिर भला उस रात्रिमे मच्छर आदि छोटे जीव तो किस प्रकार दिखाई दे सकते हैं ? ॥५३॥ इसलिए सयमकी वृद्धिके लिए रात्रि भोजनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। यदि अपनी शक्ति हो तो चारो प्रकारके आहारका त्याग कर देना चाहिए। यदि अपनी इतनी शक्ति न हो तो अन्न पानादिक चारो प्रकारके आहारोमेसे अन्न आदि किसी एक प्रकारके अथवा दो प्रकारके या तीन प्रकारके आहारोका त्याग कर देना चाहिए ॥५४॥ जहाँपर मास भक्षणके दोषसे बासी भोजनके (एक या दो दिन पहले बनाये हुए भोजनके) भक्षण करनेका भी त्याग है वहाँपर आसव अरिष्ट संघाम अथाना आदिकी तो बात ही क्या है ॥५५॥ इसी प्रकार जो पदार्थ रूप, रस, गन्ध, स्पर्शसे चलायमान हो जाते हैं, जिनका रूप बिगड जाता है, रस बिगड जाता है—चलित हो जाता है, गन्ध बदल जाती है, स्पर्श बिगड जाता है ऐसे चलित पदार्थोंको भी कभी

दधितक्ररसादीनां भक्षणं वक्ष्यमाणतः । कालादर्वाक् ततस्तूर्ध्वं न भक्ष्यं तदभक्ष्यवत् ॥५७
इत्येवं पलदोषस्य दिग्मात्रं लक्षणं स्मृतम् । फलितं भक्षणादस्य वक्ष्यामि शृणुताधुना ॥५८
सिद्धान्ते सिद्धमेवैतत् सर्वतः सर्वदेहिनाम् । मांसांशस्याशनादेव भावः सक्लेशितो भवेत् ॥५९
न कदाचित् मृदुत्वं स्यात्तज्जीवानां व्रतधारणे । द्रव्यतो कर्मरूपस्य तच्छक्तेरनतिक्रमात् ॥६०
अनाद्यनिधना नूनमचिन्त्या वस्तुशक्तय । न प्रतर्क्या कुतर्कैर्यत् स्वभावोऽतर्कगोचर ॥६१
अयस्कान्तोपलाकृष्टसूचीवत्तद्द्वयो पृथक् । अस्ति शक्तिर्विभावाख्या मिथो बन्धाधिकारिणी ॥६२
न वाच्यमकिञ्चित्करं वस्तु बाह्यमकारणम् । धत्तूरादिविकाराणामिन्द्रियार्थेषु दर्शनात् ॥६३

उक्तं च—

यद्वस्तुबाह्यं गुणदोषसूतेर्निमित्तमभ्यन्तरमूलहेतो ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥३

नहीं खाना चाहिए। क्योकि ऐसे पदार्थोंमे अनेक त्रस जीवोकी और निगोद राशिकी उत्पत्ति अवश्य हो जाती है ॥५६॥ दूध, दही, छाछ आदि रसोका भक्षण उनके कहे हुए नियमित समयके पहले-पहले कर लेना चाहिए, अर्थात् जितनी उनकी मर्यादा कही है वही तक उनको खाना चाहिये। उस मर्यादाके बाहर अभक्ष्य पदार्थोंके समान उसे कभी नही खाना चाहिये। अर्थात् दूध, दही आदिकी जितनी मर्यादा है उसके बीत जानेपर वे अभक्ष्य हो जाते हैं फिर उनका भक्षण कभी नही करना चाहिए ॥५७॥ इस प्रकार मासके दोषोका थोडा सा वर्णन किया है। अब आगे मांस खानेसे क्या फल मिलता है उसको बतलाते हैं सो सुनो ॥५८॥ सिद्धान्तशास्त्रोमे यह बात सिद्ध है कि मासका एक अशमात्र भी भक्षण करनेसे समस्त जीवोके भाव सब ओरसे सक्लेशरूप हो जाते हैं ॥५९॥ क्रूर और सक्लेश परिणाम होनेके कारण उन परिणामोमे फिर व्रत धारण करने योग्य कोमलता कभी नही रह सकती तथा उन परिणामोमे तीव्र कमरूप शक्तिक बनने-का उल्लंघन कभी नही होता है ॥६०॥ कदाचित् यहाँपर कोइ यह शका करे कि मासमे ऐसी क्या बात है जो उसके भक्षण करनेसे परिणामोंमे सदा सक्लेशता बनी रहती है? सो इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक पदार्थकी शक्तियाँ अचिन्त्य हैं और वे अनादिकालसे चली आ रही हैं और अनन्तकालतक बराबर बनी रहेंगी। इसमे किसी भी कुतर्कीको किसी भी प्रकारका कुतक नही करना चाहिए क्योकि जो जिसका स्वभाव है उसमे किसीका तर्क चल नही सकता ॥६१॥ अथवा जिस प्रकार चुम्बक पत्थर और सुई दोनो अलग अलग पदार्थ हैं परन्तु दोनोके मिलनेसे एक ऐसी विभावरूप शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिसमे कि चुम्बक सुइको अपनी ओर खीच लेता है अथवा सुई चुम्बककी ओर खिचकर चली जाती है। उसी प्रकार जीव अलग पदार्थ है और मास अलग पदार्थ है परन्तु जीवमे एक वैभाविक नामको ऐसी शक्ति है जो उस जीवके साथ मासका सयोग होनेपर (मास भक्षण कर लेनेपर) तीव्र बन्धका कारण होती है ॥६२॥ कदाचित् यहाँपर कोई यह शंका करे कि शुभ अशुभ बन्ध करनेवाले परिणाम जीवके ही होते हैं उसमे बाह्य वस्तु कोई कारण नही है बाह्य पदार्थ तो अकिंचित्कर हैं वे कुछ नही कर सकते, परन्तु यह शका करना ठीक नही है। क्योकि धतूरा आदि खा लेनेसे जीवकी इन्द्रियोमे विकार हो ही जाता है ॥६३॥

कहा भी है—गुण दोषोके उत्पन्न होनेमे जो बाह्य पदार्थ निमित्त कारण पडते हैं वे आभ्यन्तर मूल कारणके होनेसे ही निमित्त कारण होते हैं अर्थात् आभ्यन्तर कारण मुख्य कारण

एवं मांसाशनाद्भावोऽवश्यं संक्लेशितो भवेत् । तस्मादसातबन्धः स्यात्ततो भ्रान्तिस्ततोऽसुखम् ॥६४
एतदुक्तं परिज्ञाय श्रद्धाय च मुहुर्मुहुः । ततो विरमणं कार्यं श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ॥६५
मद्यं त्यक्तवतस्तस्य वक्ष्यतीचारवर्जनम् । यत्त्यागेन भवेच्छुद्धः श्रावको जात्यस्वर्णवत् ॥६६
हृषीकज्ञानयुक्तस्य मादनान्मद्यमुच्यते । ज्ञानावृत्तिहेतुत्वात्स्यात्तदघकारणम् ॥६७
भङ्गाहिफेनधत्तूरखसखसादिफलं च यत् । माद्यताहेतुरन्यद्वा सर्वं मद्यवदीरितम् ॥६८
एवमित्यादि यद्वस्तु सुरेव मदकारकम् । तन्निखिलं त्यजेद्धीमान् श्रेयसे ह्यात्मनो गृही ॥६९
दोषत्वं प्राग्मतिभ्रंशस्ततो मिथ्यावबोधनम् । रागादयस्ततः कर्म ततो जन्मेह क्लेशता ॥७०
दिङ्मात्रमत्र व्याख्यातं तावन्मात्रैकहेतुत । व्याख्यास्यामः पुरो व्यासात्तद्व्रतावसरे वयम् ॥७१

है और बाह्य पदार्थ गौण कारण है। तथा कहीं-कहींपर केवल अन्तरंग कारणसे ही कार्यकी सिद्धि हो जाती है। अतएव आत्मा जो आत्मामे लीन होता है उसका कारण केवल अन्तरंग कारण होता है। उसके लिए बाह्य कारणकी आवश्यकता नहीं पडती ॥३॥

इस प्रकार मास भक्षण करनेसे इस जीवके परिणाम संक्लेश रूप अवश्य होते हैं तथा सक्लेश परिणाम होनेसे असाता वेदनीयका बन्ध होता है। असाता वेदनीयका बन्ध होनेसे संसारमे परिभ्रमण होता है और संसारमे परिभ्रमण होनेसे दु ख उत्पन्न होता है। इस प्रकार मांस भक्षण करना अनन्त कालतक अनन्त दु खोका कारण है ॥६४॥ इस प्रकार ऊपर जो कुछ मांस भक्षणके दोष बतलाये हैं उनको जानकर और उनपर बार बार श्रद्धान कर धर्मका स्वरूप जाननेवाले श्रावकोको उन अतिचारोका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥६५॥ अब आगे जिसने मद्यका त्याग कर दिया उसके लिए उसके अतिचार छोडनेका उपदेश देते हैं। जिस प्रकार कीट-कालिमाके हटा देनेसे सुवर्ण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार मद्यके अतिचारोका त्याग कर देनेसे श्रावक अत्यन्त शुद्ध हो जाता है ॥६६॥ जिन अल्पज्ञानी जीवोके इन्द्रियजन्य ज्ञान है वे जीव मद्यपान करनेसे उन्मत्त रूप हो जाते हैं अर्थात् मद्यपान (नशीली चीजोका खाना पीना) इन्द्रियोको धारण करनेवाले ससारी जीवोको उन्मत्तताका कारण है इसीलिए वह मद्य कहलाता है तथा मद्यपान करनेसे ज्ञानावरण दर्शनावरण आदि अशुभ कर्मोका बन्ध होता है इसलिए वह पापका कारण है ॥६७॥ भाँग, अहिफेन (अफीम), धतूरा, खसखसके दाने आदि (चर्स, गाँजा) जो जो पदार्थ नशा उत्पन्न करनेवाले हैं वे सब मद्यके समान ही कहे जाते हैं ॥६८॥ ये सब पदार्थ तथा इनके समान और ऐसे पदार्थ जो कि मद्यके समान मद्य या नशा उत्पन्न करनेवाले हैं वे सब पदार्थ अपनी आत्माका कल्याण करनेके लिए बुद्धिमान् गृहस्थको छोड देना चाहिए ॥६९॥ इस मद्यके सेवन करनेसे तथा भाँग, धतूरा, खसखस आदि मद्य त्यागके अतिचार रूप नशीले पदार्थोके सेवन करनेसे पहले तो बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, फिर मिथ्या ज्ञान होता है, माता बहिन आदिको भी स्त्री समझने लगता है तथा इस प्रकारका मिथ्या ज्ञान होनेसे फिर रागादिक उत्पन्न होते हैं, रागादिक उत्पन्न होनेसे फिर व्यभिचार सेवन, अभक्ष्य भक्षण या अन्य अन्याय रूप क्रियायें उत्पन्न होने लगती हैं तथा व्यभिचार सेवन या अभक्ष्य भक्षण करनेसे इस संसारका जन्म-मरण रूप परिभ्रमण बढ़ता है और जन्म-मरण रूप परिभ्रमण बढ़नेसे इस जीवको सदा संक्लेश या दु ख उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए नशीली सब चीजोका त्याग कर देना ही इस जीवके लिए कल्याणकारी और सुख देनेवाला है ॥७०॥ इस प्रकार जो जो पदार्थ केवल नशा उत्पन्न करनेवाले हैं ऐसे भाँग,

माक्षिकं मक्षिकानां हि मांसासृक्पीडनोद्भवम् । प्रसिद्धं सर्वलोके स्यादागमेष्वपि सूचितम् ॥७२
न्यायात्तद्भक्षणे नूनं पिशिताशनदूषणम् । त्रसास्ता मक्षिका यस्मादामिष तत्कलेवरम् ॥७३

किञ्च तत्र निकोतादिजीवा संसर्गजा क्षणात् ।
संमूर्च्छिमा न मुञ्चन्ति तत्सङ्ग जातु क्रव्यवत् ॥७४

यथा पक्वं च शुष्कं वा पलं शुद्धं न जातुचित् । प्रासुक न भवेत् क्वापि नित्य साधारण यत ॥७५
अयमर्थो यथान्नादि कारणात्प्रासुक भवेत् । शुष्क वाप्यग्निपक्वं वा प्रासुक न तथामिषम् ॥७६
प्राग्वदत्राप्यतीचारा सन्ति केचिज्जिनागमात् । यथा पुष्परस पीत पुष्पाणामासवो यथा ॥७७
उदुम्बरफलान्येव नादेयानि दृगात्मभि । नित्य साधारणान्येव त्रसाङ्गैराश्रितानि च ॥७८
अत्रोदुम्बरशब्दस्तु नूनं स्यादुपलक्षणम् । तेन साधारणास्त्याज्या ये वनस्पतिकायिका ॥७९

धतूरा आदि मद्यके थोडे-से ही अतिचारोका वर्णन यहाँपर किया है । इनका विस्तृत वर्णन हम आगे व्रतोका निरूपण करते समय करेंगे ॥७१॥ शहदकी प्राप्ति मक्खियोके मास रक्त आदिके निचोडने से होती है । यह बात समस्त ससारमे प्रसिद्ध है तथा शास्त्रोमे भी यही बात बतलाई है ॥७२॥ इस प्रकार न्यायसे भी यह बात सिद्ध हो जाती है कि शहदके खानेमे मास भक्षणका दोष आता है क्योकि मक्खियाँ त्रस जीव हैं और शहद उनका कलेवर है । जो त्रस जीवोका कलेवर होता है वह सब मांस कहलाता है । शहद भी मक्खियोका कलेवर है इसलिए वह भी मास ही है अतएव शहदका खाना मांस खानेके समान है ॥७३॥ इसके सिवाय एक बात यह भी है कि जिस प्रकार मांसमें सूक्ष्म निगोदराशि सदा उत्पन्न होती रहती है उसी प्रकार शहदमे भी रक्त मासके सम्बन्ध से सदा सूक्ष्म निगोदराशि उत्पन्न होती रहती है । शहद किसी भी अवस्थामे क्यो न हो उसमे सदा जीव उत्पन्न होते रहते हैं । उन जीवोसे रहित शहद कभी भी नही रहता ॥७४॥ मास चाहे कच्चा हो, चाहे पका हुआ, चाहे पक रहा हो और चाहे सूखा हो वह कभी शुद्ध नही हो सकता । इसका भी कारण यह है कि वह सदा साधारण रहता है । उसमे हर अवस्थामे अनन्तकाय रूप निगोदराशि उत्पन्न होती रहती है । इसलिए मास किसी भी अवस्थामे क्यो न हो वह कभी प्रासुक नहीं हो सकता ॥७५॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार गेहूँ जौ आदि अन्न अपने अपने कारण मिलनेसे प्रासुक हो जाते हैं अर्थात् भून लेनेसे, पका लेनेसे, कूट लेनेसे, पीस लेनेसे गेहूँ जौ आदि अन्न प्रासुक हो जाते हैं उसी प्रकार मास चाहे सूखा हो चाहे अग्निपर पकाया हुआ हो किसी भी अवस्थामे क्यो न हो, वह कभी प्रासुक नही हो सकता ॥७६॥ जिस प्रकार पहले शराब और मासके अतिचार कह चुके है उसी प्रकार इस शहदके अतिचार भी जैन शास्त्रोमें वर्णन किये हैं । जैसे पुष्पोका रस पोना अथवा फूलोका बना हुआ आसव खाना आदि सब शहद त्याग व्रतके अतिचार हैं । गुलकन्दका खाना भी इसी दोषमे समझ लेना चाहिए ॥७७॥ इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीवोको उदुम्बर फल भी नही खाना चाहिए, क्योकि उदुम्बर फल साधारण हैं, अनन्तानन्त निगोदराशिके स्थान है तथा अनेक त्रस जीवोसे भरे हुए है । भावार्थ—बड का फल, गूलर, पीपलका फल, अजीर और पाकर इनको उदुम्बर फल कहते है । इनके पेडोमेसे सफेद दूध सा निकलता है इसलिए इनको क्षीरी फल भी कहते हैं । बड, पीपर, गूलरमे हजारो जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं तथा अजीरमे भी सूक्ष्म जीव रहते ही हैं, अजीर गूलर जैसा ही फल है उसमे सूक्ष्म जीवोका होना स्वाभाविक है । इसलिए सम्यग्दृष्टिको इन सबका त्याग कर देना अत्यावश्यक है ॥७८॥ यहाँपर जो उदुम्बर शब्द कहा है । वह उपलक्षण रूप है । जिस प्रकार उदुम्बर

उक्तं च—

मूलग्गपोरबीजा साहा तह खंधकंदबीजरुहा । सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥४
साहारणमाहारं साहारणमाणपाणगहणं च । साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥५
जत्थेक्क मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं । चंकमइ जत्थ इक्को चकमणं तत्थ णंताणं ॥६

साधारण है, अनन्त कायात्मक है उसी प्रकार जितने वनस्पति साधारण या अनन्त कायात्मक हैं उन सबका त्याग कर देना चाहिए, तथा जिन जिन पदार्थोंमे त्रस जीव रहते हो या रहनेकी सम्भावना हो उन सबका भी त्याग कर देना चाहिए। अनन्त कायात्मक अथवा साधारण वनस्पति कौन कौन सी हैं इन सबका खुलासा इस प्रकार है ॥७९॥

कहा है—जिनका मूल या जड़ ही बीज हो ऐसे हल्दी अदरख आदिको मूलजीव कहते हैं। जिनका अग्र भाग ही बीज हो जो ऊपरकी डाली काटकर लगा देनेसे लग जाय ऐसे मेहदी आदिको अग्रबीज कहते हैं। जिनका पर्व या गाँठ ही बीज हो ऐसे गन्ना आदिको पर्वबीज कहते हैं। कन्द ही जिनका बीज हो ऐसे सूरण, पिंडालु आदिको कन्दबीज कहते हैं। जिनका स्कन्ध ही बीज हो ऐसे ढाक आदिको स्कन्धबीज कहते हैं। जो बीजसे उत्पन्न हों ऐसे गेहूँ, जौ आदिको बीजरुह कहते हैं तथा जो मूल अग्रबीज आदि निश्चित बीजोके बिना अपने आप उत्पन्न हो उनको सम्मूर्च्छन कहते हैं। जैसे घास आदि। ये सब प्रत्येक वनस्पति कहलाते हैं। जिन वनस्पतियोमे अनन्त निगोद जीवोके शरीर हो उनको अनन्तकाय या सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं तथा जिन वनस्पतियोमे अनन्तकाय शरीर न हो उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। इस प्रकार सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर तथा अप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर दोनो ही प्रकारके जीव सम्मूर्च्छन समझने चाहिए ॥४॥ ये निगोदके जीव साधारण नामा नामकर्मकी प्रकृतिके उदयसे साधारण कहलाते हैं। साधारणका अर्थ सब जीवोके एक साथ होना है। उस निगोद पिंडमे अनन्तानन्त जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं, उन सबकी आहार पर्याप्ति साथ-साथ होती है और वह पहले समयमे होती है। आहार वर्गणारूप पुद्गलकन्धोको खल (हड्डी आदि कठिन भाग रूप), रस (रक्त आदि नरम भाग रूप) भागरूप परिणमानेकी शक्तिको आहार पर्याप्ति कहते हैं। यह आहार पर्याप्ति भी सब जीवोकी साथ साथ उत्पन्न होती है तथा उन्ही आहार वर्गणारूप पुद्गल स्कन्धोको शरीरके आकार परिणमानेकी शक्तिको शरीर पर्याप्ति कहते हैं। यह शरीर पर्याप्ति भी सबकी साथ साथ होती है तथा उन्ही पुद्गलस्कन्धोको स्पर्शन इन्द्रियके आकार रूप परिणमानेकी शक्तिको इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं। यह इन्द्रिय पर्याप्ति भी उन जीवोकी एक साथ होती है तथा श्वासोच्छ्वासरूप आणप्राण पर्याप्ति भी उन सब जीवोकी साथ-साथ होती है। पहले समयमे एक निगोद शरीरमे अनन्तानन्त जीव उत्पन्न हुए थे। फिर दूसरे समयमे अनन्तानन्त जीव आकर और उत्पन्न हो जाते हैं फिर तीसरे समयमे भी अनन्तानन्त जीव और आकर उत्पन्न हो जाते हैं। नये नये जो जीव आकर उत्पन्न होते जाते हैं वे जिस प्रकार आहार आदि पर्याप्तियोको धारण करते हैं उनके ही साथ पहलेके समस्त जीव आहारादि पर्याप्तियोको धारण करते हैं। इन सब जीवोका आहारादिक सब एक साथ होता है इसलिए इनको साधारण कहते हैं ॥५॥

एक निगोद शरीरमे जिस समय एक जीव अपनी आयुके नाश होनेपर मरता है उसी समय मे जिनकी आयु समान हो ऐसे अनन्तानन्त जीव एक साथ मर जाते हैं। तथा जिस समयमे एक जीव उत्पन्न होता है उसी समयमे समान स्थितिके धारक अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते हैं। इ

मूलबीजा यथा प्रोक्ता फलकाद्यार्द्रकादय । न भक्ष्या दैवयोगाद्वा रोगिणाप्यौषधच्छलात् ॥८०
तद्भक्षणे महापापं प्राणिसन्दोहपीडनात् । सर्वज्ञाज्ञाबलादेतद्दर्शनीय दृगङ्गिभि ॥८१
ननु केनानुमीयेत हेतुना पक्षधर्मता । प्रत्यक्षानुपलब्धित्वाज्जीवाभावोऽवधार्यते ॥८२
नैवं प्रागेव प्रोक्तत्वात्स्वभावोऽतर्कगोचर । तेन सर्वविदाज्ञाया स्वीकर्तव्य यथोदितम् ॥८३

प्रकार जन्म-मरण जिन जीवोंका एक साथ साधारण हो उनको साधारण जीव कहते हैं। इसी प्रकार दूसरे समयमें जो अनन्त जीव उत्पन्न हुए थे वे भी साथ ही मरते हैं। इस प्रकार एक निगोद शरीरमें एक-एक समयमे अनन्तानन्त जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं और एक साथ हो मरते है और वह निगोद शरीर ज्योंका त्यो बना रहता है। उस निगोद शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति असंख्यात कोडाकोडी सागर है। इतने समय तक उसमे प्रत्येक समयमे अनन्तानत जीव उत्पन्न होते रहते हैं और अनन्तानन्त जीव प्रत्येक समयमे मरते रहते हैं। इतना विशेष है कि जिस निगोदमे पर्याप्त उत्पन्न होते हैं उसमे पर्याप्त ही उत्पन्न होते है अपर्याप्त नही। तथा जिसमे अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं उसमे अपर्याप्त हो उत्पन्न होते है उसमे पर्याप्त उत्पन्न नही हो सकते। क्योंकि उनके समान कर्मका उदय होता है ॥६॥

ऊपर जो मूली, अदरख, आलू आदि मूलबीज, अग्रबीज, पोरबीज आदि अनन्तकायात्मक साधारण बतलाये हैं उन्हे कभी नही खाना चाहिए। यदि कोई रोगी हो और उस औषधिरूपमे इन साधारण वनस्पतियोका सेवन करना पडे तो भी उसे इन साधारण वनस्पतियोका भक्षण नहीं करना चाहिये ॥८०॥ इसका भी कारण यह है कि इन साधारण वनस्पतियोके भक्षण करनेम अनन्तानन्त जीवोका घात होता है अथवा यो कहना चाहिये कि अनन्तानन्त जीवोसे भरे हुए अनन्त पिडोका नाश होता है। इसलिये इनके भक्षण करनेमे महापाप होता है। इस महापापका विचार भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अनुसार सम्यग्दृष्टियोको अवश्य करना चाहिये ॥८१॥ कदाचित् यहाँपर कोई यह शका करे कि इस पक्ष धर्मका अनुमान किस हेतुसे करना चाहिए, अर्थात् आलू, अदरक आदि मूलबीज या अन्य साधारण वनस्पतियोमे अनन्तानन्त जीव है यह बात किस प्रकार मान लेनी चाहिये। क्योकि उनमे चलते फिरते जीव प्रत्यक्ष तो दिखाई देते ही नहीं हैं। इसलिये प्रत्यक्षमे तो उन साधारण वनस्पतियोम जीवोका अभाव ही दिखाया पडता है और इसलिये उनमे कोई जीव नही है और जीव न होनेसे उनके भक्षण करनेमे कोई पाप नही है ऐसा ही निश्चय करना पडता है। परन्तु ऐसी शका करनेवालके लिये कहते है कि यह बात नहीं है। हम यह बात पहले कह चुके है कि प्रत्येक पदार्थका जो अलग-अलग स्वभाव है उसमे किसी प्रकारका तर्क वितर्क नही चल सकता। गिलोय कडवी होती है और गन्ना मीठा होता है यह उन दोनोका स्वभाव है। इसमे कोई यह नही पूछ सकता कि गन्ना मीठा क्यो होता है अथवा गिलोय कडवी ही क्यो होती है। जिस पदार्थका जैसा स्वभाव होता है वह वैसा ही रहता है। इसी प्रकार आलू अदरक आदि कन्दमूलोका या अन्य साधारण वनस्पतियोका यही स्वभाव है कि उनमे प्रत्येक समयमे अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते रहते है और मरते रहते है तथा जैसा उनका स्वभाव है वैसा ही उन्होने बतलाया है। यद्यपि आलू अदरक आदि कन्दमूलोमे या अन्य साधारण वनस्पतियोमे जीव दिखाई नही पडते हैं क्योकि वे अत्यन्त सूक्ष्म है परन्तु सर्वज्ञदेवने उनमे अनन्तानन्त जीव राशि बतलायी है इसलिये भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मानकर कन्दमूल या साधारण वनस्पतियोके भक्षण करनेका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥८२-८३॥

नन्वस्तु तत्तथाज्ञाया प्रष्टुमीहामहे परम् । यदेकाक्षशरीराणां भक्ष्यत्वं प्रोक्तमर्हता ॥८४
सत्यं बहुवधाभावाद् भक्ष्यत्वं प्रोक्तमर्हता । कुतश्चित्कारणाद्येव नोल्लङ्घ्यं जिनशासनम् ॥८५
एवं चेत्तत्र जीवास्ते कियन्तो वद कोविद । हेतोर्यैरत्र सर्वज्ञैरभक्ष्यत्वमुदीरितम् ॥८६
घनाङ्गुलासंख्यभागमात्रैकं तद्वपु स्मृतम् । तत्रैकस्मिन् शरीरे स्यु प्राणिनोऽनन्तसंमिता ॥८७

उक्तञ्च—

एयणिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥७
इदमेवात्र तात्पर्यं तावन्मात्रावगाहके । केचिन्मिथोऽवगाहा स्युरेकीभावाविवापरे ॥८८

प्रश्न—सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मान लेना ठीक है इसमे किसीको कुछ कहना नहीं है परन्तु इसमे इतना और पूछ लेना चाहते हैं कि भगवान् अरहन्तदेवने ही तो एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरको भक्ष्य या खाने योग्य बतलाया है। फिर आप अनन्तकाय वनस्पतियोंके भक्षण करनेका निषेध क्यों करते हैं वे भी तो एकेन्द्रिय जीव हैं ॥८४॥ उत्तर—यह ठीक है कि सर्वज्ञदेवने दो इन्द्रिय आदि जीवोंके शरीरके भक्षण करनेका निषेध किया है क्योंकि दो इन्द्रिय आदि जीवोंके शरीरकी मास संज्ञा है तथा एकेन्द्रिय जीवोंके शरीरकी मांस संज्ञा नही है इसीलिये सर्वज्ञदेवने एकेन्द्रिय जीवोंके प्रासुक शरीरको भक्षण करनेका निषेध नहीं किया है तथापि उन्होने (अरहन्तदेवने) अनन्तकायिक वनस्पतियोके भक्षण करनेका निषेध किया ही है क्योकि अनन्तकायिक वनस्पतियोंके भक्षण करनेमे अनेक जीवोका घात होता है। इसलिये किसी भी कारणसे भगवान् अरहन्तदेवकी आज्ञाका उल्लघन नही करना चाहिये ॥८५॥ प्रश्न—यदि यही बात है अर्थात् साधारण वनस्पतियो-के भक्षण करनेमे उनके जीवोका वध होता है तो विद्वानोको बतलाया चाहिए कि उसमे कितने जीव रहते हैं जिस कारणसे कि भगवान् अरहन्तदेवने उनको अभक्ष्य बतलाता है ॥८६॥ उत्तर—साधारण जीवोका शरीर घनागुलके असख्यातवें भाग प्रमाण होता है। अर्थात् साधारण जीवोका शरीर इतना सूक्ष्म होता है कि वह देखनेमे आ नही सकता, किन्तु उसको अनुमानसे जाननेके लिये एक अगुल लम्बे एक अगुल चौडे और एक अगुल ऊँचे क्षेत्रके यदि असख्यात भाग किये जायें तो उनमेसे एक भाग प्रमाण साधारण जीवोका होता है उतने छोटे अत्यन्त सूक्ष्म शरीरमें अनन्तानन्त जीव रहते है ॥८७॥

कहा भी है—एक निगोद शरीरमे अनन्तानन्त जीव हैं। उनकी अनन्तानन्त संख्या सिद्ध राशिसे अनन्तगुणी है तथा अबतक जितने सिद्ध हुए हैं उन सबकी सख्यासे भी अनन्तगुणी है ॥७॥

कदाचित् कोई यह प्रश्न करे कि इतने अत्यन्त सूक्ष्म एक शरीरमे उतने ही बडे शरीरको धारण करनेवाले अन्य अनन्तानन्त जीव उसमे किस प्रकार रह सकते हैं तो इसका उत्तर यह है कि सूक्ष्म पदार्थ जगह नही रोकता है। जगह रोकनेंकी शक्ति स्थूल पदार्थोंमे ही है। चाँदनी धूप प्रकाश अन्धकार आदि ऐसे बहुत-से स्थूल सूक्ष्म पदार्थ भी हैं जो जगह नही रोकते हैं फिर भला अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ तो जगह रोक ही किस प्रकार सकता है ? उन निगोदिया जीवोका शरीर भी अत्यन्त सूक्ष्म होता है इसलिये उसी एक शरीरमे उतने ही अवगाहको धारण करने-वाले अन्य शरोर भी समा जाते हैं और सब मिलकर एकरूप हो जाते हैं। इसीलिए आचार्योंने बतलाया है कि अत्यन्त सूक्ष्म एक निगोदियाके शरीरमे उतने ही बडे शरीरको धारण करनेवाले अनन्तानन्त जीव रहते हैं ॥८८॥

उक्तं च—

जम्बूदीवे भरहे कोसल साकेय तग्घरायं च। खंधंडर आवासा पुलवि सरीराणि दिट्ठंता ॥८
एतन्मत्वाऽर्हता प्रोक्तमाजवञ्जवभीरुणा। कन्दादिभक्षणत्यागे कर्तव्या सुमति सती ॥८९
एवमन्यदपि त्याज्यं यत्साधारणलक्षणम्। त्रसाश्रितं विशेषेण तद्वियुक्तस्य का कथा ॥९०
साधारणं च केषांचिन्मूलं स्कन्धस्तथागमात्। शाखा पत्राणि पुष्पाणि पर्वदुग्धफलानि च ॥९१
तत्र व्यस्तानि केषांचित्समस्तान्यत्र देहिनाम्। पापमूलानि सर्वाणि ज्ञात्वा सम्यक् परित्यजेत् ॥९२
मूलसाधारणास्तत्र मूलकाद्र्रककादयः। महापापप्रदाः सर्वे मूलोन्मूल्या गृहिव्रतैः ॥९३
स्कन्धपत्रपयः पर्व तुर्यसाधारणा यथा। गण्डीरकस्तथा चार्कदुग्धं साधारणं मतम् ॥९४

कहा भी है—जिस प्रकार जम्बूद्वीपमे भरतक्षेत्र है, भरतक्षेत्रमे कौशल आदि देश है, कौशल आदि देशोमें साकेत आदि नगर हैं और उन नगरोमे घर हैं उसी प्रकार इस लोकाकाशमे स्कन्धोकी संख्या असख्यात लोक प्रमाण है। प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवोके शरीरोको स्कन्ध कहते हैं। लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उनको असख्यातसे गुणा कर देनेपर जो आवे उतनी सख्या उन स्कन्धोकी है तथा एक-एक स्कन्धमे असख्यात लोकप्रमाण अडर हैं। एक-एक अडरमे असख्यात लोकप्रमाण आवास हैं। एक एक आवासमे असख्यात लोकप्रमाण पुलवी हैं तथा एक एक पुलवीमे असख्यात लोकप्रमाण निगोद शरीर हैं और एक-एक निगोद शरीरमे अनन्तानन्त जीव हैं ॥८॥

यही समझकर भगवान् अरहन्तदेवने कहा है कि जिनको इस ससारके परिभ्रमणसे कुछ भी भय है उनको कन्दमूल आदिके त्याग करनेमे ही अपनी सम्यक् और उत्तम बुद्धि लगानी चाहिये ॥८९॥ श्रावकोको जिस प्रकार कन्दमूलका त्याग कर देना चाहिए उसी प्रकार और भी जो-जो साधारण हो उन सबका त्याग कर देना चाहिये तथा जिन पदार्थोंमे त्रस जीव रहते हो उनका विशेष रीतिसे त्याग करना चाहिये और जिनमे त्रसजीव भी रहते हो तथा जो साधारण भी हों, अनन्त जीवोका आश्रय भी हो ऐसे पदार्थोंकी तो बात ही क्या है ? अर्थात् ऐसे पदार्थोंका तो अवश्य ही त्याग कर देना चाहिये ॥९०॥ किसी वृक्षकी जड साधारण होती है, किसीका स्कन्ध साधारण होता है, किसीकी शाखाएँ साधारण होती है, किसीके पत्ते साधारण होते हैं, किसीके फूल साधारण होते हैं, किसीके पर्व (गाँठ) साधारण होते है किसीका दूध साधारण होता है और किसीके फल साधारण होते है। इस प्रकार उनका साधारणपना आगमसे जान लेना चाहिये ॥९१॥ इनमेसे किसी-किसीके तो मूल पत्ते स्कन्ध फल फूल आदि अलग-अलग साधारण होते हैं और किसी-किसीके मिले हुए पूर्णरूपस साधारण होते ह परन्तु ये सब प्राणियोके लिये पापके कारण होते हैं। इनके भक्षण करनेसे या अन्य किसी काममे लाकर विराधना करनेसे महापाप लगता है इसलिये इन सबको अच्छी तरह जानकर सबका त्याग कर देना चाहिये ॥९२॥ मूली, अदरक, आलू, अरबी, रतालू, जमीकन्द आदि सब मूल साधारण कहलाते है। अर्थात् इनकी जडें सब साधारण हैं। तथा ये सब अनन्तकाय हैं। इनके भक्षण करनेम तथा किसी प्रकारसे भी काममे लानेसे महापाप उत्पन्न होता है। इसलिये व्रती गृहस्थोको इनका सवथा त्याग कर देना चाहिये ॥९३॥ गडोरक एक प्रकारके कडवे जमीकन्दको कहते हैं। उसके स्कन्ध भी साधारण होते हैं, पत्ते भी साधारण होते हैं, दूध भी साधारण होता है और पर्व (गाँठें) भी साधारण होते हैं। इस प्रकार उसके चारो अवयव साधारण होते है। दूधोमे आकका दूध साधारण होता है

पुष्पसाधारणाः केचित्करीरसर्षपादय । पर्वसाधारणाश्चेक्षुकाण्डाः साधारणाग्रकाः ॥९५
फलसाधारणं ख्यातं प्रोक्तोदुम्बरपञ्चकम् । शाखासाधारणा ख्याता कुमारीपिण्डकादय ॥९६
कुम्पलानि च सर्वेषां मृदूनि च यथागमम् । सन्ति साधारणान्येव प्रोक्तकालावधेरध ॥९७
शाकाः साधारणाः केचित्केचित्प्रत्येकमूर्तय । वल्ल्यः साधारणाः काश्चित्काश्चित्प्रत्येकका स्फुटम् ॥
तत्स्वरूपं परिज्ञाय कर्तव्या विरतिस्तत । उत्सर्गात्सर्वतस्त्यागो यथाशक्त्यापवादत ॥९९
शक्तितो विरतौ चापि विवेक साधुरात्मन । निर्विवेकात्कृत कर्म विफल चाल्पफल भवेत् ॥१००
कदाचिन्महतोऽज्ञानाद्दुर्दैवाद्वाविवेकिनाम् । तत्केवलमनर्थाय कृत कर्म शुभाशुभम् ॥१०१
यथाऽत्र श्रेयसे केचिद्धिंसा कुर्वन्ति कर्मणि । अज्ञानात्स्वर्गहेतुत्व मन्यमाना प्रमादिन ॥१०२
तदवश्य तत्कामेन भवितव्यं विवेकिनाम् । देशतो वस्तुसंख्याया. शक्तितो व्रतधारिणा ॥१०३
विवेकस्यावकाशोऽस्ति देशतो विरतावपि । आदेयं प्रासुक योग्यं नादेय तद्विपर्ययम् ॥१०४

॥९४॥ फूलोमे करीरके फूल और सरसोके फूल तथा और भी ऐसे ही फूल साधारण होते हैं तथा पर्वोमे ईखकी गाँठें साधारण होती हैं तथा उसका आगेका भाग भी साधारण होता है ॥९५॥ फलोमे साधारण फल पाँचो उदुम्बर फल होते हैं तथा शाखाओमे साधारण कुमारी पिंड (गवाँरपाठा) है। अर्थात् गँवारपाठा शाखारूप ही होता है और उसकी सब शाखायें साधारण हैं ॥९६॥ वृक्षोपर पहले ही पहले जो नये पत्ते निकलते हैं वे बडे कोमल होते हैं जिनको कोंपर कहते हैं वे सब अपने नियत समयके भीतर साधारण रहते हैं। भावार्थ—समस्त वृक्षोंपर जो-जो नये पत्ते निकलते हैं वे सब कुछ समय तक साधारण रहते हैं। अपना साधारण अवस्थाका समय बीत जानेपन फिर वे ही पत्ते बडे होनेपर प्रत्येक हो जाते हैं ॥९७॥ शाकोमे (चना, मेथी, बथुआ, पालक, कुलफी आदि शाकोमे) कोई शाक साधारण होते हैं और कोई प्रत्येक होते हैं। इसी प्रकार लता या बेलोमे कोई लताएँ साधारण होती हैं और कोई लतायें प्रत्येक होती हैं ॥९८॥ इन सब साधारणोका स्वरूप जानकर इनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये क्योकि मन-वचन-काय या कृत कारित अनुमोदनासे समस्त पापोका त्याग कर देना उत्सर्ग मार्ग है और अपनी शक्तिसे त्याग कर देना अपवाद मार्ग है ॥९९॥ शक्तिके अनुसार त्याग करनेमे भी अपना विवेक या विचार ही कल्याण करनेवाला होता है। (यह कार्य मेरे आत्माके लिये कल्याण करनेवाला है और यह नही है। इस प्रकारके विचारोको विवेक कहते हैं) श्रावकोके द्वारा जो कुछ पापोका त्याग किया जाय वह विवेक या विचारपूर्वक ही त्याग होना चाहिये। क्योकि जो कार्य विना विवेकके या विना विचारके किया जाता है वह या तो निष्फल जाता है या उसका फल बहुत ही थोडा मिलता है ॥१००॥ कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जो विवेकरहित पुरुष अपने अज्ञानसे अथवा अपने अशुभ कर्मके उदयसे जो कुछ शुभ अथवा अशुभ कार्य करते हैं उनसे अनेक अनर्थ उत्पन्न हो जाते हैं ॥१०१ जैसे इस ससारमे कितने ही प्रमादी पुरुष ऐसे हैं जो अपना भला करनेके लिये या अपना कल्याण करनेके लिये देवताओंकी पूजा करनेमे या यज्ञ करनेमे या अन्य ऐसे ही कामोमे अनेक जीवोकी हिंसा करते हैं और अपने अज्ञानसे या मिथ्याज्ञानसे उसे स्वर्गका कारण मानते हैं ॥१०२॥ इसलिये जो जीव अपनी शक्तिके अनुसार व्रत धारण करना चाहते हैं और पदार्थोंकी संख्याका एक देश रूपसे त्याग कर देना चाहते हैं उन्हे विवेकी अवश्य होना चाहिये ॥१०३॥ एक देशत्याग करनेमे भी विवेक या विचारकी बडी भारी आवश्यकता है क्योकि जो निर्जीव और योग्य पदार्थ हैं उन्हीको ग्रहण करना चाहिए तथा जो सचित्त या जीवराशिसे भरे हुए हैं,

न च स्वात्मेच्छया किञ्चिदात्तमादेयमेव तत् । नात्तं यत्तदनादेयं भ्रान्तोन्मत्तकवाक्यवत् ॥१०५
तस्मात्तत्प्रासुकं शुद्धं तुच्छहिंसाकरं शुभम् । सर्वं त्यक्तुमशक्येन ग्राह्यं तत्क्वचिदल्पशः ॥१०६
यावत्साधारणं त्याज्यं त्याज्यं यावत्त्रसाश्रितम् । एतत्त्यागे गुणोऽवश्यं सग्रहे स्वल्पदोषता ॥१०७
ननु साधारणं यावत्तत्सर्वं लक्ष्यते कथम् । सत्यं जिनागमे प्रोक्ताल्लक्षणादेव लक्ष्यते ॥१०८
तल्लक्षणं यथा भङ्गे समभागं प्रजायते । तावत्साधारणं ज्ञेयं शेषं प्रत्येकमेव तत् ॥१०९
तत्राप्यल्पस्याल्पीकरणं योग्यं योग्येषु वस्तुषु । यतःतृष्णानिवृत्यर्थमेतत्सर्वं प्रकीर्तितम् ॥११०

साधारण या त्रसजीवोसे भरे हुए हैं अथवा अयोग्य हैं ऐसे पदार्थोंको कभी ग्रहण नही करना चाहिए—ऐसे पदार्थोंका दूर ही से त्याग कर देना चाहिये ॥१०४॥ जो कुछ अपनी इच्छानुसार ग्रहण कर लिया है वही आदेय या ग्रहण करने योग्य है तथा जो कुछ अपनी इच्छानुसार छोड दिया है वही अनादेय या त्याग करने योग्य है ऐसा सिद्धान्त नही है। जिस प्रकार किसी पागल या उन्मत्त पुरुषके वाक्य उसकी इच्छानुसार कहे जाते हैं, पदार्थोंकी सत्ता या असत्ताके अनुसार नही कहे जाते और इसीलिये वे मिथ्या या ग्रहण करने अयोग्य समझे जाते है उसी प्रकार इच्छानुसार ग्रहण करना या छोड़ना भी मिथ्या या विवेकरहित समझा जाता है। इसलिये किसी भी पदार्थका त्याग या ग्रहण अपनी इच्छानुसार नही होना चाहिये किन्तु विवेकपूर्ण यथार्थ शास्त्रोंके अनुसार होना चाहिये ॥१०५॥ अतएव जो पुरुष पूर्णरूपसे पाँचो पापोका त्याग नही कर सकते, महाव्रत धारण नही कर सकते उनको जो पदार्थ प्रासुक हैं, जीव रहित हैं, शुद्ध हैं, शुभ हैं और जो थोडी बहुत हिंसासे या थोडेसे ही सावद्य कर्मोंमे उत्पन्न होनेवाले हैं ऐसे पदार्थ भी थोडे बहुत ग्रहण करने चाहिये और वे भी कभी-कभी ग्रहण करना चाहिये सदा उन्हींमे लीन नहीं रहना चाहिये ॥१०६॥ जो सधारण हैं उनका सबका त्याग कर देना चाहिये और जिनमे त्रसजीव रहते हैं उनका सबका त्याग कर देना चाहिये। इनके त्याग करनेसे गुण—मूलगुण और उत्तर गुण बढ़ते हैं और इनका ग्रहण करनेसे भक्षण करनेसे महापाप उत्पन्न होते हैं ॥१०७॥

प्रश्न—यदि साधारण वनस्पतियोका त्याग कर देना चाहिए तो फिर यह भी बतलाना चाहिये कि साधारण वनस्पतियोकी पहचान क्या है। किस लक्षणसे उनका ज्ञान हो सकता है। उत्तर—आपका यह पूछना ठीक है। जैन-शास्त्रोमे जो कुछ साधारणका लक्षण बतलाया गया है उसी लक्षणसे साधारण वनस्पतियोका ज्ञान हो सकता है ॥१०८॥ उसका लक्षण शास्त्रोमे इस प्रकार लिखा है कि जिसके तोडनेमे दोनो भाग एकसे हो जायँ जिस प्रकार चाकूमे दो टुकडे करने पर दोनो भाग चिकने और एकसे हो जाते हैं उसी प्रकार हाथमे तोडने पर भी जिसके दोनो भाग चिकने एकसे हो जायँ वह साधारण वनस्पति है। जब तक उसके टुकडे इसी प्रकारके होते रहते हैं तब तक उसे साधारण समझना चाहिये तथा जिसके टुकडे चिकने और एकसे न हो ऐसी बाकीकी समस्त वनस्पतियोको प्रत्येक समझना चाहिये ॥१०९॥ इस प्रकार पदार्थोंकी प्राप्ति होने पर जो योग्य पदार्थ हैं उनको भी बहुत थोडी मात्रामे ग्रहण करना चाहिये अर्थात् योग्य पदार्थोंमे भी अधिक भागका त्याग कर जितने कमसे अपना कार्य सिद्ध हो सकता है उतना ही ग्रहण करना चाहिये। बाकी सबका त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि यह सब त्याग या समस्त व्रत, मूलगुण उत्तरगुण आदि तृष्णाको दूर करनेके लिये ही कहे गये हैं। यदि तृष्णा कम न हुई तो त्याग करना व्यर्थ है। क्योंकि तृष्णा घटानेके लिये ही त्याग किया जाता है ॥११०॥ इस प्रकार अत्यन्त

इति संक्षेपतः ख्यातं साम्ना मूलगुणाष्टकम् । अर्थादुत्तरसंज्ञाश्च गुणाः स्युर्गृहमेधिनाम् ॥१११
तांस्तावदवसरे तत्र वक्ष्यामः स्वल्पविस्तरात् । इतः प्रसङ्गतो वक्ष्ये तत्सप्तव्यसनोज्झनम् ॥११२
द्यूतमांससुरावेश्याऽऽखेटचौर्यपराङ्गनाः । महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद् बुधः ॥११३
अक्षपाशादिनिक्षिप्तं वित्ताज्जयपराजयम् । क्रियायां विद्यते यत्र सर्वं द्यूतमिति स्मृतम् ॥११४
प्रसिद्धं द्यूतकर्मेदं सद्यो बन्धकरं स्मृतम् । यावदापन्मयं ज्ञात्वा त्याज्यं धर्मानुरागिणा ॥११५
तत्र बह्व्यः कथाः सन्ति द्यूतस्यानिष्टसूचिकाः । रक्तास्तत्र नराः पूर्वं नष्टा धर्मसुतादयः ॥११६
श्रूयते दृश्यते चैव द्यूतस्यैतद्विजृम्भितम् । दरिद्राः कर्तितोपाङ्गा नराः प्रास्ताधिकारकाः ॥११७
न वाच्यं द्यूतमार्गे स्यादेकं तद्व्यसनं मनाक् । चौर्यादिसर्वव्यसनपतिरेव न संशयः ॥११८
विद्यन्तेऽत्राप्यतीचारास्तत्समा इव केचन । त्यक्तव्यास्तेऽपि दृग्मार्गे लग्नैः प्रत्यग्रबुद्धिभिः ॥११९
अन्योन्यस्येर्ष्यया यत्र विजिगीषा द्वयोरिति । व्यवसायादृते कर्म द्यूतातीचार इष्यते ॥१२०
यथाऽहं धावयाम्यत्र यूयं चाऽप्यत्र धावत । मयातिरिक्तं गच्छेयं त्वत्तो गृह्णामि वेप्सितम् ॥१२१

संक्षेपमें गृहस्थोंके समुदाय रूप मूलगुणोंका वर्णन किया । इसके आगे जो गृहस्थोंके अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत आदि गुण हैं, व्रत हैं, वे सब अर्थात् उत्तरगुण कहलाते हैं ॥१११॥ उन अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतोंका वर्णन थोडेसे विस्तारके साथ उनके कथन करनेके समय करेंगे । इस समय प्रसंग पाकर सातों व्यसनोके त्यागका वर्णन करते हैं ॥११२॥ जुआ खेलना, मांस भक्षण करना, शराब पीना, वेश्या सेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन करना ये सातों महापाप व्यसन कहलाते हैं । बुद्धिमान् जनोको इन सातो व्यसनोका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥११३॥ जिस क्रियामे खेलनेके पासे डालकर धनकी हार-जीत होती है वह सब जुआ कहलाता है अर्थात् हार जीतकी शर्त लगाकर तास खेलना, चौपड खेलना, शतरंज खेलना, नक्कोमूठ खेलना आदि सब जुआ कहलाता है ॥११४॥ यह जुआ खेलना ससार भरमे प्रसिद्ध है । उसी समय महा अशुभ कर्मोंका बध करनेवाला है और समस्त आपत्तियोंको उत्पन्न करनेवाला है ऐसा समझकर धर्मसे प्रेम करनेवाले श्रावकोको इसका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥११५॥ जो लोग इस जुआमे लीन हुए हैं वे सब नष्ट हुए हैं । युधिष्ठिर आदिको इस जुआ खेलनेके ही कारण अनेक आपत्तियाँ उठानी पडी थी, जुआ खेलनेवालोको अनेक आपत्तियाँ उठानी पडी और अनेक दु ख भोगने पडे । इन सब चरित्रोको कहनेवाली बहुत सी कथाएँ हैं ॥११६॥ इस जुआ खेलनेका फल प्रतिदिन सुना जाता है और प्रतिदिन देखा जाता है । इस जुआ खेलनेसे लोग दरिद्र हो जाते है, उनके अग उपाग सब काटे जाते हैं तथा और भी अनेक प्रकारके दु ख उन्हे भोगने पडते हैं ॥११७॥ इस जुआ खेलनेको एक ही व्यसन नहीं समझना चाहिये और न इसे छोटा सा व्यसन समझना चाहिये । किन्तु यह जुआ खेलनेका व्यसन चोरी आदि सब व्यसनोका स्वामी है इसमे किसी प्रकारका संदेह नही है ॥११८॥ इस जुआ खेलनेके त्यागरूप व्रतके कितने ही अतिचार हैं जो कि जुआ खेलनेके ही समान हैं इसलिए सम्यग्दर्शनके मार्गमे लगे हुए तीव्र बुद्धि श्रावकोको इन अतिचारोंका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए ॥११९॥ जैसे अपने-अपने व्यापारके कार्योंके सिवाय कोई भी दो पुरुष परस्पर एक दूसरेकी ईर्ष्यासे किसी भी कार्यमे एक दूसरेको जीतना चाहते हो तो उन दोनोंके द्वारा उस कार्यका करना भी जुआ खेलनेका अतिचार कहलाता है ॥१२०॥ जैसे मैं यहाँसे इस स्थानसे दौडना प्रारम्भ करता हूँ तू भी मेरे साथ दौड़ लगा । हम दोनोंमेंसे जो मैं आगे निकल जाऊँगा तो तुझसे अपनी इच्छा पूरी कर लूँगा । इस प्रकारकी शर्त

इत्येवमादयोऽप्यन्ये द्यूतातीचारसंज्ञका । क्षपणीया क्षणादेव द्यूतत्यागोन्मुखैर्नरैः ॥१२२
मांसस्य भक्षणे दोषा प्रागेवात्र प्रपञ्चिता । पुनरुक्तभयाद् भूयो नीता नोद्देशप्रक्रियाम् ॥१२३
कर्म तत्र प्रवृत्तिः स्यादासक्तिर्व्यसनं महत् । प्रवृत्तिर्यत्र त्याज्या स्यादासक्तेस्तत्र का कथा ॥१२४
मैरेयमपि नादेयमित्युक्तं प्रागितो यत । ततोऽत्र वक्तव्यतायां पिष्टपेषणदूषणम् ॥१२५
प्राग्वदत्र विशेषोऽस्ति महानप्यविवक्षित । सामान्यलक्षणाभावे तद्विशेषश्रुतिर्यथा ॥१२६
प्रवृत्तिस्तु क्रियामात्रमासक्तिर्व्यसनं महत् । त्यक्तायां तत्प्रवृत्तौ वै का कथाऽऽसक्तिवर्जने ॥१२७
तदलं बहुनोक्तेन तद्गन्धोऽनर्थकारणम् । स्मृतमात्रं हि तन्नाम धर्मध्वंसाय जायते ॥१२८
पण्यस्त्री तु प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम् । तन्नाम दारिका दासी वेश्या पत्तननायिका ॥१२९
तत्त्यागः सर्वतः श्रेयान् श्रेयोऽर्थं यततां नृणाम् । मद्यमांसादिदोषान्वै निःशेषान् त्यक्तुमिच्छताम् ॥१३०
आस्तां तत्सङ्गमे दोषो दुर्गतौ पतनं नृणाम् । इहैव नरकं नूनं वेश्याव्यासक्तचेतसाम् ॥१३१

लगाकर दौडना या और कोई ऐसा ही काम करना जुआका अतिचार है ॥१२१॥ इसी प्रकार ऐसे ही ऐसे और भी कितने ही जुआके अतिचार हैं। जिन गृहस्थोने जुआ खेलनेका त्याग कर दिया है उनको ऐसे जुआके अतिचारोका उसी समय त्याग कर देना चाहिए ॥१२२॥ मास भक्षणके दोष पहले विस्तारके साथ कह चुके हैं इसलिए पुनरुक्त दोषके भयसे यहाँ पर उनका वर्णन नही किया है ॥१२३॥ मास भक्षणमे प्रवृत्ति होना मास कर्म कहलाता है और मास भक्षणमे आसक्त होना तो मास भक्षण नामका सबसे बडा व्यसन कहलाता है। जब कि मास भक्षणकी प्रवृत्ति ही त्याज्य है, त्याग करनेके योग्य है, फिर भला आसक्तिको तो कथा हो क्या है ? ॥१२४॥ इसी प्रकार मद्य या शराबका त्याग कर देना चाहिए। इसी बातको पहले अच्छी तरह कह चुके हैं। यदि इस समय फिर कहा जायगा तो पिष्टपेषण दूषण होगा अर्थात् जिस प्रकार पिसे हुएको फिर पीसना व्यर्थ है उसी प्रकार शराबके दोष पहले लिख चुके हैं अब फिर लिखना व्यर्थ है ॥१२५॥ यद्यपि विशेष कहनेकी यहाँ पर कुछ विवक्षा नही है तथापि मूलगुणोमे जो मासका त्याग कराया है उससे यहाँ पर कुछ विशेषता है। जहाँ किसीका सामान्य लक्षण कहा जाता है वहाँपर उसका विशेष भी त्याग करा चुके हैं तो फिर विशेष रीतिसे त्याग करानेको भी अवश्य आवश्यकता होती है। वही विशेष त्याग यहाँ पर कराया है ॥१२६॥ शराब पीनेकी क्रिया करना शराबकी प्रवृत्ति कहलाती है और उसमे अत्यन्त आसक्त होना व्यसन कहलाता है। जब उसकी प्रवृत्तिका ही त्याग कराया जाता है तो फिर उसमे आसक्त होनेका त्याग तो अवश्य करना चाहिए ॥१२७॥ इसलिए अधिक कहनेसे कुछ लाभ नही है शराबकी गध भी महापाप उत्पन्न करनेवाली है। शराबका नाम भी स्मरण मात्रसे धर्मका नाश हो जाता है फिर भला उस शराबको किसी काममे लाने या पीनेसे तो धर्मकी रक्षा कभी हो ही नही सकती ॥१२८॥ जो स्त्री केवल धनके लिये पुरुषका सेवन करती है उसको वेश्या कहते हैं। ऐसी वेश्यायें संसारमे प्रसिद्ध हैं। उन वेश्याओको दारिका, दासी, वेश्या या नगरनायिका आदि नामोसे पुकारते हैं ॥१२९॥ जो मनुष्य अपने आत्माके कल्याणके लिये प्रयत्न करना चाहते हैं और मद्य मास आदिके समस्त दोषोको त्याग कर देना चाहते हैं उनको इस वेश्या सेवनका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। ऐसे पुरुषोंके लिए पूर्ण रूपसे वेश्या सेवनका त्याग कर देना ही कल्याणकारी है ॥१३०॥ वेश्या सेवन करनेसे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं तथा मनुष्योको नरकादिक दुर्गतियोमे पडना पडता है, यदि इन परलोकके

उक्तं च—

या: खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां जल्पन्ति मिथ्यावच:
स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम् ।
नीचानामपि दूरवक्रमनस: पापात्मिका कुर्वते
लालापानमहर्निशं न नरकं वेश्यां विहायापरम् ॥९
रजकशिलासदृशीभि: कुक्कुरकर्परसमानचरिताभि: ।
वेश्याभिर्यदि सङ्ग: कृतमिव परलोकवार्ताभि: ॥१०

प्रसिद्धैर्बहुभिस्तस्यां प्राप्ता दु:खपरम्परा । श्रेष्ठिना चारुदत्तेन विख्यातेन यथा परा: ॥१३२
यावान् पापभरो यादृग्वारिका वरिकर्मण: । कविनापि न वा तावान् क्वापि वक्तुं च शक्यते ॥१३३
आस्तां च तद्व्रतावद्य चित्रकादिरुजो नृणाम् । नारकादिगतिभ्रान्त्यैर्यद् दु:खं जन्मजन्मनि ॥१३४

दु:खोकी उपेक्षा भी करें तो जिनका हृदय वेश्या सेवनमें लीन हो रहा है उनको इस जन्ममें ही निश्चयसे नरककी अनेक यातनायें या अनेक दु:ख भोगने पड़ते हैं। उनके लिये यह लोक ही, यह जन्म ही नरक बन जाता है ॥१३१॥

कहा भी है—यह पापिनी वेश्या मास खाती है, शराब पीती है, झूठ बोलती है, केवल धनके लिए प्रेम करती है, अपने धन और प्रतिष्ठाका नाश करती है और कुटिल मनसे या बिना मनके नीच लोगोकी लारको भी रात-दिन चाटती रहती है इसलिये कहना चाहिये कि वेश्याको छोड़कर ससारमे और कोई नरक नही है। वेश्या ही घोर नरक है। यह वेश्या धोबीकी शिलाके समान है अर्थात् जिस प्रकार धोबीकी शिलापर ऊँच-नीच अनेक घरोके बुरेसे बुरे मैल आकर बहते हैं उसी प्रकार वेश्याके शरीरपर भी ऊच-नीच अनेक पुरुषोके घृणितसे घृणित और अत्यन्त निन्दनीय ऐसे वीर्य या लार आदि मल आकर बहते हैं, इसके सिवाय वह वेश्या कुत्तके मुँहमे लगे हुए हड्डोके खप्परके समान आचरण करती रहती है अर्थात् जिस प्रकार उस खप्परको चबाने वाला कुत्ता उस खप्परको चबाता है और उसके चबानेसे जो मुँहके भीतरी गलपटोसे रुधिरकी धारा बहती है उसको वह कुत्ता समझता है यह मीठी-मीठी रुधिरकी धारा इस खप्परसे ही निकली है उसी प्रकार वेश्या सेवन करनेवाला अपने धनकी हानि करता है और फिर भी उस वेश्याके सेवन करनेसे आनन्द मानता है। ऐसी वेश्याके साथ जो पुरुष समागम करते है वे साथ ही साथ परलोककी बातचीत भी अवश्य कर लेते हैं। वेश्याका सेवन करनेवाले पुरुष अवश्य ही परलोक बिगाड लेते हैं इसमे किसी प्रकारका सन्देह नही है ॥९–१०॥

इस वेश्या सेवनमे आसक्त होनेके कारण अनेक लोगोने अनेक प्रकारके दु:ख पाये हैं और जन्म-जन्मान्तर तक दु:ख पाये हैं सो शास्त्रमे प्रसिद्ध ही है। जैसे अत्यन्त प्रसिद्ध सेठ चारुदत्तने इस वेश्या सेवनसे ही अनेक प्रकारके दु:ख सहे थे ॥१३२॥ इस ससारमे वेश्याएँ अपनी वेश्या वृत्ति-से जितने पाप उत्पन्न करती हैं उन सबको कवि भी नही कह सकते फिर भला औरोकी तो बात ही क्या है ॥१३३॥ वेश्या सेवन करनेसे मनुष्योको इसी जन्ममे गर्मी उपदंश आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यदि उनको न भी गिना जाय तो भी यह मनुष्य उस वेश्या सेवनके महापापसे अनेक जन्मो तक नरकादिक दुर्गतियोंके परिभ्रमणसे उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त घोर दु:ख सहता

न वाच्यमेकमेवैतज्जन्मान्यत्राल्पदोषत । द्यूतादिव्यसनासक्ते कारण धर्मध्वसकृत् ॥१३५
सुगमत्वाद्धि विस्तारप्रयासो न कृतो मया । दोष सर्वप्रसिद्धोऽत्र वावदूकतया कृतम् ॥१३६
सन्ति तत्राप्यतीचाराश्चतुर्थव्रतवर्तिन । निर्देक्ष्यामो वय तांस्तान् तत्तत्रावसरे यथा ॥१३७
इत्यत पण्याङ्गनात्याग सक्षेपादक्षप्रत्ययात् । आखेटकपरित्याग साधीयानिति शस्यते ॥१३८
अन्तर्भावोऽस्ति तस्यापि गुणव्रतसज्ञके । अनर्थदण्डत्यागाख्ये बाह्यानर्थक्रियादिवत् ॥१३९
तत्तत्रावसरेऽवश्य वक्ष्यामो नातिविस्तरात् । प्रसङ्गाद्वा तदत्रापि दिग्मात्रं वक्तुमर्हति ॥१४०
ननु चानर्थदण्डोऽस्ति भोगादन्यत्र या क्रिया । आत्मानन्दाय यत्कर्म तत्कथ स्यात्तथाविधम् ॥१४१
यथा स्रक्चन्दन योषिद्वस्त्राभरणभोजनम् । सुखार्थं सर्वमेवैतत्तथाखेटक्रियाऽपि च ॥१४२
नैवं तीव्रानुभागस्य बन्ध प्रमादगौरवात् । प्रमादस्य निवृत्त्यर्थं स्मृत व्रतकदम्बकम् ॥१४३
स्रक्चन्दनवनितादौ क्रियायां वा सुखाप्तये । भोगभावो सुख तत्र हिंसा स्याद्वानुषङ्गिकी ॥१४४

रहता है ॥१३४॥ वेश्या सेवन करनेवाला जन्म-जन्म तक नरकादिक दुर्गतियोके दु ख सहता रहता है। उसको यही एक दु ख भोगना पडता है यह बात नही कहनी चाहिये क्योकि ऐसा कहने-से वेश्या सेवनमे थोडा दोष सिद्ध होता है। परन्तु वेश्यासेवन करना सबसे बडा महादोष है। जुआ खेलनेके व्यसनमे लीन होनेका कारण यह वेश्यासेवन ही है। धर्मका नाश करनेवाला यह वेश्यासेवन ही है ॥१३५॥ वेश्यासेवनके दोषोका जान लेना अत्यन्त सुगम है इसलिये इसके दोष विस्तारके साथ वर्णन नही किये हैं। इसके सिवाय इस वेश्या सेवनके दोष बाल गोपाल तक सब लोगोमें प्रसिद्ध हैं इसीलिये व्यर्थ ही अधिक कहनेसे कोई लाभ नही है ॥१३६॥ इस वेश्या सेवनके त्याग रूप चतुर्थ ब्रह्मचर्याणुव्रतको धारण करनेवाले पुरुषोके लिये इस वेश्या सेवनके त्यागमे भी कितने ही अतिचार लगते हैं। जिनको हम समयानुसार ब्रह्मचर्याणुव्रतका वर्णन करते समय वर्णन करेंगे ॥१३७॥ इस प्रकार इन्द्रियोके द्वारा प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले दोषोका वर्णन कर अत्यन्त सक्षेपसे वेश्या सेवनके त्यागका वर्णन किया। अब आगे शिकार खेलनेका त्याग करना भी अत्यन्त प्रशंसनीय है इसलिये उसका वर्णन करते है ॥१३८॥

यद्यपि शिकार खेलना बाह्य अनर्थ क्रियाओके समान है। इसलिये उसका त्याग अनर्थ-दण्डत्याग नामके गुणव्रतमे अन्तर्भूत हो जाता है ॥१३९॥ इस अनर्थदण्डत्यागका वर्णन करते समय थोडेसे विस्तारके साथ इसका भी अवश्य वर्णन करेगे तथापि प्रसग पाकर थोडा-सा वर्णन यहाँ भी कर देते हैं ॥१४०॥ प्रश्न—भोगोपभोगोके सिवाय जो क्रियायें की जाती हैं उनको अनर्थदण्ड कहते हैं परन्तु शिकार खेलनेसे आत्माको आनन्द प्राप्त होता है इसलिये शिकार खेलना अनर्थ-दण्ड नही है किन्तु जिस प्रकार पुष्पमाला, चन्दन, स्त्रियाँ, वस्त्र, आभरण, भोजन आदि समस्त पदार्थ आत्माको सुख देनेवाले हैं, आत्माको सुख देनेके लिये काममे लाये जाते हैं उसी प्रकार शिकार खेलनेसे भी आत्माको सुख प्राप्त होते हैं। इसलिये वह अनर्थदण्ड कभी नही हो सकता ? ॥१४१-१४२॥ उत्तर—परन्तु ऐसी शंका करना ठीक नही है। क्योकि प्रमादकी अधिकता होनेसे अनुभागबन्धकी अत्यन्त तीव्रता हो जाती है और प्रमादको दूर करनेके लिये ही समस्त व्रत पाले जाते हैं। शिकार खेलनेसे अशुभ कर्मोमे अत्यन्त तीव्र फल देनेकी शक्ति पडती है। इसलिये शिकार खेलना भोगोपभोगकी सामग्री नही है किन्तु महा प्रमाद रूप है ॥१४३॥ माला चन्दन स्त्री आदिके सेवन करनेमे सुखकी प्राप्तिके लिये केवल भोगोपभोग सेवन करनेके भाव किये जाते

आखेटके तु हिंसायाः भावः स्याद्भूरिजन्मिनः । पश्चाद्दैवानुयोगेन भोगः स्याद्वा न वा क्वचित् १४५
हिंसानन्देन तेनोच्चैरौद्रध्यानेन प्राणिनाम् । नारकस्यायुषो बन्धः स्यान्निर्दिष्टो जिनागमे ॥१४६
ततोऽवश्यं हि हिंसायां भावश्चानर्थदण्डकः । त्याज्यः प्रागेव सर्वेभ्यः संक्लेशेभ्यः प्रयत्नतः ॥१४७
तत्राचान्तररूपस्य मृगयाभ्यासकर्मणः । त्यागः श्रेयानवश्यं स्यादन्यथाऽसातबन्धनम् ॥१४८
अतीचारास्तु तत्रापि सन्ति पापानुयायिनः । यानपास्य व्रतिकोऽपि निर्मलीभवति ध्रुवम् ॥१४९
कार्यं विनापि क्रीडार्थं कौतुकार्थमथापि च । कर्तव्यमटनं नैव वापीकूपादिवर्त्मसु ॥१५०
पुष्पादिवाटिकासूच्चैर्वनेषूपवनेषु च । सरित्तडागक्रीडाद्रिसरःशून्यगृहादिषु ॥१५१
शस्याधिष्ठानक्षेत्रेषु गोष्ठीनेष्वन्यवेश्मसु । कारागारगृहेषूच्चैर्मठेषु नृपवेश्मसु ॥१५२
एवमित्यादिस्थानेषु विना कार्यं न जातुचित् । कौतुकादिविनोदार्थं न गच्छेन्मृगयोज्झितः ॥१५३

हैं तथा उनके सेवन करनेसे सुख मिलता भी है और उसमे जीवहिंसा होती है वह प्रसगानुसार होती है। शिकार खेलनेके लिये जब घरसे निकलता है तब पशु-पक्षियोके मारनेके परिणामोको लेकर ही घरसे निकलता है। तदनन्तर उसके कर्मोंके उदयके अनुसार भोगोपभोगकी प्राप्ति होती भी है और नही भी होती। शिकार खेलनेवाला प्राणियोको मारनेके ही अभिप्रायसे आता है परन्तु यह बात दूसरी है कि उसके हाथसे कोई जीव मरे या न मरे उसके परिणाम हिंसारूप ही रहते हैं ॥१४४-१४५॥ शिकार खेलना हिंसामे आनन्द मानना है और हिंसामे आनन्द मानना रौद्रध्यान है तथा ऐसे रौद्रध्यानसे प्राणियोको नरकायुका ही बन्ध होता है ऐसा जैनशास्त्रोमे वर्णन किया है ॥१४६॥ इसलिये मानना पडता है कि इस प्रकारकी हिंसा करनेमे अपने परिणाम रखना अवश्य ही अनर्थदण्ड है और इसीलिये समस्त सक्लेशरूप परिणामोके त्याग करनेके पहले इस शिकार खेलनेका त्याग बडे प्रयत्नसे बडी सावधानीसे कर देना चाहिये ॥१४७॥ शिकार खेलनेका अभ्यास करना, शिकार खेलनेकी मनोकामना रखकर निशान मारनेका अभ्यास करना तथा और भी ऐसी ही ऐसी शिकार खेलनेकी साधनरूप क्रियाओका करना भी सब इसी शिकार खेलनेमे ही अन्तर्भूत होता है। इसलिये ऐसी क्रियाओका, ऐसे अभ्यास करनेका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये क्योकि ऐसी क्रियाओका त्याग करना भी कल्याण करनेवाला है। यदि ऐसी हिंसारूप क्रियाओका त्याग नही किया जायगा तो फिर उन क्रियाओसे दु ख देनेवाले अशुभ या असाता वेदनीय कर्मोका ही बन्ध होगा ॥१४८॥ इस शिकार खेलनेके त्याग करने रूप व्रतके कितने ही अतिचार हैं जो शिकार खेलनेके समान ही पाप उत्पन्न करनेवाले हैं। उन समस्त अतिचारोका त्याग कर व्रती गृहस्थ भी अत्यन्त निर्मल हो जाता है, इसलिए अपने व्रत निर्मल करनेके लिए अतिचारोका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥१४९॥ विना किसी अन्य प्रयोजनके केवल क्रीडा करनेके लिए अथवा केवल तमाशा देखनेके लिए इधर-उधर नही घूमना चाहिये, किसी बावडी या कुओंके मार्गमे या और भी ऐसे ही स्थानोमे विना प्रयोजनके कभी नही घूमना चाहिये ॥१५०॥ जिसने शिकार खेलनेका त्याग कर दिया है उसको विना किसी अन्य कार्यके केवल तमाशा देखनेके लिये या केवल मन बहलानेके लिए पौधे फूल वृक्ष आदिके बगीचोमे, बडे-बडे वनोमे, उपवनोमे, नदियोमे, सरोवरोमे, क्रीडा करनेके छोटे-छोटे पर्वतोपर, क्रीडा करनेके लिये बनाये हुए तालाबोमे, सूने मकानोमे, गेहूँ, जौ, मटर आदि अन्न उत्पन्न होनेवाले खेतोमे, पशुओंके बाँधनेके स्थानोमे, दूसरोंके घरोमे, जेलखानोमे, बडे-बडे मठोमे, राजमहलोमे या और भी ऐसे

तस्करादिविघातार्थं स्थानेषु वध्यभीरुषु । योद्धुमुत्सुकभूपादियोग्यासु युद्धभूमिषु ॥१५४
गीतनाट्यविवाहादिनाट्यशालादिवेश्मसु । हिंसारम्भेषु कूपादिखननेषु च कर्मसु ॥१५५
न कर्तव्या मतिर्धीरैः स्वप्नमात्रे मनागपि । केवलं कर्मबन्धाय मोहस्यैतद्धि स्फूर्जितम् ॥१५६
गच्छन्नप्यात्मकार्यार्थं गच्छेद् भूमिं विलोकयन् । युगदघ्नां दृशा सम्यगीर्यासंशुद्धिहेतवे ॥१५७
तत्र गच्छन्न छिन्द्याद्वा तृणपर्णफलादिकान् । पद्भ्यां दोर्भ्यां न कुर्वीत जलस्फालनकर्म च ॥१५८
शर्करादिपरिक्षेपं प्रस्तरैर्भूमिकुट्टनम् । इतस्ततोऽटनं चापि क्रीडाकूर्दनकर्म च ॥१५९
हिंसोपदेशमित्यादि न कुर्वीत विचक्षणः । प्राक्पदव्यामिवारूढः सर्वतोऽनर्थदण्डमुक् ॥१६०

व्याख्यातो मृगयादोषः सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ।
अनर्थकेवलादीनां व्रतादीनां सहोदरः ॥१६१

अथ चौर्यव्यसनस्य त्यागः श्रेयानिति स्मृतः । तृतीयाणुव्रतस्यान्तर्भावो वाप्यत्र सूत्रितः ॥१६२
तल्लक्षणं यथा सूक्तं निर्दिष्टं पूर्वसूरिभिः । यदत्तादानं तत्स्तेयं स्तेयविवर्जितैः ॥१६३

ही ऐसे स्थानोंमें कभी नहीं जाना चाहिये ॥१५१–१५३॥ जिन स्थानोमे चोर, डाकू, हत्यारे आदि महा अपराधी मनुष्योको प्राण दण्ड दिया जाता हो ऐसे अत्यन्त भयानक और भय उत्पन्न करने-वाले स्थानोमें जहाँपर युद्ध करनेकी इच्छा करनेवाले राजा सेनापति आदि लोग युद्ध कर सकें ऐसी युद्ध करने योग्य युद्धभूमिमे, जिनमे गाना, नाचना, उत्सव, विवाह, नाटक आदि होते हो ऐसे स्थानोमें जानेके लिये धीरवीर पुरुषको स्वप्नमे भी कभी बुद्धि नही करनी चाहिए, इसी प्रकार जिनमें बहुत-सी हिंसा या आरम्भ होता हो ऐसे कुआँ बावडी खुदाने आदिके कार्योंके करनेमें स्वप्नमे भी कभी अपनी थोडी-सी बुद्धि भी नही करनी चाहिये क्योकि ऐसे स्थानोमे जानेसे या ऐसे स्थानोको बनवानेसे केवल अशुभ कर्मोंका ही बन्ध होता है तथा मोहनीय कर्मके तीव्र उदयसे ही ऐसे स्थानोमे जानेके लिये या ऐसे काम करनेके लिये बुद्धि उत्पन्न होती है, इसलिये यह सब मोहकर्मका ही कार्य समझना चाहिये ॥१५४–१५६॥ व्रती गृहस्थको जब कभी अपने कार्यके लिये भी कहीं जाना हो तो उसे शुद्ध ईर्यापथ पालन करनेके लिये अपने दोनो नेत्रोसे शरीर प्रमाण चार हाथ पृथ्वीको देखते हुए जाना चाहिये ॥१५७॥ मार्गमे चलते हुए व्रती गृहस्थ-को अपने पैरोंसे छोटे-छोटे पौधे, पत्ते या फल नही तोडते या काटने चाहिये तथा अपने दोनो पैरो व हाथोंसे पानीको उछालना नही चाहिये ॥१५८॥ इसी प्रकार ढेले-पत्थर फेंकना, पत्थरोसे पृथ्वीको कूटना, इधर-उधर घूमना, केवल मनोविनोदके लिये कूदना, हिंसाका उपदेश देना इत्यादि विना प्रयोजनके व्यर्थ ही हिंसा उत्पन्न होनेवाले कार्य पूर्णरूपसे अनर्थदण्डोका त्याग करनेवाले तथा पहली दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाले चतुर गृहस्थको कभी नही करने चाहिये ॥१५९–१६०॥ इस प्रकार भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अनुसार शिकार खेलनेके दोष बतलाये। इन दोषोंके त्याग कर देनेसे सब अव्रत रुक जाते हैं और व्रतोको अत्यन्त सहायता पहुँचती है ॥१६१॥

आगे चोरी करने रूप व्यसनका त्याग करनेके लिये उपदेश देते हैं, क्योकि चोरीका त्याग कर देना भी इस जीवके लिये कल्याणकारी है। यद्यपि चोरीका त्याग तीसरे अचौर्य अणुव्रतमे अन्त-र्भूत होता है तो भी व्यसन रूपसे त्याग करनेका यहाँ उपदेश दिया है ॥१६२॥ अचौर्य महाव्रतको धारण करनेवाले पहलेके आचार्योंने चोरीका लक्षण करते हुए बतलाया है कि जो दूसरेका विना दिया हुआ पदार्थ ग्रहण कर लेता है वह चोरी है ॥१६३॥ उस चोरी करने रूप कार्यमे अत्यन्त

व्यसनं स्यात्तत्रासक्तिः प्रवृत्तिर्वा मुहुर्मुहुः । यद्वा व्रताद्विना क्षुद्रैः परित्यक्तुमशक्यता ॥१६४
तदेतद्व्यसनं नूनं निषिद्धं गृहमेधिनाम् । संसाराद्भीरुकाणामशरीरसुखैषिणाम् ॥१६५
तत्स्वरूपं प्रवक्ष्यामः पुरस्तात्स्वल्पविस्तरात् । उच्यतेऽत्रापि दिग्मात्रं सोपयोगि प्रसङ्गसात् ॥१६६

उक्तः प्राणिवधो हिंसा स्यादधर्मः स दुःखदः ।
नार्थाज्जीवस्य नाशोऽस्ति किन्तु बन्धोऽत्र पीडया ॥१६७

ततोऽवश्यं हि पापं स्यात्परस्वहरणे नृणाम् । यादृशं मरणे दुःखं तादृशं द्रविणक्षतौ ॥१६८
एवमेतत्परिज्ञाय दर्शनश्रावकोत्तमैः । कर्तव्या न मतिः क्वापि परदारधनादिषु ॥१६९
आस्तां परस्वस्वीकाराद्यद् दुःखं नारकादिषु । यदत्रैव भवेद् दुःखं तद्वक्तुं कः क्षमो नरः ॥१७०
चौर्यासक्तो नरोऽवश्यं नासिकाविकर्तिं लभेत् । गर्दभारोपणं चापि यद्वा पञ्चत्वमाप्नुयात् ॥१७१
उद्विग्नो विघ्नशङ्की च भ्रान्तोऽनवस्थचित्तकः । न क्षणं तिष्ठते स्वस्थः परवित्तहरो नरः ॥१७२
परस्वहरणासक्तैः प्राप्ता दुःखपरम्परा । श्रूयते तत्कथा शास्त्राच्छिवभूतिद्विजो यथा ॥१७३

आसक्त होना अथवा चोरी करनेमें बार-बार प्रवृत्ति करना चोरीका व्यसन कहलाता है अथवा क्षुद्रपुरुष जो अचौर्य आदि व्रतोंको धारण कर चोरी आदिका त्याग नहीं कर सकते उसको भी चोरीका व्यसन कहते हैं ॥१६४॥ जो संसारके दुःखोंसे भयभीत हैं और आत्मजन्य सुखोंकी इच्छा करते हैं ऐसे गृहस्थोंके लिये यह चोरीका व्यसन अवश्य ही त्याग करने योग्य बतलाया है अर्थात् व्रती गृहस्थोंको इस चोरीके व्यसनका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥१६५॥ आगे अचौर्य अणुव्रत-का वर्णन करते समय थोडेसे विस्तारके साथ इसका वर्णन करेंगे, परन्तु यहाँ भी प्रकरणके अनुरोधसे थोडा-सा वर्णन कर देते हैं ॥१६६॥ शास्त्रोंमें कहा है कि प्राणियोंका वध करना हिंसा है तथा हिंसा करना ही अधर्म है और अत्यन्त दुःख देनेवाला है। यद्यपि दूसरेका धन हरण करनेमें जीवका नाश नहीं होता है तथापि उसको जो मानसिक महासन्ताप और वेदना होती है उससे चोरी करनेवालोंको अशुभ कर्मोंका तीव्र बन्ध होता है और इसीलिये चोरी करनेवाले मनुष्योंको अवश्य महापाप उत्पन्न होता है क्योंकि जिसका धन हरण किया जाता है उसको जैसा मरनेमें दुःख होता है वैसा ही दुःख धनके नाश हो जानेपर होता है ॥१६७–१६८॥ ऊपर लिखे अनुसार चोरी करनेके महादोषोंको समझकर दर्शनप्रतिमा धारण करनेवाले उत्तम श्रावकों-को दूसरेकी स्त्री या दूसरेका धन हरण करनेके लिये कभी भी अपनी बुद्धि नहीं करनी चाहिये ॥१६९॥ दूसरेका धन हरण करनेसे या चोरी करनेसे जो नरकादिक दुर्गतियोंमें महादुःख होता है वह तो होता ही है किन्तु ऐसे लोगोंको इस जन्ममें ही जो दुःख होते हैं उनको भी कोई मनुष्य कह नहीं सकता ॥१७०॥ जो मनुष्य चोरी करनेमें आसक्त रहता है पकडे जानेपर उसकी नाक काट ली जाती है या हाथ काट लिये जाते है, उसे गधेपर चढाकर बाजारमें घुमाया जाता है और अन्तमें उसे प्राणदण्ड दिया जाता है ॥१७१॥ जो मनुष्य दूसरेका धन हरण करता है उसके चित्तमें सदा उद्वेग या भय बना रहता है, उसे पद-पदपर विघ्नोंकी शंका बनी रहती है, उसका हृदय हर समय इधर-उधर घूमा करता है, उसका चित्त सदा डावाडोल रहता है और वह एक क्षण भी निराकुल नहीं रह सकता ॥१७२॥ दूसरेके धन हरण करनेमें आसक्त रहनेवाले लोगोंने पहले जन्म-जन्मान्तर तक अनेक प्रकारके दुःख पाये हैं। जिनकी कथायें शास्त्रोंसे सुनी जाती हैं। जैसे शिवभूति ब्राह्मणने चोरी करनेमें ही अनेक प्रकारके दुःख पाये थे ॥१७३॥ चोरी करने-

न केवलं हि श्रूयन्ते दृश्यन्तेऽद्य समक्षतः । यतोऽद्यापि चुरासक्तो निग्रहं लभते नृपात् ॥१७४
सन्ति तत्राप्यतीचाराश्चौर्यत्यागव्रतस्य च । तानवश्यं यथास्थाने ब्रूमो नातीवविस्तरात् ॥१७५
अथान्ययोषिद्व्यसनं दूरतः परिवर्जयेत् । आशीविषमिवासां यच्चरित्रं स्याज्जगत्त्रये ॥१७६
तुर्याणुव्रते तस्यान्तर्भावः स्यात्तस्य लक्षणात् । लक्ष्यतेऽत्रापि किञ्चात्र प्रसङ्गादिह साम्प्रतम् ॥१७७
देवशास्त्रगुरून्नत्वा बन्धुवर्गात्मसाक्षिकम् । पत्नी पाणिगृहीता स्यात्तदन्या चेटिका मता ॥१७८
तत्र पाणिगृहीता या सा द्विधा लक्षणाद्यथा । आत्मज्ञाति परज्ञाति कर्मभूरूढिसाधनात् ॥१७९
परिणीतात्मज्ञातिश्च धर्मपत्नीति सैव च । धर्मकार्ये हि सध्रीची यागादौ शुभकर्मणि ॥१८०
सूनुस्तस्याः समुत्पन्नः पितुर्धर्मेऽधिकारवान् । स पिता तु परोक्षः स्याद्दैवात्प्रत्यक्ष एव वा ॥१८१
स सूनुः कर्मकार्येऽपि गोत्ररक्षादिलक्षणे । सर्वलोकाविरुद्धत्वादधिकारी न चेतरः ॥१८२
परिणीतानात्मज्ञातिर्या पितृसाक्षिपूर्वकम् । भोगपत्नीति सा ज्ञेया भोगमात्रैकसाधनात् ॥१८३

वालोंके दु:खोंकी कथायें केवल सुनी ही नहीं जाती हैं अपितु इस समयमे भी प्रत्यक्ष देखी जाती हैं क्योंकि आजकल भी चोरी करनेवाले लोगोंको राज्यकी ओरसे अनेक प्रकारके कठोर दण्ड दिये जाते हैं ॥१७४॥ इस चौर्यत्यागव्रतके कितने ही अतिचार हैं उनको भी समयानुसार अचौर्याणुव्रतका वर्णन करते समय थोडेसे विस्तारके साथ अवश्य वर्णन करेंगे ॥१७५॥ अब आगे परस्त्री व्यसनके त्यागका वर्णन करते हैं। जिन स्त्रियोका चरित्र लोकोमे सर्पके महाविषके समान प्रसिद्ध है ऐसी परस्त्रियोंके सेवन करनेका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये तथा दूरसे ही कर देना चाहिये ॥१७६॥ परस्त्री त्याग व्रतका जो लक्षण है उससे यह व्रत चौथे अणुव्रतमे अन्तर्भूत होता है तथापि इस समय प्रकरण पाकर यहाँपर उसका थोडा सा वर्णन करते हैं ॥१७७॥ देव शास्त्र गुरुको नमस्कारकर तथा अपने भाई बन्धुओंकी साक्षीपूर्वक जिस कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह विवाहिता स्त्री कहलाती है। ऐसी विवाहिता स्त्रीके सिवाय अन्य सब पत्नियाँ दासी कहलाती हैं ॥१७८॥ उसमे भी जो विवाहिता पत्नी है वह दो प्रकार है तथा उन दोनोंके लक्षण अलग हैं। कर्मभूमिमे रूढ़िसे चली आयी जो अलग-अलग जातियाँ है उनमेसे अपनी जातिकी कन्याके साथ विवाह करना और अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह करना। इस प्रकार अपनी जातिकी विवाहिता पत्नी और अन्य जातिकी विवाहिता पत्नीके भेदसे पत्नियोके दो भेद हो जाते हैं ॥१७९॥ अपनी जातिकी जिस कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह धर्मपत्नी कहलाती है ऐसी धर्मपत्नी ही यज्ञपूजा प्रतिष्ठा आदि शुभ कार्योंमे या प्रत्येक धर्मकार्यमे साथ रह सकती है ॥१८०॥ उस धर्मपत्नीसे जो पुत्र उत्पन्न होता है वही पिताके धर्मका अधिकारी होता है क्योंकि कभी-कभी पिता तो परोक्ष हो जाता है, सन्यास धारण कर लेता है अथवा स्वर्गवासी हो जाता है तथा भाग्योदयसे कभी प्रत्यक्ष भी बना रहता है ॥१८१॥ वह धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही समस्त धर्मकार्योंमे अधिकारी होता है और गोत्रकी रक्षा करनेरूप कार्यमे अर्थात् पुत्र उत्पन्न कर आगेके लिये गोत्रकी रक्षा करनेरूप कार्यमे या अपने समस्त घरका स्वामी बनने या समस्त गृहस्थ धर्मकी रक्षा करने रूप कार्यमे अधिकारी होता है क्योंकि धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ही समस्त लोकका अविरोधी पुत्र है। अन्य जातिकी विवाहिता कन्यारूप पत्नीसे उत्पन्न हुआ पुत्र ऊपर लिखे कार्योंमे कुछ भी अधिकार नहीं रखता ॥१८२॥ जो पिताकी साक्षीपूर्वक अन्य जातिकी कन्याके साथ विवाह किया जाता है वह भोगपत्नी कहलाती है क्योंकि वह केवल

आत्मजातिः परजातिः सामान्यवनिता तु या । पाणिग्रहणशून्या चेच्चेटिका सुरतप्रिया ॥१८४
चेटिका भोगपत्नी च द्वयोर्भोगाङ्गमात्रतः । लौकिकोक्तिविशेषोऽपि न भेदः पारमार्थिकः ॥१८५
भोगपत्नी निषिद्धा स्यात्सर्वतो धर्मवेदिनाम् । ग्रहणस्याविशेषेऽपि दोषो भेदस्य सम्भवात् ॥१८६
अस्ति दोषविशेषोऽत्र जिनदृष्टश्च कश्चन । येन दास्याः प्रसङ्गेन वज्रलेपोऽघसञ्चयः ॥१८७
भावेषु यदि शुद्धत्वं हेतुः पुण्यार्जनादिषु । एवं वस्तुस्वभावत्वात्तच्छुद्धतास्ति नश्यति ॥१८८

उक्तं च—

मुनिरेव हि जानाति द्रव्यसंयोगजं गुणम् । मक्षिका वमनं कुर्यात्तद्विट् छर्दिप्रणाशिनी ॥११
ननु यथा धर्मपत्न्यां यैव दास्यां क्रियैव सा । विशेषानुपलब्धेश्च कथं भेदोऽवधार्यते ॥१८९
नैवं यतो विशेषोऽस्ति युक्तिस्वानुभवागमात् । दृष्टान्तस्यापि सिद्धत्वाद्धेतोः साध्यानुकूलतः ॥१९०

भोगका ही साधन है ॥१८३॥ इस प्रकार अपनी जाति और परजातिके भेदसे स्त्रियाँ दो प्रकार हैं तथा जिसके साथ विवाह नही हुआ है ऐसी स्त्री दासी या चेरी कहलाती है, ऐसी दासी केवल भोगाभिलाषिणी होती है ॥१८४॥ दासी और भोगपत्नी ये दोनो ही केवल उपभोग-सेवन करनेके ही काम आती हैं। इसलिए यद्यपि लौकिक दृष्टिके अनुसार उनमे कुछ थोडा-सा भेद है तथापि परमार्थसे देखा जाय तो उन दोनोमे कोई भेद नही है ॥१८५॥ धर्मके जाननेवाले पुरुषोको भोग-पत्नीका पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिए। यद्यपि विवाहिता होनेसे वह ग्रहण करने योग्य है तथापि धर्मपत्नीसे वह सर्वथा भिन्न है, सब तरहके अधिकारोसे रहित है, इसलिए उसके सेवन करनेमे दोष ही है ॥१८६॥ भोगपत्नीके सेवन करनेसे अनेक प्रकारके विशेष दोष उत्पन्न होते हैं जिनको कि भगवान् सर्वज्ञदेव ही जानते हैं। दासीके साथ विषय सेवन करनेसे वज्र लेपके समान पापोका सचय होता है ॥१८७॥ यदि पुण्य उपार्जन करनेमें भावोकी शुद्धता ही कारण है क्योकि वस्तुका स्वभाव ही इसी प्रकार है तो फिर दासीके साथ विषय सेवन करनेसे वह परिणामोकी शुद्धता अवश्य नष्ट हो जाती है ॥१८८॥

कहा भी है—किस-किस द्रव्यके सयोगसे कैसा-कैसा गुण प्रकट होता है इस बातको मुनि ही जानते हैं। हम लोगोके अल्पज्ञानमे यह बात नही आ सकती। देखो, मक्खीके पेटमे चले जानेसे वमन हो जाता है परन्तु उसकी विष्टा या बीट खा लेनेसे वमन रोग दूर हो जाता है। अतएव यह सिद्ध है कि दासी या भोगपत्नीके सेवन करनेमे विषय सेवनकी तीव्र लालसा रहती है, इसलिए परिणामोकी शुद्धता नही रह सकती तथा परिणामोमे तीव्र कषायोका सचार होनेसे या काम सेवनकी तीव्र लालसा होनेसे तीव्र पापकर्मोका बन्ध होता है ॥११॥

शंका—विषय सेवन करते समय जो क्रिया धर्मपत्नीमे की जाती है वही क्रिया दासीमें की जाती है उन दोनोके साथ होनेवाली क्रियाओमे कोई किसी प्रकारका अन्तर नही है, फिर भला दासी और धर्मपत्नीमे भेद क्यो बताया जाता है। जिस प्रकार उनके साथ होनेवाली क्रियाओमें कोई भेद नही है उसी प्रकार उन दोनोमे भेद नही होना चाहिए ॥१८९॥ समाधान—परन्तु ऐसी शका करना ठीक नही है, क्योकि दासी और धर्मपत्नीमे बहुत अन्तर है, यह बात युक्तिसे भी सिद्ध होती है, आगमसे भी सिद्ध है और अपने अनुभवसे भी सिद्ध होती है। इसके लिये अनेक दृष्टान्त मिलते हैं और इस साध्यको सिद्ध करनेवाले अनेक हेतु मिलते हैं ॥१९०॥

नैवं स्पर्शादि यद्वस्तु बाह्यं विषयसंज्ञिकम् । तद्धेतुस्तादृशो भावो जीवस्यैवास्ति निश्चयात् ॥१९१
दृश्यते जलमेवैकमेकरूपं स्वरूपतः । चन्दनादिवनराजिं प्राप्य नानात्वमभ्यगात् ॥१९२
न च वाच्यमयं जीवः स्वायत्तः केवलं भवेत् । बाह्यवस्तु विनाऽऽश्रित्य जायते भावसन्ततिः ॥१९३
ततो बाह्यनिमित्तानुरूपं कार्यं प्रमाणतः । सिद्धं तत्प्रकृतेऽप्यस्मिन्नस्ति भेदो हि लीलया ॥१९४
अत्राभिज्ञानमप्यस्ति सर्वलोकाभिसम्मतम् । दासा दास्याः सुता ज्ञेया तत्सुतेभ्यो ह्यनादृशाः ॥१९५
कृतं च बहुनोक्तेन सूक्तं सर्वविदाज्ञया । स्वीकर्तव्यं गृहस्थेन दर्शनव्रतधारिणा ॥१९६
भोगपत्नी निषिद्धा चेत्का कथा परयोषिताम् । तथाप्यत्रोच्यते किञ्चित्तत्स्वरूपाभिव्यक्तये ॥१९७

केवल यही नहीं समझना चाहिये कि कर्मबन्ध होनेमे या परिणामोमे शुभ अशुभपना होनेमे स्पर्श करना या विषय सेवन करना आदि बाह्य वस्तु ही कारण हैं किन्तु जीवोके वैसे परिणाम होना ही निश्चयसे कारण हैं। भावार्थ—बाह्य क्रिया एक सी होनेपर भी सबके परिणाम एक-से नहीं होते, इसी प्रकार धर्मपत्नीके सेवन करनेमे जीवोके मन्द परिणाम होते हैं इसलिये उसके सेवन करनेसे तीव्र अशुभ कर्मोंका बन्ध नही होता, किन्तु दासीका सेवन करनेमे विषय सेवन करनेकी तीव्र लालसा होती है इसीलिए उसके सेवन करनेसे तीव्र अशुभ कर्मोंका बन्ध होता है। अतएव दासी और धर्मपत्नीमे बहुत भारी भेद है ॥१९१॥ ससारमे भी देखा जाता है कि जो जलस्वरूपसे एकरूप है अथवा एक ही है वह एक ही जल चन्दनके पेडमे देनेसे चन्दन रूप हो जाता है, नीममे देनेसे कडवा हो जाता है, धतूरेमे देनेसे विषरूप हो जाता है और ईखमे देनेसे मीठे गन्नेरूप परिणत हो जाता है। जल पात्र भेदसे अनेक प्रकारका परिणत हो जाता है उसी प्रकार धर्मपत्नी या दासीमे एक-सी क्रिया होनेपर भी पात्र भेदसे परिणामोमे बडा भारी अन्तर पड जाता है तथा परिणामोमे अन्तर पडनेसे शुभ अशुभरूप कर्मबन्धमे बडा भारी अन्तर पड जाता है ॥१९२॥ कदाचित् यह कहा जाय कि यह जीव शुभ-अशुभरूप कर्मबन्ध करनेमे नितान्त स्वाधीन है क्योकि भाव या परिणामोकी परम्परा बाह्य पदार्थोंके आश्रय किये विना भी बराबर बनी ही रहती है अर्थात् परिणामोके शुभ-अशुभ होनेमे बाह्य पदार्थ कोई कारण नही है। शुभ या अशुभ परिणामोको उत्पन्न करना सर्वथा जीवके अधीन है इसलिये चाहे दासीका सेवन किया जाय और चाहे धर्म-पत्नीका सेवन किया जाय उन दोनोके सेवन करनेमे परिणामोमे कोई अन्तर नही पडता इसलिए दासी और धर्मपत्नीमे कोई भेद नही है सो यह कहना भी ठीक नही है क्योकि परिणामोमे शुभ-अशुभपना बाह्य पदार्थोंके आश्रयमे ही होता है। बाह्य पदार्थोंका जैसा आश्रय मिलता है वैसे ही परिणाम बदलकर हो जाते हैं ॥१९३॥ इसलिये यही प्रमाण मानना चाहिये कि जैसा बाह्य पदार्थोंका निमित्त मिलता है उन्हीके अनुसार कार्यकी सिद्धि होती है। इसी न्यायके अनुसार इस प्रकरणमे भी दासी और धर्मपत्नीमे लीलापूर्वक बहुत ही सरल रीतिसे भेद सिद्ध हो जाता है ॥१९४॥ इस विषयमे समस्त लोगोके द्वारा माना हुआ ज्ञान ही प्रमाण है क्योकि समस्त ससारके समस्त लोग यह मानते हैं कि दासीसे जो पुत्र उत्पन्न होते हैं वे दास कहलाते हैं और वे दास धर्मपत्नीसे उत्पन्न हुए पुत्रोसे सर्वथा भिन्न दूसरे प्रकारके ही कहलाते हैं। इससे भी धर्मपत्नी और दासीमे बडा भारी अन्तर सिद्ध होता है ॥१९५॥ बहुत कहनेसे क्या? भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञानुसार शास्त्रोमे जो कुछ वर्णन किया है, जो व्रत बतलाये हैं वे सब दर्शन प्रतिमारूप व्रतको धारण करनेवाले गृहस्थोंको अवश्य स्वीकार करने चाहिये ॥१९६॥ शास्त्रोमे जब भोगपत्नीका

विशेषोऽस्ति मिथश्चात्र परत्वैकत्वतोऽपि च । गृहीता चागृहीता च तृतीया नगराङ्गना ॥१९८
गृहीताऽपि द्विधा तत्र यथाऽऽद्या जीवभर्तृका । सत्सु पित्रादिवर्गेषु द्वितीया मृतभर्तृका ॥१९९

चेटिका या च विख्याता पतिस्तस्या स एव हि ।
गृहीता सापि विख्याता स्यादगृहीता च तद्वत् ॥२००

जीवत्सु बन्धुवर्गेषु रण्डा स्यान्मृतभर्तृका । मृतेषु तेषु सैव स्यादगृहीता च स्वैरिणी ॥२०१
अस्या संसर्गवेलायामिङ्गिते नरि वैरिभि । सापराधतया दण्डो नृपादिभ्यो भवेद्ध्रुवम् ॥२०२
केचिज्जैना वदन्त्येवं गृहीतैषा स्वलक्षणात् । नृपादिभिर्गृहीतत्वान्नीतिमार्गानतिक्रमात् ॥२०३

विख्यातो नीतिमार्गोऽयं स्वामी स्याज्जगतां नृप ।
वस्तुतो यस्य न स्वामी तस्य स्वामी महीपति ॥२०४

तन्मतेषु गृहीता सा पित्राद्यैरावृतापि या । यस्या संसर्गतो भीतिर्जायते न नृपादित ॥२०५
तन्मते द्विधैव स्वैरी गृहीताऽगृहीतभेदत । सामान्यवनिता या स्यादगृहीतान्तर्भावत ॥२०६

सेवन करना ही निषिद्ध बतलाया है—त्याग करने योग्य बतलाया है फिर भला परस्त्रीके सेवन करनेकी तो बात ही क्या है। उसका त्याग तो अवश्य ही कर देना चाहिए तथापि प्रकरण पाकर उसका स्वरूप बतलानेके लिये यहाँपर थोडा-सा उसका वर्णन करते हैं ॥१९७॥ परस्त्रियाँ भी दो प्रकारकी हैं एक दूसरेके अधीन रहनेवाली और दूसरी स्वतन्त्र रहनेवाली, जिनको क्रमश गृहीता और अगृहीता कहते हैं। इनके सिवाय तीसरी वेश्या भी परस्त्री कहलाती है ॥१९८॥ उनमें भी गृहीता या विवाहिता स्त्रियाँ दो प्रकारकी हैं—एक ऐसी स्त्रियाँ जिनका पति जीता है, तथा दूसरी ऐसी स्त्रियाँ जिनका पति तो मर गया हो परन्तु माता, पिता, भाई आदि जीते (जीवित) हो और उन्हीके यहाँ रहती हो। अथवा जेठ देवरके यहाँ रहती हो ॥१९९॥ इनके सिवाय जो दासी हो और उसका पति वही घरका स्वामी हो तो वह भी गृहीता कहलाती है। यदि वह दासी किसीकी रक्खी हुई न हो, स्वतन्त्र हो तो वह गृहीता दासीके समान ही अगृहीता कहलाती है ॥२००॥ जिसके भाई बन्धु जीवित हो परन्तु पति मर गया हो ऐसी विधवा स्त्रीको भी गृहीता ही कहते है। यदि ऐसी विधवा स्त्रीके भाई बन्धु आदि सब मर जायँ और वह स्वतन्त्र रहती हो तो उसको अगृहीता कहते है ॥२०१॥ यदि ऐसी स्त्रियोंके साथ ससर्ग करते समय कोई शत्रु राजाको सूचित कर दे तो इस महा अपराधके बदले उस मनुष्यको राज्यकी ओरसे भी कठोर दण्ड मिलता है ॥२०२॥ कितने ही जैनी लोग यह भी कहते हैं कि जिस स्त्रीका पति भी मर जाय और भाई बन्धु आदि भी सब मर जायँ तो भी अगृहीता नही कहलाती किन्तु गृहीता ही कहलाती है क्योंकि गृहीताका जो (किसीके द्वारा ग्रहण की हुई) लक्षण बतलाया है वह उसमे घटित होता है क्योंकि नीतिमार्गका उल्लघन न करते हुए राजाओके द्वारा वह ग्रहण की जाती है इसलिए वह गृहीता ही है ॥२०३॥ नीतिमार्गका उल्लंघन न करते हुए राजाओंके द्वारा वह ग्रहण की हुई समझी जाती है इसका भी कारण यह है कि ससारमे यह नीतिमार्ग प्रसिद्ध है कि ससार भरका स्वामी राजा होता है। वास्तवमे देखा जाय तो जिसका कोई स्वामी नही होता उसका स्वामी राजा होता ही है ॥२०४॥ जो लोग इस नीतिको मानते हैं उनके मतके अनुसार उसको गृहीता ही मानना चाहिए। चाहे वह माता-पिताके साथ रहती हो चाहे अकेली रहती हो। उनके मतमें अगृहीता उसे समझना चाहिये जिसके साथ ससर्ग करनेसे राजादिका डर न हो ॥२०५॥ ऐसे लोगोंके मतमे इच्छानुसार रहनेवाली (कुलटा) स्त्रियाँ दो प्रकारकी ही समझनी

एतत्सर्वं परिज्ञाय स्वानुभूतिसमक्षत । पराङ्गनासु नादेया बुद्धिर्धीधनशालिभि ॥२०७
या निषिद्धाऽस्ति शास्त्रेषु लोकेऽप्यतीव गर्हिता । सा श्रेयसी कुतोऽन्यस्त्री लोकद्वयहितैषिणाम् ॥२०८
त्याज्य वत्स परस्त्रीषु रति तृष्णोपशान्तये । विमृश्य चापदां चक्र लोकद्वयविध्वसिनीम् ॥२०९
भूयस्ते बहवो नष्टा परस्त्रीसङ्गकाङ्क्षया । ये दशास्यादयो नूनमिहामुत्र च दु खिता ॥२१०
श्रूयन्ते न परं तत्र दृश्यन्तेऽद्यापि केचन । रागाङ्गारेषु सन्तप्ता दु खितेभ्योऽपि दु खिता ॥२११
आस्तां यन्नरके दु ख भावतीव्रानुवेदिनाम् । जात पराङ्गनासक्ते लोहाङ्गनाविलिङ्गनात् ॥२१२
इहैवानर्थसन्दोहो यावानस्ति सुदुस्सह । तावान्न शक्यते वक्तुमप्यपोषिन्मतेरित ॥२१३
आदावुत्पद्यते चिन्ता द्रष्टु वस्तु समीहते । तत स्वान्तभ्रमस्तस्मादरतिर्जायते ध्रुवम् ॥२१४
तत क्षुत्तृड्विनाश स्याद्वपु कार्श्यं ततो भवेत् । तत स्यादुद्यमाभावस्तत स्याद्द्रविणक्षति ॥२१५
उपहास्य च लोकेऽस्मिन् तत शिष्टेष्वमान्यता । इङ्गिते राजदण्ड स्यात्सर्वस्वहरणादिक ॥२१६

चाहिये—एक गृहीता दूसरी अगृहीता । जो सामान्य स्त्रियाँ हैं वे सब गृहीतामें ही अन्तर्भूत कर लेना चाहिये (तथा वेश्यायें अगृहीता समझनी चाहिये) ॥२०६॥ अपने अनुभव और प्रत्यक्षसे इन सब परस्त्रियोंके भेदोंको समझकर बुद्धिमान पुरुषोंको परस्त्रियोंके सेवन करनेमें अपनी बुद्धि कभी नहीं लगानी चाहिए ॥२०७॥ जो कुलटा परस्त्री समस्त शास्त्रोंमें निषिद्ध है, स्थान-स्थानपर उसके सेवन करनेका निषेध किया है तथा जो इस संसारमें भी अत्यन्त निन्दनीय गिनी जाती है ऐसी परस्त्री इस लोक और परलोक दोनों लोगोंका हित चाहनेवाले लोगोंके लिये कल्याण करनेवाली किस प्रकार हो सकती है अर्थात् परस्त्री सेवन करनेसे इस जीवका कल्याण कभी नहीं हो सकता ॥२०८॥ इसलिए हे वत्स ! हे प्रिय ! परस्त्रीमें प्रेम करना अनेक आपत्तियोंका स्थान है तथा वह परस्त्री दोनों लोकोंके हितका नाश करनेवाली है यही समझकर अपनी तृष्णा या लालसाको शान्त करनेके लिये परस्त्रीमें प्रेम करनेका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥२०९॥ इस परस्त्री सेवनकी लालसा रखनेवाले रावण आदि बहुतसे महापुरुष नष्ट हो गये और उन्होंने इस लोक तथा परलोक दोनों लोकोंमें अनेक प्रकारके दु ख पाये ऐसा अनेक शास्त्रोंमें सुना जाता है ॥२१०॥ परस्त्रीकी लालसा रखनेवाले पुरुष अनेक प्रकारसे दु खी होते हैं यह बात केवल शास्त्रोंमें ही नहीं सुनी जाती, किन्तु आजकल भी देखी जाती है । आज भी ऐसे बहुत-से लोग हैं जो इस रागरूपी अंगारेकी अग्निसे जलकर अत्यन्त दु खी लोगोंसे भी अधिक दु खी हो रहे हैं ॥२११॥ परस्त्रियोंमें आसक्त रहनेवाले लोगोंको उनकी तीव्र लालसाके कारण नरकमें गरम लोहेकी स्त्रियोंके आलिंगन करानेसे जो दु ख होता है वह तो होता ही है, किन्तु इस लोकमें भी परस्त्री सेवन करनेवालोंको जो अत्यन्त असह्य दु ख और अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं वे भी कहे नहीं जा सकते ॥२१२-२१३॥ देखो, परस्त्री सेवन करनेवालोंके सबसे पहले चिन्ता उत्पन्न होती है फिर उस परस्त्रीको देखनेकी लालसा उत्पन्न होती है, फिर उसके साथ बातचीत करनेकी लालसा होती है, फिर उसका हृदय भ्रममें पड़ जाता है और फिर हृदयमें भ्रम उत्पन्न होनेसे अवश्य ही अरुचि हो जाती है अर्थात् किसी भी काममें उसका चित्त नहीं लगता ॥२१४॥ अरुचि उत्पन्न होनेसे उसकी भूख प्यास सब नष्ट हो जाती है, भूख प्यास नष्ट होनेसे शरीर कृश हो जाता है, शरीर कृश होनेसे फिर वह मनुष्य उद्यम नहीं कर सकता, किसी भी प्रकारका व्यापार नहीं कर सकता और व्यापार न करनेसे उसके धनका नाश हो जाता है ॥२१५॥ इसके सिवाय इस संसारमें उसकी हँसी होती है,

भवेद्वा मरणं मोहादन्यस्त्रीलीनचेतस । चित्रं किमत्र रोगाणामुद्भवोऽपि भवेद् ध्रुवम् ॥२१७

यद्वाऽमुत्रेह यद् दुःखं यावज्जाड्यं च दुःसहम् ।
अन्यस्त्रीव्यसनासक्त सर्वं प्राप्नोति निश्चितम् ॥२१८

अस्माकीयमतं चैतद्दोषवित्तद्धि मुञ्चति । न मुञ्चति तथा मन्दो ज्ञातदोषोऽपि मूढधी ॥२१९

इति श्रीलाटीसहितायां दर्शनप्रतिमामहाधिकारे मूलगुणाष्टकप्रतिपाल-
सप्तव्यसनरोधवर्णनो नाम प्रथम सर्ग ॥१॥



संसारमे हँसी होनेसे भले शिष्ट या सभ्य लोगोमे उसकी अमान्यता या अपमान हो जाता है तथा मालूम हो जानेपर उसे कठोर राजदण्ड मिलता है तथा राज्यकी ओरसे उसका सब धन हरण कर लिया जाता है ॥२१६॥ अथवा तीव्र मोह होनेके कारण परस्त्री सेवन करनेवालोंका मरण भी हो जाता है तथा उपदंश आदि अनेक प्रकारके भयंकर रोग उत्पन्न हो जाते हैं इसके लिये तो कुछ आश्चर्य ही नही करना चाहिये। अर्थात् परस्त्री सेवन करनेवालोंके उपदश आदि भयंकर रोग उत्पन्न होते ही हैं इसमे तो किसी प्रकारका सन्देह ही नही है ॥२१७॥ अथवा परलोकमे जितने असह्यसे असह्य दुःख हैं वे सब परस्त्री सेवन करने रूप व्यसनमे लीन होनेवाले मनुष्योंको अवश्य प्राप्त होते हैं ॥२१८॥ हमारा तो यह सिद्धान्त है कि जो इस परस्त्री सेवनके दोषोंको जानता है, इसको अवश्य छोड देता है। कदाचित् कोई मन्द बुद्धि होता है और वह दोषोको नही जानता तो वह नही भी छोड़ता है परन्तु जो दोषोको जानकर भी नही छोडता उसे सबसे बढकर मूर्ख समझना चाहिये ॥२१९॥

इस प्रकार दर्शनप्रतिमा नामके महा अधिकारमे आठ मूलगुणोको पालन करने और
सातो व्यसनोका त्याग करनेका वर्णन करनेवाला यह प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥१॥



द्वितीय सर्ग

सम्यक्त्वं दुर्लभं लोके सम्यक्त्वं मोक्षसाधनम् । ज्ञानचारित्रयोर्बीज मूल धर्मतरोरिव ॥१
तदेव सत्पुरुषार्थस्तदेव परमं पदम् । तदेव परम ज्योति तदेव परम तप. ॥२
तदेवेष्टार्थसंसिद्धिस्तदेवास्ति मनोरथ । अक्षातीत सुख तत्स्यात्तत्कल्याणपरम्परा ॥३
विना येनात्र संसारे भ्रमति स्म शरीरभाक् । भ्रमिष्यति तथानन्त काल भ्रमति सम्प्रति ॥४
अपि येन विना ज्ञानमज्ञानं स्यात्तदज्ञवत् । चारित्रं स्यात्कुचारित्रं तपो बालतप स्मृतम् ॥५
अलमतिविस्तरेणात्र कर्म यावच्छुभात्मकम् । सर्वं तत्पुरत सम्यक् सर्वं मिथ्या तदत्ययात् ॥६
तच्च तत्त्वार्थश्रद्धानं सूत्रे सम्यक्त्वलक्षणे । प्रामाणिक तदेव स्याच्छ्रुतकेवलिभिर्मतम् ॥७
तत्त्वं जीवास्तिकायाद्यास्तत्स्वरूपोऽर्थसत्तक । श्रद्धान चानुभूति स्यात्तेषामेवेति निश्चयात् ॥८
सामान्यादेकमेवैतत्तद्विशेषविधेर्द्विधा । परोपचारसापेक्षाद्धेतोर्द्वैतबलादपि ॥९

इस संसारमे सम्यग्दर्शन ही दुर्लभ है, सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्रका बीज है अर्थात् ज्ञान चारित्रको उत्पन्न करनेवाला है और सम्यग्दर्शन ही धर्मरूपी वृक्षके लिये जडके समान है ॥१॥ यह सम्यग्दर्शन ही सबसे उत्तम पुरुषार्थ है, यह सम्यग्दर्शन ही सबसे उत्तम पद है, यह सम्यग्दर्शन ही उत्कृष्ट ज्योति है और यह सम्यग्दर्शन ही सबसे श्रेष्ठ तप है ॥२॥ यह सम्यग्दर्शन ही इष्ट पदार्थोंकी सिद्धि है, यही परम मनोरथ है, यही केवल आत्मासे उत्पन्न होनेवाला अतीन्द्रिय सुख है और यही सम्यग्दर्शन अनेक कल्याणोकी परम्परा है ॥३॥ इस सम्यग्दर्शनके ही विना इस घोर संसारमे यह प्राणी अनादिकालसे अबतक भ्रमण कर रहा है और आगे अनन्तकाल तक बराबर परिभ्रमण करेगा ॥४॥ इस सम्यग्दर्शनके विना ही इस जीवका ज्ञान अज्ञानी पुरुषके समान अज्ञान या मिथ्याज्ञान कहलाता है, चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है और तप बाल तप या अज्ञानतप कहलाता है ॥५॥ इस विषयको बहुत बढाकर कहनेसे क्या लाभ है, थोडेसेमे इतना समझ लेना चाहिये कि इस ससारमे जो शुभरूप कर्म हैं, शुभ कार्य हैं, शुभ भाव है वे सब सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होते हैं और विना सम्यग्दर्शनके वे सब कार्य या भाव मिथ्या होते है, विपरीत होते हैं, अशुभ होते हैं ॥६॥ इस सम्यग्दर्शनका लक्षण तत्त्वार्थसूत्रमे तत्त्वार्थश्रद्धान बतलाया है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पदार्थमे अलग-अलग धर्म रहता है। उसी धर्मसे उस पदार्थका निश्चय किया जाता है। उस धर्मको तत्त्व कहते हैं। अर्थ शब्दका अर्थ निश्चय करना है, जिस पदार्थका निश्चय उसमे रहनेवाल धर्मसे कर लिया है उस पदार्थका स्वरूप कभी विपरीत नही हो सकता ऐसे यथार्थ पदार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। यह जो सम्यग्दर्शनका लक्षण बतलाया है वही प्रमाण है और वही श्रुतकेवलियोने माना है ॥७॥ जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष ये सात तत्त्व कहलाते हैं, इनका जो स्वरूप है वही पदार्थ कहलाता है तथा निश्चय नयसे उन पदार्थोंकी अनुभूति होना श्रद्धान कहलाता है ॥८॥ वह यथार्थ पदार्थोंका श्रद्धान या अनुभूति अथवा सम्यग्दर्शन सामान्य रीतिसे एक प्रकार है और विशेष विधिसे वही दो प्रकार है। उसके उत्पन्न होनेके कारण जो कि पर पदार्थोके उपचारोकी अपेक्षा रखते हैं दो प्रकारके हैं।

तद्द्विधेयविधिस्त्वत्र निश्चयाद्व्यवहारतः । सम्यक्त्वं स्याद् द्विधा तत्र निश्चयश्चैकधा यथा ॥१०
शुद्धस्यानुभवः साक्षाज्जीवस्योपाधिवर्जितः । सम्यक्त्वं निश्चयान्नूनमथाविकविधं हि तत् ॥११

उक्तं च—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥१२

व्यवहाराख्य सम्यक्त्व ज्ञातव्य लक्षणात्तथा । जीवादि सप्ततत्त्वानां श्रद्धान गाढमव्ययम् ॥१२

उक्तं च—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं । रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥१३
यद्वा व्यवहृते वाच्यं स्थूल सम्यक्त्वलक्षणम् । आप्ताप्तागमधर्मादिश्रद्धानं दूषणोज्झितम् ॥१३

उन कारणोंके दो भेद होनेसे सम्यग्दर्शनके भी दो भेद हो जाते हैं ॥९॥ उसके दो भेद निश्चय और व्यवहारसे होते हैं। इसीलिये सम्यग्दर्शन भी निश्चय सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्दर्शनके भेदसे दो प्रकारका कहलाता है। उसमेसे निश्चय सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार है। निश्चय सम्यग्दर्शन-के और भेद प्रभेद नही हैं ॥१०॥ जो विना किसी उपाधिके, विना किसी उपचारके शुद्ध जीवका साक्षात् अनुभव होता है वही निश्चयनयसे निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। उस निश्चय सम्यग्दर्शनमे कोई उपाधि या उपचार नहीं है इसलिये ही वह सम्यग्दर्शन एक ही प्रकारका होता है ॥११॥ यही प्रकारान्तरसे दूसरे शास्त्रोमे इसका लक्षण कहा है—शुद्ध आत्माका निश्चय होना, अनुभव होना, निश्चय सम्यग्दर्शन है। शुद्ध आत्माका ज्ञान होना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और शुद्ध आत्मामे लीन होना निश्चय सम्यक्चारित्र है। इसलिये इन निश्चय सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रसे कैसे बन्ध हो सकता है ॥१२॥ आगे व्यवहार सम्यग्दर्शनका लक्षण बतलाते हैं—जीव अजीव आदि सातो तत्त्वोका नाश न होनेवाला चल मलिनरहित गाढ श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है ॥१२॥ यही दूसरे शास्त्रोमे कहा है। जीवादिक सातो पदार्थोका यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन्ही जीवादिक सातो पदार्थोंको जानना सम्यग्ज्ञान है और राग-द्वेषको दूर करना सम्यक्चारित्र है। ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्षके मार्ग हैं या मोक्षके कारण हैं ॥१३॥

अथवा व्यवहारके लिए स्थूल सम्यग्दर्शनका लक्षण इस प्रकार भी आचार्योंने बतलाया है कि आप्त, आप्तका कहा हुआ आगम और आप्तका कहा हुआ दयामय धर्म इन तीनोंका सब प्रकारके दोषोसे रहित श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन है। भावार्थ—इन दोनो लक्षणोमें केवल ऊपरसे देखनेकी ही भिन्नता है, वास्तवमे कोई भेद नही है क्योकि आगमके श्रद्धानमे आगममे कहे हुए सातो तत्त्वोका श्रद्धान आ जाता है अथवा तत्त्वोंके श्रद्धानमे देवशास्त्र गुरुका श्रद्धान आ जाता है क्योंकि जीव तत्त्वके श्रद्धानमे जो चार घातिया रहित शुद्धजीवका स्वरूप है वही आप्त है, उसी आप्तका कहा हुआ सातो तत्त्वोंको वर्णन करनेवाला आगम है और संवर या निर्जराके स्वरूपमें दयामय अहिंसामय धर्मका स्वरूप वर्णन करना धर्म है। इस प्रकार विचार करनेसे व्यवहार सम्यग्दर्शनके दोनो ही लक्षण पृथक्-पृथक् नही हैं किन्तु दोनो ही एक हैं केवल बतलानेका या कथन करनेका प्रकार अलग-अलग है और कुछ भेद नही है। ॥१३॥

उक्तं च—

नास्ति चार्हत्परो देवो धर्मो नास्ति दयापर । तप परं च नैर्ग्रन्थ्यमेतत्सम्यक्त्वलक्षणम् । १४

हेतुतोऽपि द्विधोद्दिष्टं सम्यक्त्वं लक्षणाद् यथा । तन्निसर्गादधिगमादित्युक्तं पूर्वसूरिभि ॥१४

निसर्गस्तु स्वभावोक्ति सोपायोऽधिगमो मत । अर्थोऽयं शब्दमात्रत्वादयथार्थं सूच्यतेऽधुना । ।१५

नाम्ना मिथ्यात्वकर्मैकमस्ति सिद्धमनादित । सम्यक्त्वोत्पत्तिवेलायां द्रव्यतस्तत्त्रिधा भवेत् ॥१६

अधोऽपूर्वानिवृत्त्याख्यं प्रसिद्धं करणत्रयम् । करणान्तर्मुहूर्तस्य मध्ये भेदोऽस्ति नान्यथा ॥१७

उक्तं च—

जन्तेण कोद्दवं वा पढमुवसमसम्मभावजन्तेण । मिच्छादव्वं तु तिहा असंखगुणहीण दव्वकमा ॥१५

यही लक्षण अन्य शास्त्रोमे भी कहा है—भगवान् अरहन्तदेवके समान अन्य कोई देव नहीं है, दयाके समान और कोई धर्म नही है और निर्ग्रन्थ अवस्थाके समान और कोई उत्कृष्ट तप नहीं है अर्थात् तप करनेवाले गुरु निर्ग्रन्थ ही होते हैं ऐसा मानना ही सम्यग्दर्शन है। यही सम्यग्दर्शन-का लक्षण है ॥१४॥

यह सम्यग्दर्शन जिस प्रकार अपने लक्षणसे निश्चय और व्यवहाररूप दो प्रकार है उसी प्रकार यह सम्यग्दशन अपने उत्पन्न होनेके कारणोके भेदसे भी दो प्रकार है। उसके उत्पन्न होनेके दो कारण हैं एक निसर्ग और दूसरा अधिगम। जो निसर्गसे उत्पन्न होता है उसको निसगज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो अधिगमसे उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते है। ऐसा पहले आचार्योंने निरूपण किया है ॥१४॥ जो सम्यग्दर्शन स्वभावसे उत्पन्न होता है, अपने आप उत्पन्न होता है जो विना किसी उपदेशके उत्पन्न हो जाता है उसको निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं और जो बहिरग उपदेश आदि उपायोसे उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह अर्थ केवल शब्दमात्रसे बतलाया है। जो भेद या जो अर्थ उन शब्दोसे निकलता है वह बतलाया है। वास्तवमे उन दोनोमे क्या भेद है तथा निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन किसको कहते हं यह बात अब आगे बतलाते हैं ॥१५॥ सम्यदर्शनरूप आत्माके गुणका घात करनेवाला एक मिथ्यात्वकर्म है। वह मिथ्यात्वकर्म अनादिकालसे एक ही प्रकारका चला आ रहा है। जब इस जीवको मिथ्यात्वकर्मके उपशम होनेसे प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तब वही एक प्रकारका मिथ्यात्वकर्म अलग-अलग द्रव्यरूप तीन प्रकारका हो जाता है ॥१६॥ अध करण, अपूवकरण और अनिवृत्तिकरण ये तीन करण प्रसिद्ध हैं। इन तीनो करणोका समय अन्तर्मुहूर्त है। यह जोव जिस अन्तमु हूतमे इन तीनो करणोको करता है उसी अन्तर्म हूर्तमे उस मिथ्यात्वकमके तीन भेद कर डालता है। ये भद किसी दूसरे समयमे नही होते, करणत्रय करत समय ही होते हैं ॥१७॥

कहा भी है—जिस प्रकार कोदो नामके धान्योको चक्कीसे पीसनेपर उसके तीन भाग हो जाते हैं—चावल अलग हो जाते हैं, भूसी अलग हो जाती है और कण अलग हो जाते हैं उसी प्रकार उपशम सम्यग्दर्शनरूपी चक्कीके द्वारा पीसे जानेपर मिथ्यात्वकर्म भी तीन भागोमे बँट जाता है। पहले भागको मिथ्यात्वकर्म कहते हैं यह सबसे अधिक बलवान् और अधिक होता है। दूसरा सम्यक्मिथ्यात्व है यह उससे कम बलवान् है और इसकी द्रव्य सख्या भी उससे कम होती है। तीसरा सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व है। यह दूसरेसे भी कम बलवान् और द्रव्यमे कम होता है ॥१५॥

त्रिधाभूतस्य तस्योच्चैरेवं मिथ्यात्वकर्मणः । भेदाश्चत्वारश्चतुष्कं च स्यादनन्तानुबन्धिनः ॥१८
एतत्समुदितं प्रोक्तं दर्शनं मोहसप्तकम् । प्रागुपशमसम्यक्त्वे तत्सप्तोपशमो भवेत् ॥१९

उक्तं च—

पढमं पढमे णियदं पढम विदियं च सव्वकालम्हि । खाइयसम्मत्तो पुण जत्थ जिणा केवली तम्हि ॥१६
निसर्गेऽधिगमे वापि सम्यक्त्वे तुल्यकारणम् । दृङ्मोहसप्तकस्य स्यादुभयाभावसंज्ञकः ॥२०

उक्तं च—

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइयो य ।
बिदियकसाउदयादो असंजदो होदि सम्मो सो ॥१७

किन्तु सत्यन्तरङ्गेऽस्मिन् हेतावुत्पद्यते च यत् । नैसर्गिकं हि सम्यक्त्वं विनोपदेशादिहेतुना ॥२१
यत्पुनर्बाह्यान्तरङ्गेऽस्मिन् सति हेतौ तथाविधि । उपदेशादिसापेक्षं स्यादधिगमसंज्ञकम् ॥२२
बाह्यं निमित्तमत्रास्ति केषाञ्चिद्बिम्बदर्शनम् । अर्हतामितरेषां तु जिनमहिमदर्शनम् ॥२३

इस प्रकार अनादिकालसे चले आए मिथ्यात्वकर्मके तीन भेद हो जाते हैं ॥१८॥ मिथ्यात्व-कर्मके ऊपर लिखे तीन भेद तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ चार भेद ये सब मिलकर सात भेद दर्शनमोहसप्तक (सम्यग्दर्शनको घात करनेवाली सात प्रकृतियाँ) कहलाता है। जब इस जीवको सबसे पहले उपशम सम्यग्दर्शन होता है तब इन सातो प्रकृतियोका उपशम हो जाता है ॥१९॥

कहा भी है—यह नियम है कि प्रथम अवस्थामे अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टि आत्मामे सबसे पहले प्रथमसम्यक्त्व अर्थात् औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है तथा प्रथम औपशमिक सम्यग्दर्शन और द्वितीय क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन समस्त समयमे उत्पन्न हो सकता है। परन्तु क्षायिक सम्यग्दर्शन वही होता है जहाँ श्रुतकेवली अथवा भगवान् सर्वज्ञदेव विद्यमान हो ॥१६॥

सम्यग्दर्शन चाहे निसर्गज हो और चाहे अधिगमज हो दोनों प्रकारके सम्यग्दर्शनोमें सम्यग्दर्शनको घात करनेवाली ऊपर लिखी सातो प्रकृतियोका अभाव होना समान कारण है। अर्थात् दोनो प्रकारके सम्यग्दर्शनोंमे इन सात प्रकृतियोका अभाव होना ही चाहिये विना इन सातों प्रकृतियोके अभाव हुए सम्यग्दर्शन कभी उत्पन्न नही हो सकता ॥२०॥

कहा भी है—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व ये दर्शनमोहनीयकी तीन प्रकृतियाँ तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सब सातो प्रकृतियोंके उपशम होनेसे औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है तथा इन सातो प्रकृतियोके क्षय होनेसे क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है। इस अविरत सम्यग्दर्शन नामके चौथे गुण-स्थानमे अप्रत्याख्यानावरण कर्मका उदय होनेसे सयम नही होता इसीलिये इस गुणस्थानको असयत सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥१७॥ सातो प्रकृतियोके उपशम या क्षय होने पर जो बिना बाह्य कारणोके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है उसको नैसर्गिक या निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥२१॥ तथा जो अन्तरग कारणोके होने पर अर्थात् सातो प्रकृतियोंका अभाव होने पर जो उपदेश आदि बाह्य कारणोकी अपेक्षा रखते हुए सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उसको अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥२२॥ इस सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमे बाह्य निमित्तकारण अनेक हैं। किसीको भगवान् अरहन्तदेवके प्रतिबिम्बोके दर्शन करनेसे सम्यग्दर्शन होता है, किसीको भगवान् अरहन्तदेवकी महिमा या समवशरणादिक विभूतिके देखनेसे सम्यग्दर्शन

धर्मश्रवणमेकेषां यद्वा देवर्द्धिदर्शनम् । जातिस्मरणमेकेषां वेदनाभिभवस्तथा ॥२४
एवमित्यादि बहवो विद्यन्ते बाह्यहेतवः । सम्यक्त्वप्रथमोत्पत्तावन्तरङ्गानतिक्रमात् ॥२५
अस्यैतल्लक्षणं नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मनः । जिनोक्तं श्रद्दधात्येव जीवाद्यर्थं यथास्थितम् ॥२६

उक्तं च—

जो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे चावि । जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥१८
ननूक्तेषु किमेतावानस्ति किं वा परोऽप्यतः । लक्ष्यते येन सद्दृष्टिर्लक्षणेनान्वितः पुमान् ॥२७
अपराण्यपि लक्ष्माणि सन्ति सम्यग्दृगात्मनः । सम्यक्त्वेनाविनाभूतैर्यैश्च संलक्ष्यते सुदृक् ॥२८
उक्तमाक्षं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः । नादेयं कर्मसर्वस्वं तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ॥२९
सम्यक्त्वं वस्तुतः सूक्ष्मं केवलज्ञानगोचरम् । गोचरं चावधिस्वान्तपर्ययज्ञानयोर्द्वयोः ॥३०
न गोचरं मतिज्ञानश्रुतज्ञानयोर्मनाक् । नापि देशावधेस्तत्र विषयोऽनुपलब्धितः ॥३१
अस्त्यात्मनो गुणः कश्चित्सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् । तद्दृङ्मोहोदयान्मिथ्यास्वादरूपमनादितः ॥३२
दैवात्कालादिसंलब्धौ प्रत्यासन्ने भवार्णवे । भव्यभावविपाकाद्वा जीवः सम्यक्त्वमश्नुते ॥३३

हो जाता है ॥२३॥ सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमे किसीको धर्मश्रवण कारण पड़ता है, किन्हीको बड़े-बड़े देवोकी ऋद्धियोंका देखना ही कारण पड़ता है, किन्हीको जातिस्मरण (पहले भवका स्मरण हो जाना) ही कारण पड़ता है और किन्हीको नरकादिककी तीव्र वेदनाके कारण आत्माको तीव्र दु:ख होना या आत्माका तिरस्कार होना ही सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमे कारण पड़ता है ॥२४॥ प्रथम सम्यग्दर्शन उत्पन्न होते समय मिथ्यात्व आदि सातो प्रकृतियोके अभावरूप अन्तरग कारणोके होने पर ऊपर लिखे बाह्य कारण भी निमित्तकारण होते हैं तथा इनके सिवाय और भी ऐसे ही अनेक कारण निमित्तकारण पड़ जाते हैं ॥२५॥ इस प्रकारका सम्यग्दर्शन जिसके उत्पन्न हो गया है ऐसे इस सम्यग्दृष्टीका लक्षण निश्चयसे यही है कि वह भगवान् सर्वज्ञदेवके द्वारा कहे हुए जीवादिक पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका अवश्य श्रद्धान करता है ॥२६॥

कहा भी है—जो न तो इन्द्रियोसे विरक्त होता है और न त्रस स्थावर जीवोकी हिंसाका त्याग करता है जो केवल भगवान् अरहन्त देवके कहे हुए पदार्थोंका श्रद्धान करता है उसको अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं ॥१८॥ शंका—क्या सम्यग्दृष्टिके विषयमे इतना ही कथन है या और भी है ? क्या ऐसा कोई लक्षण है जिस लक्षणसे युक्त यह जीव सम्यग्दृष्टि कहलाता है ? ॥२७॥ समाधान—सम्यग्दृष्टि आत्माके और भी लक्षण हैं, सम्यक्त्वके अविनाभावी जिन लक्षणोके द्वारा सम्यग्दृष्टि जीव लक्षित किया जाता है ॥२८॥ यथा पहले इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानका कथन कर आये हैं जो सम्यग्दृष्टि आत्माके लिए उपादेय नही माना गया है। इसी प्रकार उसके लिए सम्पूर्ण कर्म भी उपादेय नही माना गया है। और यह बात प्रत्यक्षसे भी दिखाई देती है कि सम्यग्दृष्टिकी इन सबमें हेय बुद्धि हो जाती है ॥२९॥ वास्तवमे सम्यग्दर्शन अत्यन्त सूक्ष्म है जो या तो केवलज्ञान-का विषय है या अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञानका विषय है ॥३०॥ यह मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन दोनोंका किञ्चित् भी विषय नही है। साथ ही यह देशावधिज्ञानका भी विषय नहीं है, क्योकि इन ज्ञानोंके द्वारा सम्यग्दर्शनकी उपलब्धि नही होती ॥३१॥ आत्माका निर्विकल्प सम्यक्त्व नामका एक गुण है। जो दर्शन मोहनीयके उदयसे अनादिकालसे मिथ्या स्वादरूप हो रहा है ॥३२॥ देववश कालादिलब्धियोंके प्राप्त होने पर जब संसार समुद्र निकट रह जाता है और भव्य भावका परिपाक

प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत् । अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात् ॥३४
अस्त्युपशमसम्यक्त्वं दृङ्मोहोपशमात् यथा । पुंसोऽवस्थान्तराकारं नाकारं चिद्विकल्पके ॥३५
सामान्याद्वा विशेषाद्वा सम्यक्त्वं निर्विकल्पकम् । सत्तारूपं परिणामि प्रदेशेषु परं चितः ॥३६
तत्रोल्लेखस्तमोनाशे तमोरेरिव रश्मिभिः । दिशः प्रसादमासेदुः सर्वतो विमलाशयाः ॥३७
दृङ्मोहोपशमे सम्यग्दृष्टेरुल्लेख एव वै । शुद्धत्वं सर्वदेशेषु त्रिधा बन्धापहारि यत् ॥३८
यथा वा मद्यधत्तूरपाकस्यास्तङ्गतस्य वै । उल्लेखो मूर्च्छितो जन्तुरुल्लाघः स्यादमूर्च्छितः ॥३९
दृङ्मोहस्योदयान्मूर्च्छा वैचित्यं वा तथा भ्रमः । प्रशान्ते तस्य मूर्च्छाया नाशाज्जीवो निरामयः ॥४०

होता है तब यह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होता है ॥३३॥ उक्त कारण सामग्रीके मिलते ही इस जीवके बिना किसी प्रयत्नके एक अन्तर्मुहूर्तके लिए दर्शन मोहनीयके उपशम होता है और तब गुण श्रेणी निर्जरा भी होती है ॥३४॥ दर्शन मोहनीयके उपशमसे जो उपशम सम्यक्त्व होता है वह जीवकी मिथ्यात्व अवस्थासे सर्वथा भिन्न दूसरी अवस्थारूप है जिसका चैतन्यके विकल्पमें आकार नहीं आता ॥३५॥ सम्यग्दर्शन सामान्य और विशेष दोनो प्रकारसे निर्विकल्प है, सत्त्वरूप है और केवल आत्माके प्रदेशोमे परिणमन करनेवाला है ॥३६॥ जैसे सूर्यकी किरणोके द्वारा अन्धकारका नाश हो जानेपर दिशाएँ सब तरफसे निर्मल होकर प्रसन्नताको प्राप्त होती हैं वैसे ही दर्शन मोहनीयका उपशम होने पर सम्यग्दृष्टिके भी वही दशा होती है। इसके जो सम्यग्दर्शन होता है वह सब प्रदेशोमे शुद्ध होता है और तीन प्रकारके बन्धको दूर करनेवाला होता है ॥३७-३८॥ अथवा जिस प्रकार मदिरा और धतूरेके परिपाक होने पर यह जीव मूर्छित होता है और इसकी नशा दूर हो जानेपर यह जीव मूर्छारहित होकर प्रसन्न हो जाता है ॥३९॥ उसी प्रकार दर्शन मोहनीयके उदयसे इस जीवके मूर्छा वैचित्य या भ्रम देखा आता है और दर्शन मोहनीय कर्मके उपशान्त हो जानेपर मूर्छाका नाश हो जानेसे यह जीव निरामय देखा जाता है ॥४०॥ विशेषार्थ—यहाँ सम्यक्त्व किस ज्ञानका विषय है इस बातका निर्देश करके सम्यक्त्व आत्माका गुण है यह बतलाया गया है और साथ ही उसकी उत्पत्तिकी सामग्री पर प्रकाश डाला गया है। सम्यक्त्व अमूर्त आत्माका गुण है इसलिए इसका प्रत्यक्ष ज्ञान केवलज्ञानके सिवाय अन्य ज्ञानो द्वारा सम्भव नहीं है। फिर भी यहाँ वह अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञानका भी विषय बतलाया गया है सो इसका कारण भिन्न है। बात यह है कि परमावधि और सर्वावधिका विषय कर्म तो है ही, इसलिए इन ज्ञानोके द्वारा कर्मके उपशम आदिको जानकर अवधिज्ञानी यह जान लेता है कि इस आत्मामे सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो गया है। इसी प्रकार कर्मके निमित्तसे होने वाली मनकी पर्याय मन पर्ययज्ञान-का विषय होनेसे मन पर्ययज्ञान भी सम्यक्त्वको जान लेता है। पर शेष ज्ञान सम्यक्त्वको नहीं जान सकते, क्योंकि वे स्थूल मूर्त पर्यायोको ही जानते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व किस ज्ञानका विषय है यह तो स्पष्ट हो जाता है। अब सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी सामग्रीके सम्बन्धमे विचार करना है। बात यह है कि सम्यक्त्वकी उत्पत्ति अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन कालके शेष रहने पर ही होती है। उसमे भी इस कालके भीतर जब सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी योग्यता होती है तभी यह सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके विषयमे ऐसा नियम है कि सर्वप्रथम उपशम सम्यक्त्व होता है जो अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण-पूर्वक होता है। उसमे भी मिथ्यात्व-का अन्तरकरण उपशम होता है और अनन्तानुबन्धी चतुष्कका अनुदयरूप उपशम होता है। इस सम्यक्त्वका अन्तर्मुहूर्त काल है। इसके होने पर जीवकी ऐसी अवस्था प्रकट होती है जिससे उसका

श्रद्धानादिगुणाः बाह्यं लक्ष्म सम्यग्दृगात्मनः । न सम्यक्त्वं तदेवेति सन्ति ज्ञानस्य पर्ययाः ॥४१
अपि चात्मानुभूतिश्च ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात् । अर्थात् ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेद्बाह्यलक्षणम् ॥४२
यथोल्लाघो हि दुर्लक्ष्यो लक्ष्यते स्थूललक्षणैः । वाङ्मनःकायचेष्टानामुत्साहादिगुणात्मकैः ॥४३
नन्वात्मानुभवः साक्षात्सम्यक्त्वं वस्तुतः स्वयम् । सर्वतः सर्वकालस्य मिथ्यादृष्टेरसम्भवात् ॥४४
नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि सत्सामान्यविशेषयोः । अप्यनाकारसाकारलिङ्गयोस्तद्यथोच्यते ॥४५
आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः । सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥४६
नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता । शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥४७
नन्वस्ति वास्तवं सर्वं सामान्यं च विशेषवत् । तत्किञ्चित्स्यादनाकारं किञ्चित्साकारमेव तत् ॥४८
सत्यं सामान्यवज्ज्ञानमथान्यच्चास्ति विशेषवत् । यत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् ॥४९
ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सल्लक्षणाङ्किताः । सामान्याद्वा विशेषाद्वा सत्यमनाकारलक्षणाः ॥५०
ततो वक्तुमशक्यत्वान्निर्विकल्पस्य वस्तुनः । तदुल्लेखं समालेख्य ज्ञानद्वारा निरूप्यते ॥५१
स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहकं ज्ञानमेकशः । नात्र ज्ञानमपूर्वार्थो ज्ञानं ज्ञानं परः परः ॥५२

चित्त संसार और संसारके कारणोंसे स्वभावतः हट जाता है। यों तो सम्यक्त्वकी उत्पत्तिकी प्रक्रियाके विषयमें बहुत कुछ वक्तव्य है पर यहाँ संक्षेपमें उसका संकेतमात्र किया है। सम्यग्दृष्टि आत्माके यद्यपि श्रद्धान आदि गुण होते हैं पर वे उसके बाह्य लक्षण हैं। सम्यक्त्व उन रूप नहीं है, क्योंकि वे ज्ञानकी पर्याय हैं ॥४१॥ तथा आत्मानुभूति भी ज्ञान ही है, क्योंकि वह ज्ञानकी पर्याय है। वास्तवमें वह आत्मानुभूति ज्ञान ही है सम्यक्त्व नहीं। यदि उसे सम्यक्त्व माना भी जाय तो वह उसका बाह्य लक्षण है ॥४२॥ आशय यह है कि जिस प्रकार स्वास्थ्य लाभ जन्य हर्षका ज्ञान करना कठिन है परन्तु वचन, मन और शरीरकी चेष्टाओंके उत्साह आदि गुणरूप स्थूल लक्षणोंसे उसका ज्ञान कर लिया जाता है उसी प्रकार अतिसूक्ष्म और निर्विकल्प सम्यग्दर्शनका ज्ञान करना कठिन है तो भी श्रद्धान आदि बाह्य लक्षणोंके द्वारा उसका ज्ञान कर लिया जाता है ॥४३॥ शंका—वास्तवमें आत्मानुभव ही साक्षात् सम्यक्त्व है, क्योंकि मिथ्यादृष्टिके इसका कभी भी पाया जाना असम्भव है ॥४४॥ समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सत्सामान्य और सद्विशेषका तथा अनाकार और साकारके चिह्नोंका तुम्हें कुछ ज्ञान ही नहीं है। जो इस प्रकार है—ज्ञानमें अर्थका विकल्प होना आकार कहलाता है और अर्थ स्व-परके भेदसे दो प्रकार है। अथवा सोपयोग अवस्थाका होना ही विकल्प है जो कि ज्ञानका लक्षण है ॥४५–४६॥ आकारका नहीं होना ही अनाकार है। उसीका नाम वास्तवमें निर्विकल्पता है। यह निर्विकल्पता ज्ञानके सिवाय शेष अनन्त गुणोंका लक्षण है ॥४७॥ शंका—जब कि सत्सामान्य और सद्विशेष यह सब वास्तविक है तब फिर कुछ अनाकार है और कुछ साकार है ऐसा क्यों ॥४८॥ समाधान—यह कहना ठीक है तथापि ज्ञान वास्तवमें सामान्य और विशेष दोनों प्रकारका होता है। उनमेंसे जो सामान्य ज्ञान है वह अनाकार होता है और जो विशेष ज्ञान है वह साकार होता है। तथा ज्ञानके सिवाय सत् लक्षण वाले सामान्य या विशेष रूप और जितने भी गुण कहे गये हैं वे सब वास्तवमें अनाकार ही होते हैं ॥४९–५०॥ इसलिये निर्विकल्प वस्तुका कथन करना शक्य नहीं होनेसे जहाँ भी उसका उल्लेख किया जाता है वह ज्ञान द्वारा ही किया जाता है ॥५१॥

यद्यपि स्व और अपूर्व दोनों प्रकारके पदार्थोंको ज्ञान युगपत् ग्रहण करता है तथापि ज्ञान अपूर्वार्थ नहीं हो सकता है। किन्तु ज्ञान ज्ञान है और पर पर है ॥५२॥ यतः चित् शक्ति ज्ञानमात्र

स्वार्थो हि ज्ञानमात्रस्य ज्ञानमेकं गुणश्चितः । परार्थाः स्वात्मसम्बन्धिगुणाः शेषाः सुखादयः ॥५३
तद्यथा सुखदुःखादिभावो जीवगुणः स्वयम् । ज्ञानं तद्वेदकं नूनं नार्थाद्ज्ञानं सुखादिमत् ॥५४
अपि सन्ति गुणाः सम्यक् श्रद्धानादिविकल्पकाः । उद्देशो लक्षणं तेषां तत्परीक्षाऽधुनोच्यते ॥५५
तत्रोद्देशो यथा नाम श्रद्धारुचिप्रतीतयः । चरणं च यथाम्नायादर्थात्तत्त्वार्थगोचरम् ॥५६
तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा सात्म्यं रुचिस्तथा । प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकारश्चरणं क्रिया ॥५७
अर्थादाद्यत्रिकं ज्ञानं ज्ञानस्यैवार्थपर्ययात् । क्रिया वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ॥५८
व्यस्ताश्चैते समस्ता वा सद्दृष्टेर्लक्षणं न वा । सपक्षे वा विपक्षे वा सन्ति यद्वा न सन्ति वा ॥५९
स्वानुभूतिसनाथाश्चेत्सन्ति श्रद्धादयो गुणाः । स्वानुभूतिं विनाभासा नार्थाच्छ्रद्धादयो गुणाः ॥६०
तस्माच्छ्रद्धादयः सर्वे सम्यक्त्वं स्वानुभूतिवत् । न सम्यक्त्वं तदाभासा मिथ्याश्रद्धादिवत्स्वतः ॥६१
सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां विना श्रद्धादिमात्रकाः । सपक्षवद्विपक्षेऽपि वृत्तित्वाद् व्यभिचारिणः ॥६२
अर्थाच्छ्रद्धादयः सम्यग्दृष्टिश्रद्धादयो यतः । मिथ्याश्रद्धादयो मिथ्या नार्थाच्छ्रद्धादयो यतः ॥६३
ननु तत्त्वरुचिः श्रद्धा श्रद्धामात्रैकलक्षणात् । सम्यग्मिथ्याविशेषाभ्यां सा द्विधा तु कुतोऽर्थतः ॥६४
नैवं यतः समव्याप्तिः श्रद्धास्वानुभवद्वयोः । नूनं नानुपलब्धार्थे श्रद्धा खरविषाणवत् ॥६५

मानी गयी है अतः केवलज्ञान ही उसका स्वार्थ है और स्वात्मासे सम्बन्ध रखनेवाले शेष सुखादि गुण उसके परार्थ हैं ॥५३॥ आशय यह है कि सुख दुःखादि भाव यद्यपि जीवके निज गुण हैं और ज्ञान उसका वेदक है तथापि वास्तवमें ज्ञान सुखादिरूप नहीं है ॥५४॥ यतः सम्यक् श्रद्धान आदि-के भेदसे और भी बहुतसे गुण हैं, इसलिए यहाँ अब उनका उद्देश, लक्षण और परीक्षा कहते हैं ॥५५॥ उनमेंसे उद्देश इस प्रकार है। जैसे कि आम्नायके अनुसार जीवादि पदार्थ-विषयक श्रद्धा, रुचि, प्रतीति और चरणको सम्यक्त्व कहना उद्देश है ॥५६॥ इनमेसे जीवादि पदार्थोंके सन्मुख बुद्धिका होना श्रद्धा है। बुद्धिका तन्मय हो जाना रुचि है। 'ऐसा ही है' इस प्रकार स्वीकार करना प्रतीति है और अनुकूल क्रिया करना चरण है ॥५७॥ इनमेसे आदिके तीन वास्तवमे ज्ञान ही हैं, क्योंकि श्रद्धा, रुचि और प्रतीति ये ज्ञानकी ही पर्याय हैं। तथा चरण यह चारित्रगुणकी पर्याय है, क्योंकि शुभ कार्योंमे जो वचन, काय और मनका व्यापार होता है उसे चरण कहते हैं ॥५८॥ ये श्रद्धा आदि चारो पृथक् पृथक् रूपसे अथवा समस्त रूपसे सम्यग्दृष्टिके लक्षण भी हैं और नहीं भी हैं, क्योंकि ये सपक्ष और विपक्ष दोनो ही अवस्थाओंमे पाये जाते हैं और नही भी पाये जाते हैं ॥५९॥ यदि स्वानुभूतिके साथ होते हैं तो श्रद्धादिक गुण हैं और स्वानुभूतिके बिना वे वास्तवमे गुण नही हैं किन्तु गुणाभास है ॥६०॥ इसलिए यह निष्कर्ष निकला कि श्रद्धा आदिक सभी गुण स्वानुभूतिके साथ समीचीन हैं और सम्यक्त्वके बिना मिथ्या श्रद्धा आदि रूप होनेके कारण वे तदाभास हैं ॥६१॥ सम्यक् और मिथ्या विशेषणके बिना जब केवल श्रद्धा आदिक विवक्षित होते है तब उनकी सपक्ष-के समान विपक्षमे वृत्ति देखी जाती है अतः वे व्यभिचारी हैं ॥६२॥ यतः सम्यग्दृष्टिके श्रद्धा आदिक ही वास्तवमे श्रद्धा आदिक हैं अतः मिथ्यादृष्टिके श्रद्धा आदिकको मिथ्या जानना चाहिए। वे वास्तवमे श्रद्धा आदिक नही हैं ॥६३॥ शंका—जब कि तत्त्व रुचिका नाम श्रद्धा है क्योंकि उसका श्रद्धा यही एक मात्र लक्षण है। तब फिर वह वास्तवमे सम्यक्श्रद्धा और मिथ्याश्रद्धा ऐसी दो भेद वाली कैसे हो जाती है ? ॥६४॥ समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रद्धा और स्वानुभव इन दोनोमे समव्याप्ति है, इसलिए अनुपलब्ध पदार्थमे गधेके सींगके समान श्रद्धा हो ही

विना स्वात्मानुभूतिं तु या श्रद्धा श्रुतमात्रतः । तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥६६

लब्धिः स्यादविशेषाद्वा सदसतोरुन्मत्तवत् । नोपलब्धिरिहाख्याता तच्छेषानुपलब्धिवत् ॥६७

ततोऽस्ति यौगिकी रूढिः श्रद्धा सम्यक्त्वलक्षणम् । अर्थादप्यविरुद्धं स्यात्सूक्तं स्वात्मानुभूतिवत् ॥६८

गुणाश्चान्ये प्रसिद्धा ये सद्दृष्टेः प्रशमादयः । बहिर्दृष्ट्या यथा स्वं ते सन्ति सम्यक्त्वलक्षणम् ॥६९

तत्राद्यः प्रशमो नाम संवेगश्च गुणः क्रमात् । अनुकम्पा तथास्तिक्यं वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा ॥७०

प्रशमो विषयेषूच्चैर्भावक्रोधादिकेषु च । लोकासंख्यातमात्रेषु स्वरूपाच्छिथिलं मनः ॥७१

सद्यः कृतापराधेषु यद्वा जीवेषु जातुचित् । तद्वधादिविकाराय न बुद्धिः प्रशमो मतः ॥७२

हेतुस्तत्रोदयाभावः स्यादनन्तानुबन्धिनाम् । अपि शेषकषायाणां नूनं मन्दोदयोंऽशतः ॥७३

आरम्भादिक्रिया तस्य दैवाद्वा स्यादकामतः । अन्तःशुद्धेः प्रसिद्धत्वान्न हेतुः प्रशमक्षतेः ॥७४

सम्यक्त्वेनाविनाभूतः प्रशमः परमो गुणः । अन्यत्र प्रशमंमन्येऽप्याभासः स्यात्तदत्ययात् ॥७५

संवेगः परमोत्साहो धर्मे धर्मफले चितः । सधर्मेष्वनुरागो वा प्रीतिर्वा परमेष्ठिषु ॥७६

धर्मः सम्यक्त्वमात्रात्मा शुद्धस्यानुभवोऽथवा । तत्फलं सुखमत्यक्षमक्षयं क्षायिकं च यत् ॥७७

नहीं सकती ॥६५॥ स्वानुभूतिके बिना केवल श्रुतके आधारसे जो श्रद्धा होती है वह यद्यपि तत्त्वार्थानुगत है तो भी तत्त्वार्थकी उपलब्धि नहीं होनेसे वह वास्तविक श्रद्धा नहीं है ॥६६॥ सत् और असत्‌की विशेषता न करके उन्मत्त पुरुषके समान पदार्थोंकी जो उपलब्धि होती है वह वास्तवमें उपलब्धि नहीं है किन्तु उन पदार्थोंके सिवाय शेष पदार्थोंकी अनुपलब्धिके समान वह अनुपलब्धि ही है ॥६७॥ इसलिए यौगिक रूढ़िके आधारसे श्रद्धा सम्यक्त्वका लक्षण है यह कहना वास्तवमें तब अविरुद्ध हो सकता है जब उसे स्वानुभूतिसे युक्त मान लिया जाय ॥६८॥ सम्यग्दृष्टि जीवके जो प्रशमादिक अन्य गुण प्रसिद्ध हैं बाह्य-दृष्टिसे वे भी यथायोग्य सम्यक्त्वके लक्षण है ॥६९॥ उनमेंसे पहला प्रशम गुण है, दूसरा संवेग है, तीसरा अनुकम्पा है और चौथा आस्तिक्य है। अब क्रमसे इनका लक्षण कहते हैं ॥७०॥ पञ्चेन्द्रियोंके विषयोमे और असंख्यात लोक प्रमाण क्रोधादिक भावोमें स्वभावसे मनका शिथिल होना प्रशम भाव है ॥७१॥ अथवा उसी समय अपराध करनेवाले जीवोंके विषयमे कभी भी उनके मारने आदिकी प्रयोजक बुद्धिका नही होना प्रशम भाव है ॥७२॥ इस प्रशम भावके होनेमे अनन्तानुबन्धी कषायोका उदयाभाव और शेष कषायोका अश रूपसे मन्दोदय कारण है ॥७३॥ यद्यपि प्रशम भावसे युक्त सम्यग्दृष्टि जीव दैव वश बिना इच्छाके आरम्भ आदि क्रिया करता है तथापि अन्तरंगमे शुद्धता होनेसे वह क्रिया उसके प्रशम गुणके नाशका कारण नही हो सकती ॥७४॥ सम्यक्त्वके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला जो प्रशम भाव है वह परम गुण है और सम्यक्त्वके अभावमे जो प्रशम भाव होता है वह प्रशम भाव न होकर प्रशमाभास है ऐसा मैं मानता हूँ ॥७५॥ विशेषार्थ—कषाय और विषयाभिलाषा ही जीवनमे व्याकुलताका कारण है और जहाँ व्याकुलता है वहाँ प्रशमभावका होना अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि प्रशम गुणके लक्षणका निर्देश करते हुए उसे क्रोधादि कषाय और विषयोमे मनकी शिथिलतारूप बतलाया है। किन्तु इस प्रकारकी मनकी शिथिलता कदाचित् सम्यक्त्वके अभावमे भी देखी जाती है जिससे कि प्रशम गुण सम्यक्त्वका सहचारी नही माना गया है। किन्तु जो प्रशम गुण अनन्तानुबन्धीके उदयाभावमें होता है वह अवश्य ही सम्यक्त्वका सहचारी है, क्योकि सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुबन्धी कषायोका उदय नही पाया जाता। यद्यपि अनन्तानुबन्धी कषायका

इतरत्र पुनारागस्तद्गुणेष्वनुरागतः । नातद्गुणेऽनुरागोऽपि तत्फलस्याप्यलिप्सया ॥७८
अत्रानुरागशब्देन नाभिलाषो निरुच्यते । किन्तु शेषमधर्माद्वा निवृत्तिस्तत्फलादपि ॥७९
न चाऽऽशंक्यं निषिद्धः स्यादभिलाषो भोगेष्वलम् । शुद्धोपलब्धिमात्रेऽपि हेयो भोगाभिलाषवत् ॥८०
अर्थात्सर्वोऽभिलाषः स्यान्मिथ्या कर्मोदयात्परम् । स्वार्थसार्थक्रियासिद्ध्यै नालं प्रत्यक्षतो यतः ॥८१
क्वचित्तस्यापि सद्भावे नेष्टसिद्धिरहेतुतः । अभिलाषस्याभावेऽपि स्वेष्टसिद्धिस्तु हेतुतः ॥८२
यशःश्रीसुतमित्रादि सर्वं कामयते जगत् । नास्य कामोऽभिलाषेऽपि विना पुण्योदयात्सतः ॥८३
जरामृत्युदरिद्रादि नापि कामयते जगत् । तत्संयोगो बलादस्ति सतस्तत्राशुभोदयात् ॥८४
संवेगो विधिरूपः स्यान्निर्वेदस्तु निषेधनात् । स्याद्विवक्षावशाद्द्वैतं नार्थादर्थान्तरं तयोः ॥८५
त्यागः सर्वाभिलाषस्य निर्वेदो लक्षणात्तथा । संवेगोऽप्यथवा धर्मः साभिलाषो न धर्मवान् ॥८६
नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः । नित्यं रागादिसद्भावात्प्रत्युताऽधर्म एव हि ॥८७
नित्यं रागी कुदृष्टिः स्यान्न स्यात्क्वचिदरागवान् । अस्तरागोऽस्ति सद्दृष्टिर्नित्यं वा स्यान्न रागवान् ॥८८

उदयाभाव तीसरे गुणस्थानमे भी होता है पर यह इसका अपवाद है इतना यहाँ विशेष समझना चाहिए।

धर्ममे और धर्मके फलमे आत्माका परम उत्साह होना या समान धर्म वालोमे अनुरागका होना या परमेष्ठियोमे प्रीतिका होना सवेग है ॥७६॥ सम्यक्त्व मात्र या शुद्ध आत्माका अनुभव ही धर्म है और अतीन्द्रिय, अविनाशी क्षायिक सुख ही उसका फल है ॥७७॥ समान धर्मवालोमे और पाँच परमेष्ठियोमे जो अनुराग हो वह उनके गुणोमे अनुराग बुद्धिसे ही होना चाहिये। किन्तु जो समान धर्मवालो या पाँच परमेष्ठियोके गुणोंसे रहित हैं उनमे इनके समान होनेकी लिप्साके बिना भी अनुराग नही होना चाहिए ॥७८॥ प्रकृतमे अनुराग शब्दका अर्थ अभिलाषा नही कहा गया है। किन्तु अधर्म और अधर्मके फलसे निवृत्ति होकर जो शेष रहता है वही अनुराग शब्दका अर्थ है ॥७९॥ ऐसी आशंका भी नही करना चाहिये कि अभिलाषा केवल भोगोंमे ही निषिद्ध मानी गई है। किन्तु जैसे भोगोकी अभिलाषा निषिद्ध है वैसे ही शुद्धोपलब्धिकी अभिलाषा भी निषिद्ध मानी गई है ॥८०॥ वास्तवमे जितनी भी अभिलाषा है वह सब सम्यग्दर्शनके अभावमे होती है इसलिये वह अज्ञानरूप ही है, क्योकि जिसे तत्त्वार्थकी प्राप्ति नही हुई है वही प्राप्त करना चाहता है। जिसने प्राप्त कर लिया है वह नही ॥८१॥ उदाहरणार्थ—कहीपर अभिलाषाके होनेपर भी कारण सामग्रीके नही मिलनेसे इष्ट सिद्धि नही होती है और कहीपर अभिलाषाके नही होने पर भी कारण सामग्रीके मिल जानेसे इष्ट सिद्धि हो जाती है ॥८२॥ यद्यपि सम्पूर्ण जगत् यश, लक्ष्मी, पुत्र और मित्र आदिकी चाह करता है तथापि पुण्योदयके बिना केवल चाह मात्रसे उनकी प्राप्ति नही होती ॥८३॥ इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्, जरा, मृत्यु और दरिद्रता आदिकी चाह नही करता है तथापि यदि जीवके अशुभका उदय है तो चाहके बिना भी बलात् (हठात्) उनका संयोग हो जाता है ॥८४॥ सवेग विधिरूप होता है और निर्वेद निषेधरूप होता है। विवक्षा वशसे ही ये दो हैं वास्तवमे इन दोनोमे कोई भेद नही है ॥८५॥ सब प्रकारकी अभिलाषाओका त्याग ही निर्वेद है, क्योकि इसका यही लक्षण है। अथवा वह निर्वेद संवेगरूप धर्म प्राप्त होता है, क्योंकि जो अभिलाषा सहित होता है उसके संवेगधर्म नही हो सकता ॥८६॥ यदि क्रियामात्रको धर्म कहा जाय सो भी बात नहीं है, क्योकि मिथ्यादृष्टिके निरन्तर रागादि पाये जाते हैं इसलिए वह

अनुकम्पा कृपा ज्ञेया सर्वसत्त्वेष्वनुग्रहः । मैत्रीभावोऽथ माध्यस्थ्यं निःशल्यं वैरवर्जनात् ॥८९
दृङ्मोहानुदयस्तत्र हेतुर्वाच्योऽस्ति केवलम् । मिथ्याज्ञानं विना न स्याद्वैरभावः क्वचिद्यथा ॥९०
मिथ्या यत्परतः स्वस्य स्वस्माद्वा परजन्मिनाम् । इच्छेत्तत्सुखदुःखादि मृत्युर्वा जीवितं मनाक् ॥९१
अस्ति यस्यैतदज्ञानं मिथ्यादृष्टिः स शल्यवान् । अज्ञानाद्धन्तुकामोऽपि क्षमो हन्तुं न चापरम् ॥९२
समता सर्वभूतेषु यानुकम्पा परत्र सा । अर्थतः स्वानुकम्पा स्याच्छल्यवच्छल्यवर्जनात् ॥९३
रागाद्यशुद्धभावानां सद्भावे बन्ध एव हि । न बन्धस्तदसद्भावे तद्विधेया कृपात्मनि ॥९४
आस्तिक्यं तत्त्वसद्भावे स्वतः सिद्धे मतिनिश्चिता । धर्मे हेतौ च धर्मस्य फले चात्मादि धर्मवित् ॥९५
अस्त्यात्मा जीवसंज्ञो यः स्वतः सिद्धोऽप्यमूर्तिमान् । चेतनः स्यादजीवस्तु यावानप्यस्त्यचेतनः ॥९६
अस्त्यात्माऽनादितो बद्धः कर्मभिः कार्मणात्मकैः । कर्ता भोक्ता च तेषां हि तत्क्षयान्मोक्षभाग्भवेत् ॥९७
अस्ति पुण्यं च पापं च तद्धेतुस्तत्फलं च वै । आस्रवाद्यास्तथा सन्ति तस्य संसारिणोऽनिशम् ॥९८
अस्त्येव पर्ययादेशाद् बन्धो मोक्षस्तु तत्फलम् । अपि शुद्धनयादेशात् शुद्धः सर्वोऽपि सर्वदा ॥९९
तत्रायं जीवसंज्ञो यः स्वसंवेद्यश्चिदात्मकः । सोऽहमन्ये तु रागाद्या हेयाः पौद्गलिका अमी ॥१००
इत्याद्यनादिजीवादि वस्तुजातं यतोऽखिलम् । निश्चयव्यवहाराभ्यामास्तिक्यं तत्तथामतिः ॥१०१

वास्तवमें अधम ही है ॥८७॥ मिथ्यादृष्टि जीव निरन्तर रागी होता है वह रागरहित कभी भी नहीं हो सकता और सम्यग्दृष्टि जीव निरन्तर रागरहित होता है अथवा उसके सदा काल राग नहीं पाया जाता ॥८८॥ अनुकम्पाका अर्थ कृपा है। या सब जीवोंका अनुग्रह करना अनुकम्पा है। या मैत्री भावका नाम अनुकम्पा है। या मध्यस्थ भावका रखना अनुकम्पा है। या शत्रुताका त्याग कर देनेसे शल्यरहित हो जाना अनुकम्पा है ॥८९॥ इसका कारण केवल दर्शन मोहनीयका अनुदय है, क्योंकि मिथ्या ज्ञानके बिना किसी जीवमें वैर भाव नहीं होता है ॥९०॥ परके निमित्तसे अपने लिए या अपने निमित्तसे अन्य प्राणियोंके लिए थोड़े ही सुख, दुःखादि या मरण और जीवनकी चाह करना मिथ्या ज्ञान है ॥९१॥ और जिसके यह अज्ञान होता है वही मिथ्यादृष्टि है और वह शल्यवाला है। वह अज्ञान वश दूसरेको मारना चाहता है पर मार नहीं सकता ॥९२॥ सब प्राणियोंमें जो समभाव धारण किया जाता है वह परानुकम्पा है और काँटेके समान शल्यका त्याग कर देना वास्तवमें स्वानुकम्पा है ॥९३॥ रागादि अशुद्ध भावोंके सद्भावमें बन्ध ही होता है और उनके अभावमें बन्ध नहीं होता, इसलिए अपने ऊपर ऐसी कृपा करनी चाहिए जिससे रागादि भाव न हों ॥९४॥ स्वतः सिद्ध तत्त्वोंके सद्भावमें निश्चय भाव रखना तथा धर्म, धर्मके हेतु और धर्मके फलमें आत्माकी अस्ति आदि रूप बुद्धिका होना आस्तिक्य है ॥९५॥ जो स्वतः सिद्ध है, अमूर्त है और चेतन है वह आत्मा है। इसका दूसरा नाम जीव है तथा इसके सिवाय जितना भी अचेतन पदार्थ है वह सब अजीव है ॥९६॥ आत्मा अनादि कालसे कार्मण वर्गणा रूप कर्मोंसे बँधा हुआ है। और अपनेको उन्हींका कर्ता व भोक्ता मान रहा है। जब इनका क्षय कर देता है तब मुक्त हो जाता है ॥९७॥ उस संसारी जीवके पुण्य, पाप, इनका कारण, इनका फल और आस्रव आदि सदैव बने रहते हैं ॥९८॥ इस प्रकार पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा बन्ध भी है, मोक्ष भी है और उनका फल भी है। किन्तु शुद्ध नयकी अपेक्षा सभी जीव सदा शुद्ध हैं ॥९९॥ उनमें एक जीव ही ऐसा है जो स्वसंवेद्य, चिदात्मक और 'सोऽहम्' प्रत्ययवेद्य होनेसे उपादेय है। बाकी जितने भी रागादिक भाव हैं वे सब हेय हैं, क्योंकि वे पौद्गलिक हैं ॥१००॥ इस प्रकार अनादि कालसे चला

सम्यक्त्वेनाविनाभूतस्वानुभूत्येकलक्षणम् । आस्तिक्यं नाम सम्यक्त्वं मिथ्यास्तिक्यं ततोऽन्यथा ॥१०२
ननु वै केवलज्ञानमेकं प्रत्यक्षमर्थतः । न प्रत्यक्षं कदाचित्तच्छेषज्ञानचतुष्टयम् ॥१०३
यदि वा देशतोऽध्यक्षमाक्ष्यं स्वात्मसुखादिवत् । स्वसंवेदनप्रत्यक्षमास्तिक्यं तत्कुतोऽर्थतः ॥१०४
सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि । प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादितः ॥१०५
स्वात्मानुभूतिमात्रं स्यादास्तिक्यं परमो गुणः । भवेन्मा वा परद्रव्ये ज्ञानमात्रे परत्वतः ॥१०६
अपि तत्र परोक्षत्वे जीवादौ परवस्तुनि । गाढं प्रतीतिरस्यास्ति यथा सम्यग्दृगात्मनः ॥१०७
न तथास्ति प्रतीतिर्वा नास्ति मिथ्यादृशः स्फुटम् । दृङ्मोहस्योदयात्तत्र भ्रान्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥१०८
ततः सिद्धमिदं सम्यग्युक्तिस्वानुभवागमात् । सम्यक्त्वेनाविनाभूतमस्त्यास्तिक्यं गुणो महान् ॥१०९

उक्तं च—

संवेओ णिव्वेओ णिंदण गरहा य उवसमो भत्ती । वच्छल्लं अणुकम्पा अट्ठगुणा हुंति सम्मत्ते ॥१८

उक्तं गाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादिचतुष्टयम् । नातिरिक्तं यतोऽस्त्यत्र लक्षणस्योपलक्षणम् ॥११०
अस्त्युपलक्षणं यत्तल्लक्षणस्यापि लक्षणम् । तत्तथास्यादिलक्ष्यस्य लक्षणं चोत्तरस्य तत् ॥१११
यथा सम्यक्त्वभावस्य संवेगो लक्षणं गुणः । स चोपलक्ष्यते भक्त्या वात्सल्येनाथवार्हताम् ॥११२

आया। समस्त जीवादि वस्तु समुदाय निश्चय और व्यवहार नयसे जो जैसा माना गया है वह वैसा ही है ऐसी बुद्धिका होना आस्तिक्य है ॥१०१॥ सो सम्यक्त्वका अविनाभावी है जिसका स्वानुभूति एक लक्षण है वह सम्यक् आस्तिक्य है और इसमे विपरीत मिथ्या आस्तिक्य है ॥१०२॥ शंका—वास्तवमे एक केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष है बाकीके चारो ज्ञान कभी भी प्रत्यक्ष नही हैं ॥१०३॥ अथवा अपने आत्माके सुखादिककी तरह इन्द्रियजन्य ज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष हैं इसलिये आस्तिक्य भाव स्वसवेदन प्रत्यक्षका विषय कैसे हो सकता है ? ॥१०४॥ समाधान—यह कहना ठीक है तथापि आदिके दो ज्ञान परपदार्थोंका ज्ञान करते समय यद्यपि परोक्ष हैं तथापि दर्शनमोहनीयके उपशम आदिके कारण स्वानुभवके समय वे प्रत्यक्ष ही हैं ॥१०५॥ प्रकृतमें अपने आत्माकी अनुभूति ही आस्तिक्य नामका परमगुण माना गया है। फिर चाहे परद्रव्यका ज्ञान हो चाहे मत हो, क्योकि परपदार्थ पर है ॥१०६॥ दूसरे यद्यपि जीवादि परपदार्थ परोक्ष हैं तथापि इस सम्यग्दृष्टि जीवको जैसी उनकी गाढ़ प्रतीति होती है ॥१०७॥ वैसी उनकी स्पष्ट प्रतीति मिथ्यादृष्टिके कभी नहीं होती, क्योकि दर्शनमोहनीयके उदयसे उसके निरन्तर भ्रान्ति बनी रहती है ॥१०८॥ इसलिये युक्ति, स्वानुभव और आगमसे यह भली भाँति सिद्ध होता है कि सम्यक्त्वके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला आस्तिक्य नामका महान् गुण है ॥१०९॥

कहा भी है—'सवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये सम्यक्त्वके आठ गुण हैं ॥१८॥

उक्त गाथा सूत्रमे भी प्रशम आदि चारो ही कहे गये हैं अधिक नहीं क्योंकि इस गाथा सूत्रमे लक्षणके उपलक्षणकी विवक्षा है ॥११०॥ जो लक्षणका भी लक्षण है वह उपलक्षण कहलाता है। क्योकि जो आगेके लक्ष्यका लक्षण है वही प्रथम लक्ष्यका उपलक्षण है ॥१११॥ सम्यक्त्व भाव-का संवेग गुण लक्षण है, इसलिये सम्यक्त्व भाव अरहन्तोकी भक्ति और वात्सल्यसे उपलक्षित हो जाता है। आशय यह है कि सम्यक्त्वका संवेग गुण लक्षण है और अरहन्तोकी भक्ति और वात्सल्य ये दोनो गुण संवेग गुणके लक्षण हैं, इसलिये ये दोनो सम्यक्त्वके उपलक्षण प्राप्त होते

तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसां शमात् । वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यतं मनः ॥११३
भक्तिर्वा नाम वात्सल्यं न स्यात्संवेगमन्तरा । संवेगो हि दृशो लक्ष्म द्वावेतावुपलक्षणौ ॥११४
दृङ्मोहस्योदयाभावात्प्रसिद्ध प्रशमो गुण । तत्रापि व्यञ्जकं बाह्यान्निन्दनं चापि गर्हणम् ॥११५
निन्दनं तत्र दुर्वाररागादौ दुष्टकर्मणि । पश्चात्तापकरो बन्धो नोपेक्ष्यो नाप्यपेक्षित ॥११६
गर्हणं तत्परित्याग पञ्चगुर्वात्मसाक्षिक । निष्प्रमादतया नूनं शक्तित कर्महानये ॥११७
अर्थादिदं द्वयं सूक्तं सम्यक्त्वस्योपलक्षणम् । प्रशमस्य कषायाणामनुद्रेकाविशेषत ॥११८
शेषमुक्तं यथाम्नायाद् ज्ञातव्यं परमागमात् । आगमाब्धे परम्पारं मादृग्गन्तुं क्षम कथम् ॥११९
एवमित्यादिसत्यार्थं प्रोक्तं सम्यक्त्वलक्षणम् । कैश्चिल्लक्षणिकै सिद्धं प्रसिद्धं सिद्धसाधनात् १२०
भवेद्दार्शनिको नूनं सम्यक्त्वेन युतो नर । दर्शनप्रतिमाभास क्रियावानपि तद्विना ॥१२१
देशत सर्वतश्चापि क्रियारूपं व्रतादि यत् । सम्यक्त्वेन विना सर्वमव्रतं कुतपश्च तत् ॥१२२
तत प्रथमतोऽवश्यं भाव्यं सम्यक्त्वधारिणा । अव्रतिनाणुव्रतिना मुनिनाथेन सर्वत ॥१२३

है ॥११२॥ कर्मोका उपशम हो जानेपे वचन, शरीर और चित्तका उद्धत न होना ही भक्ति है और सम्यक्त्वके गुणोका उत्कर्ष करनेके लिए मनका तत्पर रहना ही वात्सल्य है ॥११३॥ भक्ति और वात्सल्य ये संवेगके बिना नही होते, इसलिये संवेग सम्यग्दर्शनका लक्षण है और ये दोनो उसके उपलक्षण हैं ॥११४॥ दर्शनमोहनीयके उदयाभावसे प्रशम गुण होता है और उसके निन्दा और गर्हा ये बाह्य रूपसे अभिव्यंजक है ॥११५॥ वारण करनेके लिये कठिन ऐसे रागादि दुष्ट कर्मके सद्भावमें बन्ध अवश्य होता है जो न तो अपेक्षणीय है और न उपेक्षित भी है इस प्रकार पश्चात्ताप करना निन्दन है ॥११६॥ और प्रमाद रहित होकर शक्त्यनुसार कर्मोंका नाश करनेके के लिये पाँच गुरु और अपनी साक्षीपूर्वक रागादि भावोका त्याग करना गर्हा है ॥११७॥ यत प्रशम गुणके समान इन दोनो गुणोमे कषायोके अनुद्रेककी अपेक्षा कोई विशेषता नही है अत ये दोनो वास्तवमे सम्यक्त्वके उपलक्षण है यह जो पहले कहा है सो बहुत ही अच्छा कहा है ॥११८॥ इस प्रकार पहले सम्यक्त्वके जिन गुणोका वर्णन कर आये है उनके सिवाय शेष कथन आम्नायके अनुसार परमागमसे जान लेना चाहिये, क्योकि आगमरूपी समुद्रके उस पार जानेके लिए हम सरीखे जन कैसे समर्थ हो सकते हैं ॥११९॥ इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार जो सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है वही यथार्थ लक्षण है। वही लक्षण समस्त लक्षणोके जानकार कितने ही सिद्ध पुरुषोने कहा है और यही लक्षण हेतुवादमे सिद्ध होता है ॥१२०॥ इस प्रकार जिस सम्यग्दर्शनका लक्षण कहा है उससे जो सुशोभित होता है जिसके वह सम्यग्दर्शन होता है वह मनुष्य दार्शनिक अथवा दर्शन प्रतिमावाला कहलाता है। यदि किसी मनुष्यके वह सम्यग्दर्शन न हो और वह मनुष्य क्रियावान् हो, यत्नाचारसे चलने वाला या व्रतादिकोको पालन करनेवाला हो तो भी दर्शनिक या दर्शनप्रतिमावाला नही कहलाता, दर्शनप्रतिमाभास अथवा मिथ्यादृष्टि कहलाता है ॥१२१॥ क्योकि संसारमे जितने भी क्रियारूप व्रत या तप है वे चाहे एकदेशरूप हो और चाहे पूर्णरूप महाव्रत हो वे सब बिना सम्यग्दर्शनके अव्रत कहलाते हैं तथा बिना सम्यग्दर्शनके जितना भी तप है वह सब कुतप कहलाता है ॥१२२॥ इसलिए अव्रती श्रावकोको या अणुव्रतादि गृहस्थोंके बारह व्रत धारण करनेवाले श्रावकोको और महाव्रतादि धारण करनेवाले मुनियोको सबसे पहले सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिये ॥१२३॥

ऋते सम्यक्त्वभावं यो धत्ते व्रततपःक्रियाम् । तस्य मिथ्यागुणस्थानमेकं स्यादागमे स्मृतम् ॥१२४
प्रकृतोऽपि नरो नैव मुच्यते कर्मबन्धनात् । स एव मुच्यतेऽवश्यं यदा सम्यक्त्वमश्नुते ॥१२५
किञ्च प्रोक्ता क्रियाऽप्येषा दर्शनप्रतिमात्मिका । सम्यक्त्वेन युता चेत्सा तद्गुणस्थानवर्तिना ॥१२६
तत्राप्यस्ति विशेषोऽयं तुर्यपञ्चमयोर्द्वयो । योगाद्वा रूढितश्चापि गुणस्थानविशेषयो ॥१२७
सैवैका क्रिया साक्षादष्टमूलगुणात्मिका । व्यसनाद्युज्झिता चापि दर्शनेन समन्विता ॥१२८
एवमेव च सा चेत्स्यात्कुलाचारक्रमात्परम् । विना नियमाद्वि तावत्प्रोच्यते सा कुलक्रिया ॥१२९
भावशून्या क्रिया यस्मान्नेष्टसिद्धये भवन्ति हि । क्रियामात्रफलं चास्ति स्वल्पभोगाद्युपक्रमम् ॥१३०
दर्शनप्रतिमा नास्य गुणस्थानं न पञ्चमम् । केवलं पाक्षिक स स्याद्गुणस्थानादसंयत ॥१३१
किन्तु सोऽपि क्रियामात्रात्कुलाचारक्रमागतात् । स्वर्गादिसम्पदो भुक्त्वा क्रमाद्याति शिवात्मकम् १३२

शास्त्रोमे लिखा है कि विना सम्यग्दर्शनके जो व्रत या तपश्चरणकी क्रियाओंको धारण करता है उसके सदा पहला मिथ्यात्वगुण स्थान ही रहता है ॥१२४॥ विना सम्यग्दर्शनके कैसा ही विद्वान् पुरुष क्यो न हो कर्मबन्धनसे कभी छूट नही सकता तथा वही मनुष्य जब सम्यग्दर्शन धारण कर लेता है तब फिर वह उन कर्मबन्धनोसे अवश्य छूट जाता है ॥१२५॥ ऊपर जो यह दर्शन प्रतिमारूप क्रिया बतलायी है वह यदि उन गुणस्थानोमे होनेवाले सम्यग्दर्शनके साथ हो तब तो वह दर्शनप्रतिमा कहलाती है अन्यथा नही ॥१२६॥ उसमे भी इतना विशेष है कि सम्यग्दर्शनके साथ-साथ आठ मूलगुणोका साक्षात् धारण करनेरूप क्रिया तथा सातो व्यसनोंके त्याग करनेरूप क्रिया योगसे तथा रूढ़िसे चौथे पाँचवें दोनो विशेष गुणस्थानोमे एक-सी ही होती है। भावार्थ—चौथे गुणस्थानमे सम्यग्दर्शन भी होता है और आठ मूलगुणोका पालन तथा सातो व्यसनोका त्याग भी होता है। पाँचवें गुणस्थानमे भी ये सब क्रियायें होती हैं। इस प्रकार चौथे पाँचवें दोनो गुणस्थानोंमे ये ऊपर लिखी क्रियायें एक-सी होती हैं तथापि उनमे नीचे लिखे अनुसार अन्तर है ॥१२७–१२८॥ यदि ये ऊपर लिखी क्रियाएँ विना किसी नियमके यों ही कुलपरम्परासे चली आयी हो तो उनको व्रत नही कहते किन्तु कुलक्रिया कहते हैं। भावार्थ—व्रत तभी कहलाता है जब कि नियमपूर्वक धारण किया जाता है। मद्यमांसादिकका या व्यसनोका नियमपूर्वक त्याग किये विना कुलाचार कहलाता है व्रत नही कहलाता ॥१२९॥ इसका भी कारण यह है कि विना भावोंके को हुई किसी भी क्रियासे अपने इष्टपदार्थोंकी सिद्धि नही होती है। ऐसे विना भावोंके जो क्रियाएँ की जाती हैं उनका फल केवल क्रिया करने मात्रका होता है जैसे थोडी-सी भोगोपभोगकी सामग्रीका मिल जाना आदि। इसके सिवाय और कुछ फल नहीं मिलता तथा जो त्याग भावपूर्वक किया जाता है उसका फल स्वर्ग मोक्ष मिलता है ॥१३०॥ इस प्रकार जो मनुष्य मद्य, मांस, मधु, पाँचो उदुम्बर तथा व्यसनोका सेवन नही करता, परन्तु उनके सेवन न करनेका नियम भी नही लेता, इन ऊपर लिखे पापोको भावपूर्वक त्याग नहीं करता उसके न तो दर्शनप्रतिमा होती है और न पाँचवाँ गुणस्थान ही होता है। उसको केवल पाक्षिक श्रावक कहते हैं और उसके असयत नामका चौथा गुणस्थान होता है ॥१३१॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शनको धारण करनेवाला पुरुष भी कुलक्रमसे चली आयी परिपाटीके अनुसार जो क्रियाएँ पालन करता है वह भी स्वर्गादिककी सम्पदाओंको भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है

सम्यक्त्वेन विहीनोऽपि नियमेनाप्यवोज्झितः । योऽपि कुलक्रियासक्तः स्वर्गादिपदभाग्भवेत् ॥१३३
यदा क्रियां च तामेव कुलाचारोचितां पराम् । व्रतरूपेण गृह्णाति तदा दर्शनिको मतः ॥१३४
दर्शनप्रतिमा चास्य गुणस्थानं च पञ्चमम् । संयतासंयताख्यश्च संयमोऽस्य जिनागमात् ॥१३५
दृगाद्येकादशान्तानां प्रतिमानामनादितः । पञ्चमेन गुणेनामा व्याप्तिः साधीयसी स्मृते ॥१३६
ननु या प्रतिमा प्रोक्ता दर्शनाख्या तदादिमा । जैनानां सास्ति सर्वेषामर्थादव्रतिनामपि ॥१३७
नैवं सति तदा तुर्यगुणस्थानस्य शून्यता । नूनं दृक्प्रतिमा यस्माद्गुणे पञ्चमके मता ॥१३८
नोह्यं दृक्प्रतिमामात्रमस्तु तुर्यगुणे नृणाम् । व्रतादिप्रतिमा शेषाः सन्तु पञ्चमके गुणे ॥१३९
नैवं सति नियमादस्याव्रतित्वं कुतोऽर्थतः । व्रतादिप्रतिमासूच्चैरव्रतित्वानुषङ्गतः ॥१४०

॥१३२॥ तथा जो पुरुष सम्यग्दर्शनसे भी रहित होता है और नियमपूर्वक भावपूर्वक मद्य, मास, मधु, उदुम्बर, व्यसन आदिका त्याग भी नही करता, केवल अपनी कुलक्रियाका पालन करता है कुलपरम्पराके अनुसार, मद्य, मास, मधु, पाँचो उदुम्बर और व्यसनोका सेवन नही करता वह मनुष्य भी स्वर्गादिक सुखोंको प्राप्त करता है ॥१३३॥ यदि वही मनुष्य सम्यग्दर्शनके साथ-साथ कुलपरम्परासे चली आयी परिपाटीके अनुसार मद्य, मास आदिके न सेवन करनेरूप क्रियाओको व्रतरूपसे धारण कर लेता है तब वह दर्शनप्रतिमाको धारण करनेवाला दार्शनिक कहलाता है ॥१३४॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शनके साथ नियमपूवक आठो मूलगुणोको धारण करनेवाले तथा सातों व्यसनोका त्याग करनेवाले पुरुषके पहली दर्शन प्रतिमा कहलाती है। उसका गुणस्थान संयतासयत नामका पाँचवाँ गुणस्थान कहलाता है और वह भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए शास्त्रोके अनुसार अपने सयमका पालन करता है ॥१३५॥ यह निश्चय है कि सम्यग्दर्शनको आदि लेकर—जो ग्यारह प्रतिमायें हैं उनकी निर्दोष व्याप्ति अनादिकालसे पाँचवें गुणस्थानके साथ ही चली आ रही है ॥१३६॥ यहाँपर शंकाकार कहता है कि यह जो पहिली दर्शनप्रतिमा कही है वह तो समस्त जैनियोके होती है और इस हिसाबसे अव्रत सम्यग्दृष्टिके भी अवश्य होनी चाहिए ॥१३७॥ समाधान—परन्तु यह मानना ठीक नही है क्योकि यदि ऐसा मान लिया जायगा अर्थात् अव्रत सम्यग्दृष्टियोके भी पहिली प्रतिमा मान ली जायगी तो फिर चौथे गुणस्थानका सर्वथा अभाव मानना पड़ेगा क्योकि यह नियम है कि दर्शनप्रतिमा पाँचवें गुणस्थानमे ही होती है। भावार्थ—यदि अविरत सम्यग्दृष्टिके ही दर्शनप्रतिमा मान ली जाय तो फिर उसके पाँचवाँ गुणस्थान ही मानना पड़ेगा क्योकि प्रतिमाएँ सब पाँचवें गुणस्थानमे ही होती है तथा अविरत सम्यग्दृष्टिके पाँचवाँ गुणस्थान माननेसे फिर चौथा गुणस्थान कोई बन ही नहीं सकेगा इस प्रकार चौथे गुणस्थानका अभाव ही मानना पडेगा ॥१३८॥ यहाँपर शंकाकार फिर कहता है कि अच्छा भाई, मनुष्योंके होनेवाली दर्शनप्रतिमा तो चौथे गुणस्थानमे ही मान लो और शेष बची हुई व्रतादिक दश प्रतिमाओको पाँचवें गुणस्थानमे मान लो। ऐसा माननेसे कोई विशेष हानि भी नही है परन्तु ग्रन्थकार कहते है कि यह शंका करना भी ठीक नही है। इसका कारण यह है कि नियमपूर्वक मद्य मांसादिकका त्याग कर लेनेपर भी फिर अव्रतीपना किस कारणसे माना जायगा। यदि नियमपूर्वक मद्य, मांसादिकके त्याग करने रूप व्रतको धारण कर लेनेपर भी अव्रत अवस्था मानी जायगी तो फिर व्रत आदि बाकीकी दश प्रतिमाओको धारण कर लेनेपर भी अव्रत अवस्था मान लेनी पडेगी। तथा ऐसा माननेसे फिर पाँचवें गुणस्थानका अभाव या लोप मानना पडेगा इसलिए

ततो विनिर्णीतं साधु सामान्यतस्तथा कुलक्रिया । नियमेन तथा या सा दर्शनप्रतिमात्मिका ॥१४१
किञ्च मूलगुणादीनामष्टानामपि वर्जने । समस्ते प्रतिमा स्यात्सा व्यस्ते सति कुलक्रिया ॥१४२
यथा चैकस्य कस्यापि व्यसनस्योज्झने कृते । दर्शनप्रतिमा न स्यात्स्याद्वा साध्वी कुलक्रिया ॥१४३
यदा मूलगुणाष्टानां द्यूतादिव्यसनोज्झनम् । दर्शनं सर्वतश्चैतत्त्रयं स्यात्प्रतिमा तदा ॥१४४
दर्शनप्रतिमायास्तु क्रियाया व्रतरूपतः । तस्याः कुलक्रियायाश्चाविशेषोऽप्यस्ति लेशतः ॥१४५
प्रमादोद्रेकतोऽवश्यं सदोषा स्यात्कुलक्रिया । निर्दोषा स्वल्पदोषा वा दर्शनप्रतिमाक्रिया ॥१४६
यथा कश्चित्कुलाचारी द्यूतादिव्यसनोज्झनम् । कुर्याद्वा न यथेच्छायां कुर्यादिव इहात्मकः ॥१४७

उक्त शंका सर्वथा अनुचित है। दर्शनप्रतिमा पाँचवें गुणस्थानमें ही होती है। यही सिद्धान्त शास्त्रानुकूल है और अनादिकालसे चला आ रहा है ॥१३९-१४०॥ अतएव सामान्यरीतिसे विना किसी नियमके केवल कुलपरम्परासे चली आयी परिपाटीके अनुसार जो मद्य, मांस, मधु, पाँच उदुम्बर सातो व्यसनोका सेवन न करना है उसको कुलक्रिया या कुलाम्नाय कहते हैं और यदि उनके सेवन न करनेका नियम ले लिया जाय, नियमपूर्वक मद्यादिकका त्याग कर दिया जाय तो ऐसे सम्यग्दृष्टिके वह दर्शनप्रतिमा कहलाती है। यह जो हमने कहा है सो बहुत ही ठीक शास्त्रानुकूल कहा है ॥१४१॥ उसमे भी इतना विशेष और समझ लेना चाहिए—यदि कोई सम्यग्दृष्टि समस्त आठो मूलगुणोंको धारण करे और समस्त सातो व्यसनोका त्याग करे तब सो उसके पहिली दर्शनप्रतिमा होती है यदि वह अलग-अलग किसी एक दो व्यसनोका त्याग करे अथवा मूलगुणोमेसे किसी एक दो चार मूलगुणोको धारण करे तो उसकी पहिली दर्शनप्रतिमा नहीं कहलाती किन्तु कुलक्रिया कहलाती है ॥१४२॥ जैसे किसी सम्यग्दृष्टि मनुष्यने किसी एक व्यसनका त्याग कर दिया तो उसके दर्शनप्रतिमा नही कहलायेगी, किन्तु श्रेष्ठ कुलक्रिया कहलावेगी ॥१४३॥ जब उसके पूर्ण सम्यग्दर्शन होगा, आठो मूलगुण होगे और सातो व्यसनोका त्याग होगा ये तीनो नियमपूर्वक पूर्ण रीतिसे होगे, तभी उसके पहली दर्शनप्रतिमा होगी अन्यथा नही ॥१४४॥ दर्शनप्रतिमामे होनेवाली व्रतरूप क्रियाओंमे (नियमपूर्वक धारण की हुई क्रियाओमे) तथा विना नियमके होनेवाली कुलक्रियाओकी क्रियाओमे यद्यपि कुछ अशोमे अविशेषता है, एकसापन है तथापि यदि यथार्थ दृष्टिसे देखा जाय तो उसमे बहुत कुछ अन्तर है ॥१४५॥ कुलक्रियामे प्रमादकी तीव्रता होती है क्योकि प्रमाद ही उसे नियमपूर्वक त्याग नही करने देता, अतएव प्रमादकी तीव्रता होनेके कारण कुलक्रियायें सदोष समझी जाती हैं, उनमें समय-समयपर अनेक प्रकारके अनेक दोष लगते रहते हैं तथा दर्शनप्रतिमा धारण करनेवालेकी जो क्रियायें हैं उनमे प्रमादकी अत्यन्त मन्दता है क्योकि प्रमादोकी मन्दतासे ही वह नियमपूर्वक उनका त्याग करता है इसीलिए उसकी क्रियायें निर्दोष हैं अथवा मन्दरूपसे प्रमादकी सत्ता रहनेके कारण क्वचित् कदाचित् कुछ थोडा-सा दोष लग भी जाता है इसलिए उसे थोडेसे दोषवाली क्रियाएँ कहते हैं ॥१४६॥ जैसे कुलक्रियाको पालन करनेवाला कोई पुरुष जुआ खेलने, चोरी करने आदि व्यसनोंका त्याग कर भी सकता है और नहीं भी कर सकता है। त्याग करना और न करना उसकी इच्छापर निर्भर है उसकी इच्छा हो तो त्याग कर दे और यदि उसकी इच्छा न हो तो न करे। उसके नियमपूर्वक त्याग होना ही चाहिए यह बात नहीं है किन्तु दर्शनप्रतिमावालेके नियमपूर्वक इनका त्याग होता है क्योंकि त्याग किये विना दर्शनप्रतिमा हो ही नहीं सकती। बस यही इन दोनोंमें अन्तर है ॥१४७॥

अथ च पाक्षिको यद्वा दर्शनप्रतिमान्वितः । प्रकृतं न परं कुर्यात्कुर्याद्वा वक्ष्यमाणकम् ॥१४८
प्रामाणिकः क्रमोऽप्येष ज्ञातव्यो व्रतसञ्चये । भावना चागृहीतस्य व्रतस्यापि न दूषिका ॥१४९
भावयेद् भावनां नूनमुपर्युपरि सर्वतः । यावन्निर्वाणसम्प्राप्तौ पुंसोऽवस्थान्तरं भवेत् ॥१५०

उक्तं च—

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ तहेव सद्दहणं । सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामर ठाणं १९
यथात्र पाक्षिकः कश्चिद्दर्शनप्रतिमोऽथवा । उपर्युपरिशुद्ध्यर्थं यत्कुर्यात्तदुच्यते ॥१५१
सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत् । नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ॥१५२
मूलोत्तरगुणाः सन्ति देशतो वेश्मवर्तिनाम् । तथानगारिणां न स्युः सर्वतः स्युः परेऽथ ते ॥१५३
तत्र मूलगुणाश्चाष्टौ गृहिणां व्रतधारिणाम् । क्वचिदव्रतिनां यस्मात्सर्वसाधारणा इमे ॥१५४

निसर्गाद्वा कुलाम्नायादायातास्ते गुणाः स्फुटम् ।
तद्विनापि व्रतं यावत्सम्यक्त्वं च गुणोऽङ्गिनाम् ॥१५५

जो पाक्षिक श्रावक होता है अथवा दर्शनप्रतिमाधारी श्रावक होता है वह कुलपरम्परा से चली आयी परिपाटीका पालन नही करता, किन्तु नीचे लिखे अनुसार व्रतोका पालन करता है ॥१४८॥ व्रतोके धारण करनेमे यही क्रम प्रामाणिक समझना चाहिए तथा जो आगेके व्रत धारण नहीं किये हैं उनको धारण करनेके लिए भावना रखनेमे कोई दोष नही है ॥१४९॥ जब तक इस जीवकी अन्तिम शुद्ध अवस्था प्राप्त न हो जाय अर्थात् मोक्ष प्राप्त न हो जाय तब तक ज्यो ज्यो ऊँचे व्रत धारण करता जाय, त्यो त्यो आगेके व्रत धारण करनेके लिए सर्वत्र भावनाएँ रखनी चाहिए ॥१५०॥

कहा भी है—जो कर सकता है वह कर लेना चाहिए और जो नही कर सकता उसका श्रद्धान करना चाहिए क्योकि श्रद्धान करनेवाला जीव अजर अमर ऐसे मोक्षस्थानको प्राप्त होता है ॥१९॥

अब आगे पाक्षिक श्रावक अथवा दर्शन प्रतिमाधारी श्रावक आगे आगे अपनी आत्माको शुद्ध करनेके लिए क्या क्या करता है, कौन कौनसे व्रत पालन करता है इसी बातको दिखलाते हैं ॥१५१॥ इस ससारमे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पाँच पाप कहलाते हैं। इन पाँचो पापोंका पूर्ण रीतिसे मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे त्याग कर देना महाव्रत कहलाते हैं। यह महाव्रत धारण करना भगवान् अरहंतदेवका चिह्न है। जिनलिङ्ग अथवा निर्ग्रन्थ लिङ्ग कहलाता है। इस अवस्थाको इन महाव्रतोको गृहस्थ लोग धारण नही कर सकते ॥१५२॥ किन्तु गृहस्थ लोग एकदेश व्रतोको धारण करते हैं। इन्ही एकदेश व्रतोको मूलगुण और उत्तरगुण कहते हैं। ये एकदेश व्रत रूप मूलगुण अथवा उत्तरगुण मुनियोके नही होते अपितु गृहस्थोंके ही होते हैं। मुनियोके तो हिंसादि पाँचो पापोके पूर्ण रूपसे त्याग करने रूप महाव्रत होते हैं। अथवा यो कहना चाहिए कि मुनियोके मूलगुण और उत्तरगुण इन गृहस्थोंके मूलगुण या उत्तरगुणोंसे सर्वथा भिन्न हैं ॥१५३॥ इनमेसे आठ मूलगुण व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोके होते हैं अथवा अव्रती सम्यग्दृष्टियोके भी होते हैं क्योंकि ये सर्वसाधारण व्रत होते हैं, प्रत्येक मनुष्य के पालन करने योग्य हैं, अतएव व्रती अव्रती दोनो प्रकारके श्रावकोके होते हैं ॥१५४॥ इस जीवके जब तक सम्यग्दर्शन रूप गुण रहता है तबतक मद्य, मांस, मधुका त्याग तथा पाँचो उदुम्बरोका

एतावता विनाप्येष श्रावको नास्ति नामतः । किं पुनः पाक्षिको गूढो नैष्ठिकः साधकोऽथ वा ॥१५६
मद्यमांसमधुत्यागी त्यक्तोदुम्बरपञ्चकम् । नामतः श्रावकः ख्यातो नान्यथापि तथा गृही ॥१५७
यथाशक्ति विधातव्यं गृहस्थैर्व्यसनोज्झनम् । अवश्यं तद्व्रतस्थैस्तैरिच्छद्भिः श्रेयसीं क्रियाम् ॥१५८
त्यजेद् दोषांस्तु तत्रोक्तान् सूत्रेऽतीचारसंज्ञकान् । अन्यथा मद्यमांसादीन् श्रावकः कः समाचरेत्॥ १५९
दानं चतुर्विधं देयं पात्रबुद्ध्याऽथ श्रद्धया । जघन्यमध्यमोत्कृष्टपात्रेभ्यः श्रावकोत्तमैः ॥१६०
कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथोचितम् । पात्रबुद्ध्या निषिद्धं स्यान्निषिद्धं न कृपाधिया ॥१६१
शेषेभ्यः क्षुत्पिपासादि पीडितेभ्योऽशुभोदयात् । दीनेभ्योऽभयदानादि दातव्यं करुणार्णवैः ॥१६२
पूजामप्यर्हतां कुर्याद्यद्वा तत्प्रतिमासु च । स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधीः ॥१६३
सूर्युपाध्यायसाधूनां पुरस्तात्पादयोः स्तुतिम् । प्राग्विधायाष्टधा पूजां विदध्यात्स त्रिशुद्धितः ॥१६४

त्याग रूप गुण चाहे तो स्वभावसे हो और चाहे कुलपरम्पराकी परिपाटीके अनुसार चले आ रहे हो, नियम रूपसे या व्रत रूपसे धारण न किये हों तो भी वे गुण ही कहलाते हैं ॥१५५॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि इन गुणोको धारण किये बिना यह मनुष्य नाम मात्रसे भी श्रावक नहीं कहला सकता। फिर भला पाक्षिक श्रावक या गूढ़ श्रावक या नैष्ठिक श्रावक अथवा साधक श्रावक किस प्रकार कहला सकता है ॥१५६॥ जो मनुष्य मद्य, मांस, मधुका त्यागी है और जिसने पाँचो उदुम्बरोका त्याग कर दिया है ऐसा गृहस्थ नाम मात्रका श्रावक कहलाता है। जिसने इन मद्य मांसादिकका त्याग नहीं किया है वह कभी श्रावक नहीं कहलाता। ऐसे गृहस्थको केवल गृहस्थ कहते हैं श्रावक नहीं कहते अतएव पाक्षिक श्रावकको अथवा दर्शन प्रतिमाधारी श्रावकको इन मद्य मांसादिकका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥१५७॥ इसी प्रकार जो गृहस्थ अपनी कल्याणमय क्रियाओंको करना चाहते हैं, और जिन्होंने ऊपर लिखे मद्य, मांसादिकका त्याग कर दिया है, मूलगुण धारण कर लिये हैं, ऐसे गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार सातों व्यसनोका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥१५८॥ सूत्रोमे या शास्त्रोमे इन आठों मूलगुणोंके अथवा सातो व्यसनोंके जो दोष बतलाए हैं जिनको अतिचारोंके नामसे कहा गया है उनका भी त्याग अवश्य कर देना चाहिए। अन्यथा ऐसा कौन श्रावक है जो मद्य, मांसादिकको साक्षात् सेवन करे ॥१५९॥ इसी प्रकार उत्तम श्रावकोको जघन्य पात्र या मध्यम पात्र अथवा उत्तम पात्रोंके लिए पात्र बुद्धिसे अथवा श्रद्धापूर्वक आहार दान, औषध दान, उपकरण दान और वसतिका दान या अभय दान यह चारो प्रकारका दान अवश्य देना चाहिए ॥१६०॥ इसी प्रकार कुपात्रोंके लिए तथा अपात्रोंके लिए भी उनकी योग्यतानुसार उचित दान देना चाहिए। शास्त्रोंमे इन अपात्र या कुपात्रोंके लिए दान देनेका निषेध पात्र बुद्धिसे किया है। करुणा बुद्धिसे दान देनेका निषेध नहीं किया है ॥१६१॥ इन पात्र कुपात्र अपात्रोंके सिवाय और भी जो जीव अपने अशुभ कर्मके उदयसे भूख या प्यास आदिसे पीड़ित हो या कोई दीन दुःखी हो उनके लिए भी करुणासागर श्रावकोंको अभयदान आदि योग्यतानुसार उचित दान देना चाहिए ॥१६२॥ इसी प्रकार बुद्धिमान् श्रावकोंको भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करनी चाहिए अथवा भगवान् अरहन्तदेवकी प्रतिमामे भगवानकी पूजा करनी चाहिए तथा स्वर और व्यंजनोंको स्थापन कर सिद्ध यन्त्र बनाकर सिद्ध भगवानकी पूजा करनी चाहिए ॥१६३॥ इसी प्रकार मन, वचन, कायकी शुद्धतापूर्वक आचार्य उपाध्याय साधुओंकी जल-चन्दनादिक आठों द्रव्योंसे पूजा करनी चाहिए और फिर उनके समीप बैठकर उनके चरण कमलोंकी स्तुति करनी चाहिए ॥१६४॥

सन्मानादि यथाशक्ति कर्तव्यं च सधर्मिणाम् । व्रतिनां चेतरेषां वा विशेषाद् ब्रह्मचारिणाम् ॥१६५
नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे । देयं सन्मानदानादि लोकानामविरोधत ॥१६६
जिनचैत्यगृहादीनां निर्माणे सावधानता । यथासम्पद्विधेयास्ति दूष्या नावद्यलेशत ॥१६७
सिद्धानामर्हतां चापि यन्त्राणि प्रतिमा शुभा । चैत्यालयेषु संस्थाप्य द्राक् प्रतिष्ठापयेत्सुधी ॥१६८
अपि तीर्थादियात्रासु विदध्यात्सोद्यतं मनः । श्रावक स च तत्रापि संयमं न विराधयेत् ॥१६९
नित्ये नैमित्तिके चैत्यजिनबिम्बमहोत्सवे । शैथिल्यं नैव कर्तव्य तत्त्वज्ञैस्तद्विशेषत ॥१७०
संयमो द्विविधश्चैव विधेयो गृहमेधिभि । विनापि प्रतिमारूपं व्रत यद्वा स्वशक्तित ॥१७१
तपो द्वादशधा द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदतः । कृत्स्नमन्यतमं वा तत्कार्यं चानतिवीर्यवान् ॥१७२

तदनन्तर अपनी शक्तिके अनुसार व्रती या अव्रती धर्मात्माओंका आदर सत्कार करना चाहिए तथा ब्रह्मचारी त्यागियोंका आदर सत्कार विशेष रीतिसे करना चाहिए ॥१६५॥ जो स्त्रियाँ व्रत पालन करती हैं, ब्रह्मचारिणी हैं अथवा क्षुल्लिका है उनका आदर सत्कार करना भी जैन शास्त्रोमे निषिद्ध नही बतलाया है। ऐसी स्त्रियोंका आदर सत्कार भी इस प्रकार करना चाहिए जिससे लौकिक दृष्टिमे कोई किसी प्रकारका विरोध न आवे ॥१६६॥ भगवान् अरहन्तदेवकी प्रतिमा या जिनालय बनवानेमे भी सावधानी रखनी चाहिए। जिन प्रतिमा या जिनालय इस अच्छी रीतिसे बनवाना चाहिए जिससे कि थोडेसे भी पापोसे दूषित न होने पावें ॥१६७॥ बुद्धिमान् गृहस्थोको सिद्ध परमेष्ठीके यत्र बनवाने चाहिए तथा अनेक शुभ लक्षणोसे सुशोभित ऐसी अरहन्त भगवान्की प्रतिमाएँ बनवानी चाहिए। उन सिद्ध यत्र और जिन प्रतिमाओको जिनालयमे स्थापन कर सबसे पहले उनकी प्रतिष्ठा करानी चाहिए ॥१६८॥ श्रावकोको तीर्थ यात्रा, सघयात्रा आदि करनेके लिए भी अपने मनको सदा उत्साहित रखना चाहिए। परन्तु इतना ध्यान रखना चाहिए कि उन तीर्थ यात्रा आदि करनेमे अपने संयममे किसी प्रकारकी बाधा या विराधना नही होनी चाहिए ॥१६९॥ प्रतिदिन होनेवाली पूजा वन्दना या अभिषेक आदिमे तथा किसी निमित्तसे होने वाले अभिषेक पूजा वन्दना आदिमे या किसी जिन प्रतिमा या जिनालयके महोत्सवमे पूजा प्रतिष्ठा रथोत्सव आदि पुण्य बढाने वाले प्रभावनाके कार्योंमे श्रावकोको कभी शिथिल नही होना चाहिए। तथा जो तत्त्वोंके जानकार विद्वान् श्रावक हैं उनको विशेष रीतिसे ऐसे कार्योंमे उत्साह पूर्वक भाग लेना चाहिए। विद्वान् श्रावकोको तो ऐसे पुण्यवर्द्धक कार्योंमे कभी भी शिथिलता नही करनी चाहिए ॥१७०॥ इसी प्रकार गृहस्थ श्रावकोको इन्द्रिय सयम और प्राण सयम दोनो प्रकारके सयमोका पालन करना चाहिए अथवा जिन्होने प्रतिमा रूपसे व्रत धारण नही किये हैं ऐसे पाक्षिक श्रावकोको अपनी शक्तिके अनुसार अहिंसादिक अणुव्रतोका पालन करना चाहिए ॥१७१॥ इसी प्रकार तपके दो भेद हैं—बाह्यतप और अन्तरग तप। बाह्यतपके अनशन, अवमोदर्य, वृत्ति-परिसख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश ये छह भेद हैं तथा अन्तरग तपके प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह भेद हैं। इस प्रकार बारह प्रकार-का तप भी अपनी शक्तिके अनुसार गृहस्थोको पालन करना चाहिए। जो गृहस्थ तपश्चरण पालन करनेकी अधिक शक्ति नही रखते उन्हें भी एक दो बार आदि जितने बन सके उतने तपश्चरण पालन करने चाहिए ॥१७२॥

उक्तं दिग्मात्रतोऽप्यत्र प्रसङ्गाद्वा गृहिव्रतम् । वक्ष्ये चोपासकाध्यायं सावकाशं सविस्तरम् ॥१७३॥

इति दर्शनप्रतिमानामके महाधिकारे सम्यग्दर्शनसामान्यलक्षणवर्णनो नाम
द्वितीय सर्ग समाप्त ॥२॥



इस प्रकार प्रकरणके अनुसार हमने यहाँ पर थोड़ा-सा गृहस्थोंका व्रत बतलाया है। आगे अवकाशके समय या धीरे धीरे विस्तारके साथ श्रावकाचारका वर्णन करेंगे ॥१७३॥

इस प्रकार दर्शनप्रतिमा नामके महाअधिकारमें सम्यग्दर्शनके सामान्य लक्षणका वर्णन करनेवाला यह द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ॥२॥



तृतीय सर्ग

ननु तद्दर्शनस्यैतल्लक्षणं स्यादशेषतः । किमथास्त्यपरं किञ्चिल्लक्षणं तद्वदाद्य नः ॥१
सम्यग्दर्शनमष्टाङ्गमस्ति सिद्धं जगत्त्रये । लक्षणं च गुणश्चाङ्गं शब्दाश्चैकार्थवाचकाः ॥२
निःशङ्कितं तथा नाम निःकाङ्क्षितमतः परम् । विचिकित्सावर्जं चापि यथादृष्टेरमूढता ॥३
उपबृंहणनामाथ सुस्थितीकरणं तथा । वात्सल्यं च यथाम्नायाद्गुणोऽप्यस्ति प्रभावना ॥४

शङ्का भीः साध्वसं भीतिर्भयमेकाभिधा अमी ।
तस्या निष्क्रान्तितो जातो भावो निःशङ्कितोऽर्थतः ॥५

अर्थवशादत्र सूत्रार्थे शङ्का न स्यान्मनीषिणाम् । सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः सन्ति चास्तिक्यगोचराः ॥६
तत्र धर्मादयः सूक्ष्माः सूक्ष्माः कालाणवोऽणवः । अस्ति सूक्ष्मत्वमेतेषां लिङ्गस्याक्षैरदर्शनात् ॥७
अन्तरिता यथा द्वीपसरित्समुद्रनगाधिपाः । दूरार्था भाविनोऽतीता रामरावणचक्रिणः ॥८
न स्यान्मिथ्यादृशो ज्ञानमेतेषां क्वाप्यसंशयम् । संशयादेश्च हेतोर्वै दृङ्मोहस्योदयात्सतः ॥९
न चाऽऽशङ्क्यं परोक्षास्ते सद्दृष्टेर्गोचराः कुतः । तैः सह सन्निकर्षस्य साक्षिकस्याप्यसम्भवात् ॥१०

शंकाकार कहता है कि क्या सम्यग्दर्शनका सम्पूर्ण लक्षण इतना ही है अथवा कुछ और भी है। यदि इसके सिवाय और भी कोई लक्षण है तो उसे आज कहिये ॥१॥ तीनो लोकोमे सम्यग्दर्शनके आठ अंग प्रसिद्ध हैं तथा लक्षण, गुण, अंग आदि सब शब्द एक ही अर्थको कहनेवाले हैं ॥२॥ निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये सम्यग्दर्शनके आठ अंग शास्त्रोकी परम्परापूर्वक अनादिकालसे चले आ रहे हैं ॥३-४॥ शंका, भी, साध्वस, भीति और भय ये शब्द एक ही अर्थको कहनेवाले हैं। जो आत्माके भाव इन शब्दोके द्वारा कही जानेवाली शंकासे रहित हैं उसीको निःशंकित अंग कहते हैं ॥५॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि बुद्धिमानोको अपने किसी भी प्रयोजनसे किसी भी सूत्रके अर्थमे किसी भी पदार्थके स्वरूपमे शंका नही करनी चाहिये। संसारमे जो पदार्थ सूक्ष्म हैं, इन्द्रियगोचर नही हैं, जो अन्तरित हैं अर्थात् जिनके मध्यमे अनेक नदी पर्वत क्षेत्र द्वीप समुद्र आदि पड गये हैं अथवा जो दूरार्थ हैं अर्थात् जो सैकडो हजारो वर्ष पहले हो चुके हैं ऐसे समस्त पदार्थोंपर गाढ विश्वास होना चाहिए। ये सब पदार्थ पहले कहे हुए आस्तिक्य गुणके गोचर होने चाहिए ॥६॥ धर्म-अधर्म आकाश आदि सब सूक्ष्म पदार्थ है, कालाणु भी सब सूक्ष्म हैं और पुद्गलके परमाणु भी सब सूक्ष्म हैं। ये सब पदार्थ इन्द्रियगोचर नही होते और न इनका कोई यथेष्ट हेतु दिखाई पडता है इसीलिये ये सूक्ष्म कहलाते हैं ॥७॥ नदीश्वरादिक द्वीप, क्षीरसागर आदि सागर, मेरु आदिक पर्वत अन्तरित कहलाते हैं। इसी प्रकार राम, रावण, चक्रवर्ती, तीर्थंकर आदि जो पहले हो चुके हैं उनको दूरार्थ कहते हैं ॥८॥ इस प्रकारके सूक्ष्म अन्तरित और दूरार्थ पदार्थोंका ज्ञान मिथ्यादृष्टियोको कभी भी सन्देह रहित नही होता, क्योकि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे उस मिथ्यादृष्टिके सदा सन्देह बना रहता है ॥९॥ कदाचित् यहाँपर कोई यह शंका करे कि सूक्ष्म अन्तरित और दूरार्थ ये सब परोक्ष पदार्थ हैं फिर भला वे सम्यग्दृष्टिके ज्ञानगोचर किस प्रकार हो जायेंगे क्योकि उन सूक्ष्मादिक पदार्थोंका इन्द्रियोके साथ सम्बन्ध होना तो असम्भव ही है।

अस्ति तत्रापि सम्यक्त्वमाहात्म्यं महतां महत् । यदस्य जगतो ज्ञानमस्त्यास्तिक्यपुरस्सरम् ॥११
नासम्भवमिदं यस्मात्स्वभावोऽतर्कगोचर । अतिशयोऽतिवागस्ति योगिनां योगिशक्तिवत् ॥१२
अस्ति चात्मपरिच्छेदि ज्ञान सम्यग्दृगात्मन । स्वसवेदनप्रत्यक्ष शुद्ध सिद्धास्पदोपमम् ॥१३
यत्रानुभूयमानोऽपि सर्वैराबालमात्मनि । मिथ्याकर्मविपाकाद्वै नानुभूति शरीरिणाम् ॥१४
सम्यग्दृष्टे. कुदृष्टेश्च स्वादुभेदोऽस्ति वस्तुनि । न तत्र वास्तवो भेदो वस्तुसीम्नोऽनतिक्रमात् ॥१५
अत्र तात्पर्यमेवैतत्तत्त्वैकत्वेऽपि यो भ्रम । शङ्काया सोऽस्त्यपराधो सास्ति मिथ्योपजीविनी ॥१६
ननु शङ्काकृतो दोषो यो मिथ्यानुभवो नृणाम् । शङ्कापि कुतो न्यायादस्ति मिथ्योपजीविनी ॥१७
अत्रोत्तरं कुदृष्टिर्यं स सप्तभिर्भयैर्युतः । नापि स्पृष्ट सुदृष्टिर्यं सप्तभि स भयैर्मनाक् ॥१८

भावार्थ—शकाकार कहता है कि जब सूक्ष्मादिक पदार्थोंका इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध ही नही होता तो फिर उनका ज्ञान जैसा मिथ्यादृष्टिको होता है वैसा ही सम्यग्दृष्टिको होना चाहिये। जिस प्रकार इन सूक्ष्मादिक पदार्थोंके ज्ञानमे मिथ्यादृष्टिको सन्देह रहता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको भी सन्देह रहना चाहिये परन्तु शकाकारकी यह शंका ठीक नही है ॥१०॥ क्योकि परोक्ष पदार्थोंके जाननेमे महापुरुषोके सम्यग्दर्शनका ऐसा ही कुछ बडा भारी माहात्म्य रहता है जिससे कि उनके ससार भरका ज्ञान आस्तिक्य गोचर होता है। भावार्थ—सम्यग्दर्शनका एक आस्तिक्य गुण है जिससे यह सम्यग्दृष्टि जीव भगवान् सर्वज्ञदेवके कहे हुए सूक्ष्मादिक समस्त पदार्थोंका ज्योंके त्यो सत्तारूपसे श्रद्धान करता है तथा उसी आस्तिक्य गुणके कारण उन सूक्ष्मादिक पदार्थोंको अस्तिरूप समझता है। मिथ्यादृष्टि पुरुषके वह आस्तिक्य गुण होता नही इसलिये मिथ्यादृष्टिको उन पदार्थोंका ज्ञान सन्देहरहित नही होता तथा आस्तिक्य गुण होनेके कारण सम्यग्दृष्टिको उन पदार्थोंका ज्ञान सन्देहरहित होता है ॥११॥ "आस्तिक्यगुणके कारण सम्यग्दृष्टिको समस्त ससारके पदार्थोंका ज्ञान सन्देहरहित हो जाता है" यह बात असम्भव नही है क्योकि सम्यग्दृष्टिका स्वभाव ही ऐसा होता है। जो जिसका जैसा स्वभाव होता है उसमे किसी भी प्रकारका तर्क-वितर्क नही हो सकता। सम्यग्दृष्टिका यह अतिशय वचनोंके अगोचर होता है। जैसे योगियोंकी योग शक्ति वचनोके अगोचर होती है ॥१२॥ सम्यग्दृष्टिका ज्ञान आत्माके शुद्ध स्वरूपको जाननेवाला ज्ञान है। वह ज्ञान शुद्ध है, स्वसवेदन प्रत्यक्ष है और सिद्धोके समान है ॥१३॥ यह अपने शुद्ध आत्माका अनुभव बालकोसे लेकर वृद्धोतक समस्त आत्माओमे होता है ॥१४॥ इसमे भी इतना और समझ लेना चाहिये कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिको केवल पदार्थोंके अनुभवमे, स्वाद लेनेमे अन्तर पडता है। उन आत्माओमे कोई किसी प्रकारका वास्तविक भेद नही है तथा पदार्थोंकी जो सीमायें हैं, मर्यादाएँ हैं उनका उल्लघन कभी नही होता है ॥१५॥ इस सबके कहनेका अभिप्राय यही है कि यद्यपि जाननेवाला आत्मतत्त्व भी समान है। जैसा मिथ्यादृष्टिका है वैसा ही सम्यग्दृष्टिका है तथा जानने योग्य पदार्थ भी दोनोके एक ही हैं, भिन्न-भिन्न नही हैं तथापि मिथ्यादृष्टिको जो पदार्थोंमे भ्रम होता है वह केवल उसकी शकाका अपराध है। तथा वह शका उसके मिथ्यात्वकर्मके उदय होनेके कारण होती है ॥१६॥ यहाँपर शकाकार फिर कहता है कि मनुष्योको अपने आत्माका मिथ्या या विपरीत अनुभव होता है वह शकासे होता है यह बात तो ठीक है परन्तु वह शका मिथ्यात्वकर्मके उदयसे ही होती है यह बात किस प्रकार सिद्ध हो सकती है ? ॥१७॥

इस शंकाका समाधान यह है कि वह शंका मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ही होती है अत

परत्रात्मानुभूतेर्वै विना भीतिः कुतस्तनी । भीतिः पर्यायमूढानां नात्मतत्त्वैकचेतसाम् ॥१९
ततो भीत्यानुमेयोऽस्ति मिथ्याभावो जिनागमात् । सा च भीतिरवश्यं स्याद्धेतोः स्वानुभवक्षते ॥२०
अस्ति सिद्धं परायत्तो भीतः स्वानुभवच्युतः । स्वस्थस्य स्वाधिकारित्वान्नूनं भीतेरसम्भवात् ॥२१
ननु सन्ति चतस्रोऽपि संज्ञास्तस्यास्य कस्यचित् । अर्वाक् तत्स्थितिच्छेदस्थानादस्तित्वसम्भवात् २२
तत्कथं नाम निर्भीकः सर्वतो दृष्टिवानपि । अप्यनिष्टार्थसंयोगादस्त्यध्यक्षं प्रमत्तवान् ॥२३
सत्यं भीतोऽपि निर्भीकस्तत्स्वामित्वाद्यभावतः । रूपिद्रव्यं यथा चक्षुः पश्यदपि न पश्यति ॥२४

मिथ्या दृष्टि सातो भयोंसे सदा ग्रस्त रहता है। परन्तु जिसके मिथ्यात्व कर्मका उदय नही है ऐसा सम्यग्दृष्टि सातो भयोसे किंचिन्मात्र भी नही डरता है। डरनेकी तो बात ही क्या सम्यग्दृष्टि को सातों भय स्पर्श भी नही करते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि शका या डर उत्पन्न करनेवाला मिथ्यात्व कर्म ही है ॥१८॥ जिस समय यह जीव परपदार्थोंमे अपने आत्माका अनुभव करने लगता है उसी समय इसको भय उत्पन्न होता है। परपदार्थोंमे अपने आत्माका अनुभव हुए बिना भय किसी प्रकार उत्पन्न नही हो सकता। इसलिए जो जीव आत्माकी विभाव पर्यायोको ही अपना आत्मा समझ लेते हैं उन्हीको भय होता है। जो जीव केवल अपने शुद्ध आत्माका ही अनुभव करते हैं उनके भय कभी नही हो सकता ॥१९॥ इस प्रकार जब यह बात सिद्ध हो चुकी कि भय मिथ्यात्व कर्मके उदयसे ही होता है, उसके उत्पन्न होनेका और कोई कारण नही है तब यह बात भी अनुमानसे सिद्ध हो जाती है कि जिन जिन जीवोके भय है उनके मिथ्यात्व कर्मका उदय अवश्य है तथा यह बात शास्त्रोसे स्पष्ट है कि मिथ्यात्व कर्मके उदयसे होनेवाला वह भय अपने आत्माके अनुभवका नाश करनेमे अवश्य ही कारण है ॥२०॥ अतएव इस ऊपरके कथनसे यह सिद्ध हुआ कि जो पराधीन है, परपदार्थोंको अपना आत्मा समझ रहा है और इसीलिए जो भय-सहित है वह मनुष्य अपने आत्माके अनुभवसे अवश्य ही रहित है तथा जो मनुष्य अपने आत्माके अनुभवमे लीन है वह अपने ही आत्माका अधिकारी है, परपदार्थका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है इसलिए उस मनुष्यको किसी भी प्रकारका भय होना नितान्त असम्भव है ॥२१॥ यहाँपर कोई शंकाकार कहता है कि किसी किसी सम्यग्दृष्टिके आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ये चारो संज्ञाएँ रहती है तथा उन सज्ञाओका जहाँ तक जिस गुणस्थानतक नाश नही होता है वहाँ तक उन संज्ञाओका अस्तित्व मानना ही पडेगा। अतएव सभी सम्यग्दृष्टि निर्भय होते हैं यह बात कैसे बन सकती है अर्थात् जिस सम्यग्दृष्टिके जहाँतक भय सज्ञा है वहाँ तक तो उसके भय मानना ही पडेगा इसमे तो उसके कोई सन्देह ही नही है। दूसरी बात यह है कि अनिष्ट पदार्थोंका सम्बन्ध होनेपर सम्यग्दृष्टिको भी प्रमाद उत्पन्न होता है और प्रमादके कारण वह भय करने लगता है यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है, अर्थात् सर्पादिक अनिष्ट पदार्थोंका संयोग होने पर उनसे बचनेका प्रयत्न वह करता ही है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टिको भी भय होता है वह सदा निर्भय नहीं रहता है ॥२२–२३॥ समाधान—यह बात ठीक है कि किसी किसी सम्यग्दृष्टिको भय होता है, किन्तु वह सम्यग्दृष्टि भयवान होता हुआ भी निर्भय होता है। इसका भी कारण यह है कि यद्यपि उसके चारो संज्ञाएँ हैं उन संज्ञाओंके कारण उसको भय उत्पन्न होता है परन्तु उसीके साथ यह भी है कि वह सम्यग्दृष्टि अपने आत्माको उन संज्ञाओका स्वामी नही समझता अथवा यों कहना चाहिए कि उन सज्ञाओको अपनी नही समझता किन्तु

सन्ति संसारिजीवानां कर्मांशाश्चोदयागताः । मुह्यन् रज्यन् द्विषंस्तत्र तत्फलेनोपयुज्यते ॥२५
एतेन हेतुना ज्ञानी निःशङ्को न्यायदर्शनात् । देशतोऽप्यत्र मूर्च्छाया शङ्काहेतोरसम्भवात् ॥२६
स्वात्मसञ्चेतनं तस्य कीदृगस्तीति चिन्त्यते । येन कर्मापि कुर्वाणो कर्मणा नोपयुज्यते ॥२७
तत्र भीतिरिहामुत्र लोके वा वेदनाभयम् । चतुर्थी भीतिरत्राणं स्यादगुप्तिस्तु पञ्चमी ॥२८
भीतिः स्याद्वा तथा मृत्युर्भीतिराकस्मिकी ततः । क्रमादुद्देशिताश्चेति सप्तैताः भीतयः स्मृताः ॥२९
तत्रेह लोकतो भीतिः क्रन्दितं चात्र जन्मनि । इष्टार्थस्य व्ययो मा भून्मा मेऽनिष्टार्थसङ्गमः ॥३०
स्थास्यतीदं धनं नो वा दैवान्माभूद्दरिद्रता । इत्याद्याधिश्चिता दग्धुं ज्वलितेवाऽदृगात्मनः ॥३१
अर्थादज्ञानिनो भीतिर्भीतिर्न ज्ञानिनः क्वचित् । यतोऽस्ति हेतुतः शेषाद्विशेषश्चानयोर्महान् ॥३२

कर्मोसे उत्पन्न होनेके कारण उन्हे पौद्गलिक या परपदार्थ रूप समझता है, अथवा उन्हे कर्मजन्य उपाधि समझता हुआ परपदार्थ रूप मानता है इसीलिए उन संज्ञाओंके होनेपर भी उसको भय उत्पन्न नही होता जैसे चक्षु रूपादिक परपदार्थोंको देखता हुआ भी नही देखता । भावार्थ—यद्यपि रूपादिक पदार्थोंको चक्षु देखता है तथापि वास्तवमे देखा जाय तो भावेन्द्रियसे ही पदार्थ देखा जाता है । पुद्गलमयी द्रव्य चक्षुसे कुछ नही देखा जाता । यदि द्रव्य चक्षु ही देखता तो उस शरीरसे जीव निकल जानेके बाद भी देखता परन्तु जीव निकल जानेके बाद वह नहीं देखता । इससे सिद्ध होता है कि देखनेकी शक्ति भावेन्द्रियमे अथवा आत्मामे है । उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि मिथ्यादृष्टिके समान अपनेको सज्ञाओका स्वामी समझकर उसमे लीन नही होता किन्तु उनसे अपनेको सर्वथा भिन्न समझता है और इसीलिए उन सज्ञाओसे उत्पन्न होनेवाला भय उसको नही होता ॥२४॥ इस ससारमे जितने प्राणी हैं उन सबके कर्मोंकी वर्गणाएँ उदयमे आती रहती हैं । उन कर्मोंके उदय होनेसे जो सुख-दुःखादिक फल मिलता है उसमे यह ससारी जीव मोह करने लगता है या राग करने लगता है अथवा द्वेष करने लगता है, परन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुष इन सब कारणोके मिलनेपर निःशंक रहता है । न तो उन कर्मोंके फलोंमे राग करता है, न द्वेष करता है और न मोह करता है क्योकि राग, द्वेष, मोह ये तीनो ही दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे होते है तथा सम्यग्दृष्टि पुरुषके दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव है इसीलिए उसके राग, द्वेष, मोह उत्पन्न नही होते, अतएव यह बात न्यायसे सिद्ध हो जाती है कि सम्यग्ज्ञानीके एकदेश भी मूर्च्छा नही है इसलिए उसके शका होनेके कारण ही असम्भव है ॥२५–२६॥ आगे इसी बातका विचार करते हैं कि इस सम्यग्दृष्टिकी ज्ञानचेतना कैसी विचित्र है जिसके कारण वह सम्यग्दृष्टि कर्मोंको करता हुआ भी उनसे उपयुक्त नही होता ॥२७॥ ससारमे सात प्रकारके भय हैं । क्रमसे उनके नाम ये हैं—इस लोकका भय, परलोकका भय, वेदनाका भय, चौथा अरक्षाका भय, पाँचवाँ अगुप्तिका भय, छठा मृत्युका भय और सातवाँ आकस्मिक भय । ये सात प्रकारके भय हैं ॥२८–२९॥ इनमेसे सबसे पहले इस लोकके भयको बतलाते हैं—मेरे इष्ट पदार्थोंका कभी नाश न हो, इसी प्रकार मेरे अनिष्ट पदार्थोंका भी कभी समागम न हो । इस प्रकार इस जन्ममें सदा विलाप करते रहना, इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोगसे सदा डरते रहना इस लोक सम्बन्धी भय कहलाता है ॥३०॥ "यह घर मेरे ठहरेगा अथवा नही, मेरे घर दैवयोगसे भी कभी दरिद्रता न हो" इस प्रकारकी अन्तरङ्गकी व्याधि रूपी चिन्ताएँ मानो मिथ्यादृष्टिको जलानेके लिए ही उसके हृदयमें सदा जलती रहती हैं ॥३१॥ इस लोकके भयके लक्षणसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि यह इस लोक सम्बन्धी भय अज्ञानी या मिथ्यादृष्टिको ही होता है । वह इस लोक सम्बन्धी

अज्ञानी कर्म नोकर्म भावकर्मात्मकं च यत् । मनुतेऽहं सर्वमेवैतन्मोहादद्वैतवादवत् ॥३३
विश्वाद्भिन्नोऽपि विश्वं स्वं कुर्वन्नात्मानमात्महा । भूत्वा विश्वमयो लोके भयं नोज्झति जातुचित् ३४
तात्पर्यं सर्वतोऽनित्ये कर्मणो पाकसम्भवात् । नित्य बुद्ध्या शरीरादौ भ्रान्तो भीतिमुपैति स ॥३५
सम्यग्दृष्टि सदैकत्वं स्वं समासादयन्निव । यावत्कर्मातिरिक्तत्वाच्छुद्धमत्येति चिन्मयम् ॥३६
शरीरं सुखदु खादि पुत्र-पौत्रादिकं तथा । अनित्य कर्मकार्यत्वादस्वरूपमवैति य ॥३७

लोकोऽयं मे हि चिल्लोको नून नित्योऽस्ति सोऽर्थत ।
नापरो लौकिको लोकस्ततो भीति कुतोऽस्ति मे ॥३८

स्वात्मसञ्चेतनादेव ज्ञानी ज्ञानैकतानत । इह लोकभयान्मुक्तो मुक्तस्तत्कर्मबन्धनात् ॥३९
परलोक परत्रात्मा भाविजन्मान्तरांशभाक् । तत कम्प इव त्रासो भीति परलोकतोऽस्ति सा ॥४०
भद्रं चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ । इत्याद्याकुलित चेत साध्वस पारलौकिकम् ॥४१
मिथ्यादृष्टेस्तदेवास्ति मिथ्याभावैककारणात् । तद्विपक्षस्य सद्दृष्टेर्नास्ति तत्तत्र व्यत्ययात् ॥४२
बहिर्दृष्टिरनात्मज्ञो मिथ्यामात्रैकभूमिक । स्व समासादयत्यज्ञ कर्म कर्म फलात्मकम् ॥४३
ततो नित्यं भयाक्रान्तो वर्तते भ्रान्तिमानिव । मनुते मृगतृष्णायामम्भोभार जन कुधी ॥४४

भय सम्यग्ज्ञानी या सम्यग्दृष्टिको कभी किसी कालमे भी नही होता है । इस प्रकारके इस फल-रूप हेतुसे या इस कार्य रूप हेतुसे यह बात सहज सिद्ध हो जाती है कि सम्यग्दृष्टि और मिथ्या-दृष्टिमे बहुत भारी अन्तर है ॥३२॥ यत. अज्ञानी जीव कर्म, नोकर्म और भावकर्ममय है अत वह इस सबको मोहवश अद्वैतवादके समान अपनेसे अभिन्न मानता है ॥३३॥ वह आत्मघाती विश्वसे भिन्न होकर भी अपने आत्माको विश्वमय मान बैठा है और इस प्रकार विश्वमय होकर लोकमे कभी भी भयसे मुक्त नही हो पाता ॥३४॥ तात्पर्य यह है कि यद्यपि शरीरादि सर्वथा अनित्य हैं तो भी वह मिथ्यात्व कर्मके उदयसे इनमे नित्य बुद्धि रखकर भ्रान्त हो रहा है जिससे वह भयको प्राप्त होता है ॥३५॥ किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव सदा ही अपने आत्मामे एकत्वका अनुभव करता है । वह उसे सब कर्मोंसे भिन्न, शुद्ध और चिन्मय मानता है ॥३६॥ वह शरीर, सुख, दु ख और पुत्र, पौत्र आदिकको अनित्य मानता है और कर्मजन्य होनेसे इन्हे आत्माका स्वरूप नही मानता ॥३७॥ वह ऐसा विचार करता है कि यह चैतन्य लोक ही मेरा लोक है । वह वास्तवमे नित्य है । इससे भिन्न अलौकिक लोक नही है इसलिये मुझे भय कैसे हो सकता है ॥३८॥ इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्माका अनुभव होनेके कारण ज्ञानानन्दमे लीन रहता है । जिससे वह इस लोक सम्बन्धी भयसे सदा मुक्त रहता है और इसके कारणभूत कर्मबन्धनसे भी अपनेको मुक्त अनुभव करता है ॥३९॥ आगामी जन्मान्तरको प्राप्त होनेवाले परभव सम्बन्धी आत्माका नाम ही परलोक है । इसके कारण जीवको कम्पके समान दु ख होता है इसलिये ऐसे भयको परलोक भय कहते हैं ॥४०॥ यदि इस लोकमे जन्म हो तो अच्छा है, दुर्गतिमे मेरा जन्म न होवे इत्यादि रूपसे चित्तका आकुलित होना ही परलोक भय है ॥४१॥ मिथ्यादृष्टि जीवके ऐसा भय अवश्य पाया जाता है, क्योकि इसका कारण एकमात्र मिथ्याभाव है । किन्तु इससे विपरीत सम्यग्दृष्टिके यह भय नही पाया जाता है क्योकि इसके मिथ्याभावका अभाव हो गया है ॥४२॥ मिथ्यादृष्टि जीव अपनी आत्माको नही पहिचानता है, क्योकि वह एकमात्र मिथ्याभूमिमे स्थित है । वह मूर्ख अपनी आत्माको कर्म और कर्मफल रूप ही अनुभव करता है ॥४३॥ इसलिये

अन्तरात्मा तु निर्भीकः पदं निर्भयमाश्रितः । भीतिहेतोरिहावश्यं मिथ्याभ्रान्तेरसम्भवात् ॥४५
मिथ्याभ्रान्तिर्यदन्यत्र दर्शनं चान्यवस्तुनः । यथा रज्जौ तमोहेतोः सर्पाध्यासाद्द्रवत्यधीः ॥४६
स्वसंवेदनप्रत्यक्षं ज्योतिर्यो वेत्त्यनन्यसात् । स बिभेति कुतो न्यायादन्यथाभवनादपि ॥४७
वेदनागन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ । भीतिः प्रागेव कम्पोऽस्या मोहाद्वा परिदेवनम् ॥४८
उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित् । मूर्च्छैव वेदना भीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहुः ॥४९
अस्ति नूनं कुदृष्टेः सा दृष्टिदोषैकहेतुतः । नीरोगस्यात्मनोऽज्ञानान्न स्यात्सा ज्ञानिनः क्वचित् ॥५०
पुद्गलाद्भिन्नचिद्धाम्नो न मे व्याधिः कुतो भयम् । व्याधिः सर्वः शरीरस्य नामूर्तस्येति चिन्तनात् ५१
स्पर्शनादीन्द्रियार्थेषु प्रत्युत्पन्नेषु भाविषु । नादरो यस्य सोऽस्त्यर्थान्निर्भीको वेदनाभयात् ॥५२
व्याधिस्थानेषु तेषूच्चैर्नासिद्धोऽनादरो मनाक् । बाधाहेतोः स्वतस्तेषामामयस्याविशेषतः ॥५३
अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत् । नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमतात्मनः ॥५४
भीतिः प्रागंशनाशात्स्यादंशिनाशभ्रमोऽन्वयात् । मिथ्यामात्रैकहेतुत्वान्नूनं मिथ्यादृशोऽस्ति सा ॥५५
शरणं पर्ययस्यास्तंगतस्यापि सदन्वयम् । तमनिच्छन्निवाज्ञः स त्रस्तोऽस्त्यत्राणसाध्वसात् ॥५६

भ्रमिष्ठ पुरुषके समान वह निरन्तर ही भयाक्रान्त रहता है। ठीक ही है क्योंकि अज्ञानी जीव मृगतृष्णामे ही जल समझ बैठता है ॥४४॥ किन्तु जो अन्तरात्मा है वह निर्भय पदको प्राप्त होनेके कारण सदा ही निर्भीक है, क्योंकि भयकी कारणभूत भ्रान्ति इसके नियमसे पायी जाती है ॥४५॥ जो अन्य पदार्थमे किसी अन्य पदार्थका ज्ञान होता है वह मिथ्या भ्रान्ति कहलाती है। जैसे कि अज्ञानी जीव अन्धकारके कारण रस्सीमे सर्पका निश्चय हो जानेसे डरकर भागता है वैसे ही मिथ्यादृष्टि भी मिथ्यात्वके कारण कर्म और कर्मफलमे आत्माका निश्चय कर लेनेसे डरता रहता है ॥४६॥ किन्तु जो स्वसंवेदन प्रत्यक्ष रूपी ज्योतिको अपनेसे अभिन्न जानता है वह कैसे डर सकता है, क्योंकि उसे ज्ञात रहता है कि कोई भी कार्य अन्यथा नही हो सकता है ॥४७॥

शरीरमे वातादि मलोके कुपित होनेसे जो बाधा उत्पन्न होती है वह वेदना कहलाती है। इस वेदनाके पहले ही शरीरमे कम्प होने लगता है अथवा मोहवश यह जीव विलाप करने लगता है इसीका नाम वेदना भय है ॥४८॥ मैं नीरोग हो जाऊँ, मुझे वेदना कभी भी न हो इस प्रकारकी मूर्च्छाका होना या इस प्रकार बारबार चिन्तवन करना ही वेदना भय है ॥४९॥ वह वेदना भय मिथ्यादर्शनके कारण नीरोग आत्माका ज्ञान न होनेसे मिथ्यादृष्टि जीवके नियमसे होता है। किन्तु ज्ञानी जीवके वह कभी भी नही पाया जाता ॥५०॥ ज्ञानी जीव विचार करता है कि आत्मा चैतन्यमात्रका स्थान है जो पुद्गलसे भिन्न है इसलिये जब कि मुझे व्याधि ही नही तब भय कैसे हो सकता है। जितनी भी व्याधियाँ हैं वे सब शरीरमे ही होती हैं अमूर्त आत्मामे नही ॥५१॥ जिसका स्पर्शन आदि इन्द्रियोके वर्तमानकालीन और भविष्यत्कालीन विषयोमे आदर नहीं है वही वास्तवमे वेदनाभयसे निर्भीक है ॥५२॥ सम्यग्दृष्टि जीवके व्याधियोके आधारभूत इन इन्द्रियों-के विषयोमे अत्यन्त अनादर भावका पाया जाना असिद्ध नहीं है, क्योंकि वे स्वयं बाधाकी कारण हैं इसलिये उनमे रोगसे कोई भेद नही ॥५३॥ जिस प्रकार क्षणिक एकान्त पक्षमें चित्तक्षण आदिकी रक्षा नही की जा सकती उसी प्रकार नाशसे पूर्व ही अंशीके नामकी रक्षा करनेमे अपनी असमर्थता मानना अत्राणभय है ॥५४॥ पर्यायके नष्ट होनेके पहले ही अन्वयरूपसे अंशीके नाशका होना अत्राण भय है। इसका कारण मिथ्याभाव है इसलिये यह मिथ्यादृष्टिके नियमसे होता है ॥५५॥ यद्यपि पर्याय निरन्तर नष्ट होती रहती है तथापि अन्वयरूपसे एक सत् ही शरणभूत है। किन्तु

सद्दृष्टिस्तु चिदंशै स्वै क्षणे नष्टे चिदात्मनि । पश्यन्न नष्टमात्मानं निर्भयोऽत्राणभीतित ॥५७
द्रव्यत क्षेत्रतश्चापि कालादपि च भावत । नात्राणमंशतोऽप्यत्र कुतस्तद्भीर्महात्मन ॥५८
दृङ्मोहस्योदयाद्बुद्धिर्यस्यैकान्तादिवादिन । तस्यैवागुप्तिभीति स्यान्नूनं नान्यस्य जातुचित् ॥५९
असज्जन्म सतो नाशं मन्यमानस्य देहिन । कोऽवकाशस्ततो मुक्तिमिच्छतो गुप्तिसाध्वसात् ॥६०
सम्यग्दृष्टिस्तु स्वं रूपं गुप्तं वै वस्तुनो विदन् । निर्भयोऽगुप्तितो भीतेर्भीतिहेतोरसम्भवात् ॥६१
मृत्यु प्राणात्यय प्राणा कायवागिन्द्रियं मन । निश्वासोच्छ्वासमायुश्च दशैते वाक्यविस्तरात् ॥६२
तद्भीतिर्जीवितं भूयान्माभून्मे मरणं क्वचित् । कदा लेभे न वा दैवादित्याऽऽधि स्वे तनुव्यये ॥६३
नूनं तद्भी कुदृष्टीनां नित्यं तत्त्वमनिच्छताम् । अन्तस्तत्त्वैकवृत्तीनां तद्भीतिर्ज्ञानिनां कुत ॥६४
जीवस्य चेतना प्राणा नूनं स्वात्मोपजीविनी । नार्थान्मृत्युरतस्तद्भी कुत स्यादिति पश्यत. ॥६५
अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम् । तद्यथा विद्युदादीनां पातात्पातोऽसुधारिणाम् ॥६६
भीति भूंयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्दौस्थ्यं कदापि मे । इत्येव मानसी चिन्तापर्याकुलितचेतसाम् ॥६७
अर्थादाकस्मिकभ्रान्तिरस्ति मिथ्यात्वशालिन । कुतो मोक्षोऽस्ति तद्भीतेर्निर्भीकैकपदच्युते ॥६८
निर्भीकैकपदो जीव स्यादनन्तोऽप्यनादिमान् । नास्त्याकस्मिकं तत्र कुतस्तद्भीस्तमिच्छत ॥६९

मिथ्यादृष्टि इसे स्वीकार नही करता इसलिये वह अत्राणभयसे त्रस्त हो रहा है ॥५६॥ यद्यपि चैतन्य आत्माका अपनी चैतन्यरूप पर्यायोकी अपेक्षा प्रति समय नाश हो रहा है। किन्तु सम्यग्दृष्टिजीव इस अपेक्षासे आत्माका नाश मानता हुआ भी अत्राणभयसे निडर है ॥५७॥ यत द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावको अपेक्षा वस्तु थोडी भी अरक्षित नही है अत महात्माओको अत्राण भय कैसे हो सकता है ॥५८॥ दर्शनमोहनीयके उदयसे जिसकी बुद्धि एकान्तवादसे मूढ है उसीके निश्चयसे अगुप्ति भय होता है किन्तु अन्यके (सम्यग्दृष्टिके) ऐसा भय कभी भी नही होता है ॥५९॥ जो प्राणी असत्का जन्म और सत्का नाश मानता है वह अगुप्ति भयसे भले ही छुटकारा चाहता हो पर उसे उससे छुटकारा कैसे मिल सकता है ॥६०॥ किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुके स्वरूपको सदैव सुगुप्ति मानता है इसलिये उसके भयका कारण न रहनेमे वह अगुप्ति भयसे निर्भय है ॥६१॥ प्राणोका वियुक्त होना ही मृत्यु है। विस्तारसे प्राण काय, वचन, पाँच इन्द्रियाँ, मन, श्वासोच्छ्वास और आयु ऐसे दस प्रकारके होते हैं ॥६२॥ मेरा जीवन कायम रहे, मेरा मरण कभी न हो, दैववश भी मैं मृत्युको प्राप्त न होऊँ इस प्रकार अपने शरीरके नाशके विषयमे मानसिक चिन्ताका होना मरणभय है ॥६३॥ तत्त्वको नही पहिचाननेवाले मिथ्यादृष्टियोको सदा ही इस प्रकारका मृत्यु भय बना रहता है किन्तु जिनकी वृत्ति अन्तस्तत्त्वमे लीन है ऐसे ज्ञानियोको मृत्यु भय कैसे हो सकता है ॥६४॥ जीवके चेतना ही प्राण हैं और वह चेतना आत्माका उपजीवी गुण है। वास्तवमे मृत्यु होती ही नही अत इस प्रकारका जो अनुभव करता है उसे मृत्यु भय कैसे हो सकता है ॥६५॥ जो भय अकस्मात् उत्पन्न होता है वह आकस्मिक भय माना गया है। जैसे कि बिजली आदिके गिरनेसे प्राणियोका मरण हो जाता है ऐसे समयमे आकस्मिक भय होता है ॥६६॥

मैं सदा स्वस्थ रहूँ अस्वस्थ कभी न होऊँ इस प्रकार व्याकुल चित्तवालेके जो मानसिक चिन्ता होती है वह आकस्मिक भय है ॥६७॥ वास्तवमे आकस्मिक भय मिथ्यादृष्टियोके ही होता है। ऐसा जीव निर्भय पदसे च्युत रहता है इसलिये इसे आकस्मिकभयसे मुक्ति कैसे मिल सकती है ॥६८॥ वास्तवमे यह जीव निर्भीक पदमे स्थित है, आदि और अन्तसे रहित है।

काङ्क्षा भोगाभिलाषः स्यात्कृते मुष्यक्रियासु वा । कर्मणि तत्फले सात्म्यमन्यदृष्टिप्रशंसनम् ॥७०
हृषीकारुचितेषूच्चैरुद्वेगो विषयेषु यः । स स्याद्भोगाभिलाषस्य लिङ्गं स्वेष्टार्थरञ्जनात् ॥७१
तद्यथा न रतिः पक्षे विपक्षे वारतिं विना । नारतिर्वा स्वपक्षेऽपि तद्विपक्षे रतिं विना ॥७२
शीतद्वेषी यथा कश्चिदुष्णस्पर्शं समीहते । नेच्छेदनुष्णसंस्पर्शमुष्णस्पर्शाभिलाषुकः ॥७३

यस्यास्ति काङ्क्षितो भावो नूनं मिथ्यादृगस्ति सः ।
यस्य नास्ति स सद्दृष्टिः युक्तिस्वानुभवागमात् ॥७४

आस्तामिष्टार्थसंयोगोऽमुत्र भोगाभिलाषतः । स्वार्थसार्थैकसंसिद्धिर्न स्यान्नामैहिकापि सा ॥७५
निस्सारं प्रस्फुरत्येष मिथ्याकर्मैकपाकतः । जन्तोरुन्मत्तवच्चापि वार्धेर्वातोत्तरङ्गवत् ॥७६
ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते । भोगाकाङ्क्षां विना ज्ञानी तत्कथं व्रतमाचरेत् ॥७७
नासिद्धं बन्धमात्रस्य क्रियायाः फलमद्वयम् । शुभमात्रं शुभायाः स्यादशुभायाश्चाशुभावहम् ॥७८
न चाऽऽशङ्क्यं क्रियाऽप्येषा स्यादबन्धफला क्वचित् । दर्शनातिशयाद्धेतोः सरागेऽपि विरागवत् ॥७९
सरागे वीतरागे वा नूनमौदयिकी क्रिया । अस्ति बन्धफलावश्यं मोहस्यान्यतमोदयात् ॥८०
न च वाच्यं स्यात्सद्दृष्टिः कश्चित्प्रज्ञापराधतः । अपि बन्धफलां कुर्यात्तामबन्धफलां विदन् ॥८१

उसे किसी भी प्रकारका आकस्मिक भय नहीं है। जब यह बात है तब इस पदको चाहनेवालेको आकस्मिक भय कैसे हो सकता है ॥६९॥ व्रतादिक क्रियाओंको करते हुए उनसे परभवके लिये भोगोंकी अभिलाषा करना, कर्म और कर्मके फलमें आत्मीय भाव रखना और अन्यदृष्टिकी प्रशंसा करना कांक्षा है ॥७०॥ इन्द्रियोंके लिए अरुचिकर विषयोंमें जो तीव्र उद्वेग होता है वह भोगाभिलाषाका चिह्न है, क्योंकि अपने लिए इष्ट पदार्थोंमें अनुराग होनेसे ही ऐसा होता है ॥७१॥ जैसे स्वपक्षमें जो रति होती है वह भी विपक्षमें अरति हुए बिना नहीं होती वैसे ही स्वपक्षमें जो अरति होती है वह भी उसके विपक्षमें रति हुए बिना नहीं होती ॥७२॥ जैसे कि शीत स्पर्शसे द्वेष करनेवाला व्यक्ति ही उष्ण स्पर्शको चाहता है, क्योंकि जो उष्ण स्पर्शको चाहता है वह शीत स्पर्शको नहीं चाहता है ॥७३॥ इस प्रकारका कांक्षारूप भाव जिसके है वह नियमसे मिथ्यादृष्टि है और जिसके ऐसा भाव नहीं है वह सम्यग्दृष्टि है यह बात युक्ति, अनुभव और आगमसे जानी जाती है ॥७४॥ भोगाभिलाषासे परभवमें इष्ट पदार्थोंका संयोग होना तो दूर रहा किन्तु इससे ऐहिक पदार्थोंकी भी सिद्धि नहीं होती है ॥७५॥ जैसे किसी उन्मत्त पुरुषके मनमें व्यर्थ ही नाना प्रकारके विकल्प उठा करते हैं या समुद्रमें वायुके निमित्तसे व्यर्थ ही नाना प्रकारकी तरंगें उठा करती हैं वैसे ही इस जीवके मिथ्यात्वकर्मके उदयसे यह भोगाभिलाषा व्यर्थ ही उदित होती रहती है ॥७६॥ शंका—जब मन्द पुरुष भी कार्यका निश्चय किये बिना प्रवृत्ति नहीं करता है तब फिर ज्ञानी पुरुष भोगाकांक्षाके बिना व्रतोंका आचरण कैसे कर सकता है ॥७७॥ क्रियाका फल एकमात्र बन्ध है यह बात भी असिद्ध नहीं है, क्योंकि शुभ क्रियाका फल शुभ है और अशुभ क्रियाका फल अशुभ है ॥७८॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे वीतरागके समान किसी सरागीके भी यह क्रिया बन्ध फलवाली नहीं होती है, सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है ॥७९॥ चाहे सरागी हो चाहे वीतरागी हो दोनोंके क्रिया औदयिकी ही होती है, इसलिये जब तक मोहनीयकी किसी एक प्रकृतिका उदय रहता है तबतक क्रियाका फल नियमसे बन्ध ही है ॥८०॥ यह कहना भी ठीक नहीं है कि कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव बुद्धिके दोषसे बन्ध फलवाली क्रियाको यह जानकर ही

यतः प्रज्ञाविनाभूतमस्ति सम्यग्विशेषणम्। तस्याश्चाभावतो नूनं कुतस्त्या दिव्यता दृशः ॥८२
नैवं यतः सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छतः क्रिया। शुभायाश्चाशुभायाश्च को विशेषो विशेषभाक् ॥८३
नन्वनिष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः क्रिया। विशिष्टेष्टार्थसंयोगरूपा सानिच्छतः कथम् ॥८४
तत्क्रिया व्रतरूपा स्यादर्थान्नानिच्छतः स्फुटम्। तस्याः स्वतन्त्रसिद्धत्वात्सिद्धं कर्तृत्वमर्थसात् ॥८५
नैवं यतोऽस्त्यनिष्टार्थः सर्वः कर्मोदयात्मकः। तस्मान्नाकाङ्क्षतेऽज्ञानी यावत्कर्म च तत्फलम् ॥८६
यत्पुनः कश्चिदिष्टार्थोऽनिष्टार्थः कश्चिदर्थसात्। तत्सर्वं दृष्टिदोषत्वात्पीतशङ्खावलोकवत् ॥८७
दृङ्मोहस्यात्यये दृष्टिः साक्षाद्भूतार्थदर्शिनी। तस्यानिष्टेऽस्त्यनिष्टार्थबुद्धिः कर्मफलात्मके ॥८८
न चासिद्धमनिष्टत्वं कर्मणस्तत्फलस्य च। सर्वतो दुःखहेतुत्वाद् युक्तिस्वानुभवागमात् ॥८९
अनिष्टार्थफलत्वात्स्यादनिष्टार्था व्रतक्रिया। दुष्टकार्यानुरूपस्य हेतोर्दुष्टोपदेशवत् ॥९०
अथासिद्धं स्वतन्त्रत्वं क्रियायाः कर्मणः फलात्। ऋते कर्मोदयाद्धेतोस्तस्याश्चासम्भवो यतः ॥९१
यावदक्षीणमोहस्य क्षीणमोहस्य चात्मनः। यावत्यस्ति क्रिया नाम तावत्यौदयिकी स्मृता ॥९२
पौरुषं न यथाकामं पुंसः कर्मोदितं प्रति। न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुषः ॥९३

करता है कि उसका फल अबन्ध है, क्योकि इसके सम्यक् विशेषण प्रज्ञाका (स्वानुभूतिका) अविनाभावी है उसके विना सम्यग्दर्शनमे दिव्यता कैसे आ सकती है ॥८१-८२॥ समाधान—ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि यह पहले ही अच्छी तरह सिद्ध कर आये हैं कि विना इच्छाके ही सम्यग्दृष्टिके क्रिया होती है। फिर इसके शुभ क्रिया और अशुभ क्रियाकी क्या विशेषता शेष रही अर्थात् कुछ भी नही ॥८३॥ शका—जो क्रिया अनिष्ट अर्थका सयोग करानेवाली है वह तो नही चाहनेवालेके भी हो जाती है किन्तु जो विशिष्ट और इष्ट पदार्थका सयोग रूप है वह नही चाहनेवालेके कैसे हो सकती है ? ॥८४॥ उदाहरणार्थ व्रतरूप जो समीचीन क्रिया है वह वास्तवमे विना चाहनेवाले पुरुषके नही होती। उसके करनेमे व्यक्ति स्वतन्त्र है इसलिए कोई उसका कर्ता है यह बात सिद्ध होती है ॥८५॥ समाधान—ऐसा कहना ठीक नही है, क्योकि कर्मके उदयरूप जो कुछ भी है वह सब अनिष्ट अर्थ है, इसलिये जितना कर्म और उसका फल है उसे ज्ञानी पुरुष नही चाहता है ॥८६॥ और प्रयोजनवश हमे जो कोई पदार्थ इष्टरूप और कोई पदार्थ अनिष्टरूप प्रतीत होता है सो यह सब दृष्टि दोषसे ही प्रतीत होता है। जैसे कोई दृष्टि दोषसे शुक्ल शखको पीला देखता है वैसे ही दृष्टि दोषसे पदार्थोमे इष्टानिष्ट कल्पना हुआ करती है ॥८७॥ किन्तु दर्शनमोहनीयका नाश हो जानेपर जो पदार्थ जैसा है उसे उसी रूपसे साक्षात् देखनेवाली दृष्टि हो जाती है। फिर उसकी अनिष्टरूप कर्मोंके फलमे अनिष्ट पदार्थरूप ही बुद्धि होती है ॥८८॥ कर्म और उसका फल अनिष्टरूप है यह बात असिद्ध भी नही है, क्योकि कर्म और कर्मका फल सर्वथा दुःखका कारण है इसलिये इनका अनिष्टरूप होना युक्ति, अनुभव और आगमसे सिद्ध है ॥८९॥ जैसे दुष्ट उपदेशके समान जिस दुष्ट हेतुसे दुष्ट कार्यकी उत्पत्ति होती है वह दुष्ट ही कहा जाता है। वैसे ही व्रत क्रियाका फल अनिष्ट है इसलिये वह अनिष्टार्थ ही है ॥९०॥ यत क्रिया कर्मका फल है इसलिये उसे स्वतन्त्र मानना ठीक नही है, क्योकि कर्मोदयरूप हेतुके विना क्रियाकी उत्पत्ति होना असम्भव है ॥९१॥ चाहे अक्षीणमोह आत्मा हो और चाहे क्षीणमोह इन दोनोके जितनी भी क्रिया होती है वह सब औदयिकी ही मानी गयी है ॥९२॥

जीवका पुरुषार्थ कर्मोदयके प्रति इच्छानुसार नही होता और वह केवल पुरुषार्थकी

सिद्धो निःकाङ्क्षितो ज्ञानी कुर्वाणोऽप्युदितां क्रियाम् ।
निष्कामतः कृतं कर्म न रागाय विरागिणाम् ॥९४

नाशङ्क्यं चास्ति निःकाङ्क्षः सामान्योऽपि जनः क्वचित् । हेतोः कुतश्चिदन्यत्र दर्शनातिशयादपि ९५
यतो निःकाङ्क्षिता नास्ति न्यायात्सद्दर्शनं विना । नानिच्छास्त्यक्षजे सौख्ये तदत्यक्षमनिच्छतः ॥९६
तदत्यक्षसुखं मोहान्मिथ्यादृष्टिः स नेच्छति । दृङ्मोहस्य तथा पाकशक्तेः सद्भावतोऽनिशम् ॥९७

उक्तो निःकाङ्क्षितो भावो गुणो सद्दर्शनस्य वै ।
अस्तु का नः क्षतिः प्राक् चेत्परीक्षाक्षमता मता ॥९८

अथ निर्विचिकित्साख्यो गुणः संलक्ष्यते स च । सद्दर्शनगुणस्योच्चैर्गुणो युक्तिवशादपि ॥९९
आत्मन्यात्मगुणोत्कर्षबुद्ध्या स्वात्मप्रशंसनात् । परत्राप्यपकर्षेषु बुद्धिर्विचिकित्सा स्मृता ॥१००
निष्क्रान्तो विचिकित्सायाः प्रोक्तो निर्विचिकित्सकः । गुणः सद्दर्शनस्योच्चैर्वक्ष्ये तल्लक्षणं यथा १०१
दुर्दैवाद्दुःखिते पुंसि तीव्रासाताघृणास्पदे । यन्नासूयापरं चेतः स्मृतो निर्विचिकित्सकः ॥१०२
नैतत्तन्मनस्यज्ञानमस्म्यहं सम्पदां पदम् । नासावस्मत्समो दीनो वराको विपदां पदम् ॥१०३
प्रत्युत ज्ञानमेवैतत्तत्र कर्मविपाकजाः । प्राणिनः सदृशाः सर्वे त्रसस्थावरयोनयः ॥१०४
यथा द्वावर्भकौ जातौ शूद्रिकायास्तथोदरात् । शूद्रावभ्रान्तितस्तौ द्वौ कृतो भेदो भ्रमात्मना ॥१०५

अपेक्षासे होता हो सो बात नहीं है किन्तु वह (क्रिया) अवश्य ही दैवकी अपेक्षासे होता है ॥९३॥ इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञानी पुरुष कर्मोदय जन्य क्रियाको करता हुआ भी कांक्षारहित है, क्योंकि विरागियोंका बिना इच्छाके किया हुआ कार्य रागके लिए नहीं होता ॥९४॥ यदि कोई ऐसी आशंका करे कि सम्यग्दर्शन रूप अतिशयके बिना भी किसी अन्य कारणसे सामान्य जन भी कहीं-पर कांक्षारहित हो जाता है सो ऐसी आशंका करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि न्यायसे यह बात सिद्ध है कि सम्यग्दर्शनके बिना निःकांक्षित गुण नहीं हो सकता है। कारण कि जो अतीन्द्रिय सुखको नहीं चाहता उसकी इन्द्रियजन्य सुखमें अनिच्छा नहीं हो सकती ॥९५–९६॥ उस अतीन्द्रिय सुखको मोहवश मिथ्याजीव नहीं चाहता, क्योंकि उसके दर्शनमोहनीयकी पाकशक्ति सदैव उसी प्रकार पायी जाती है ॥९७॥ इस प्रकार निःकांक्षित भावका निर्देश किया जो नियमसे सम्यग्दर्शनका गुण है। यदि यह सम्यग्दर्शनके पहले होता है ऐसा माना जाय तो ऐसा माननेमें हमारी क्या हानि है क्योंकि प्रत्येक बात परीक्षा करके ही मानी जाती है ॥९८॥ अब निर्विचिकित्सा नामका जो गुण है उसका लक्षण कहते हैं। यह युक्तिसे भी सम्यग्दर्शनका उत्कृष्ट गुण सिद्ध होता है ॥९९॥ अपनेमें अपने गुणोंके उत्कर्षकी बुद्धिसे अपनी प्रशंसा करना और दूसरों-के अपकर्षकी बुद्धि रखना विचिकित्सा मानी गयी है ॥१००॥ जो इस प्रकारकी विचिकित्सासे रहित है वह सम्यग्दर्शनका सर्वोत्तम निर्विचिकित्सक नामक गुण कहा गया है। अब इसका लक्षण कहते हैं ॥१०१॥ यथा—जो पुरुष दुर्दैवके कारण दुःखित हो रहा है और तीव्र असाताके कारण जो घृणास्पद है उसके विषयमें असूयारूप चित्तका नहीं होना ही निर्विचिकित्सक गुण माना गया है ॥१०२॥ मनमें ऐसा अज्ञान नहीं होना चाहिये कि मैं सम्पत्तियोंका घर हूँ और यह दीन गरीब विपत्तियोंका घर है। यह हमारे समान नहीं हो सकता ॥१०३॥ किन्तु इसके विपरीत मनमें ऐसा ज्ञान होना चाहिये कि कर्म विपाकसे जितने भी प्राणी त्रस और स्थावर योनि में हैं वे सब समान हैं ॥१०४॥ जैसे शूद्रीके उदरसे दो बालक पैदा हुए। वे दोनों वास्तवमें शूद्र हैं। किन्तु

जले जम्बालवज्जीवे यावत्कर्माशुचि स्फुटम् । अहं ते चाविशेषाद्वा नूनं कर्ममलीमसा ॥१०६
अस्ति सद्दर्शनस्यासौ गुणो निर्विचिकित्सक । यतोऽवश्यं स तत्रास्ति तस्मादन्यत्र न क्वचित् ॥१०७
कर्मपर्यायमात्रेषु रागिण स कुतो गुण । सद्विशेषेऽपि संमोहाद् द्वयोरैक्योपलब्धित. ॥१०८
इत्युक्तो युक्तिपूर्वोऽसौ गुण सद्दर्शनस्य य । नाविवक्षोऽपि दोषाय विवक्षो न गुणाप्तये ॥१०९
अस्ति चामूढदृष्टि सा सम्यग्दर्शनशालिनी । ययाऽलङ्कृतमात्र सद्भाति सद्दर्शनं नरि ॥११०
अतत्त्वे तत्त्वश्रद्धान मूढदृष्टि स्वलक्षणात् । नास्ति सा यस्य जीवस्य विख्यात सोऽस्त्यमूढदृक् १११
अस्त्यसद्धेतुदृष्टान्तैर्मिथ्यार्थ साधितोऽपरै । नाप्यल तत्र मोहाय दृङ्मोहस्योदयक्षते ॥११२
सूक्ष्मान्तरितदूरार्थे दर्शितेऽपि कुदृष्टिभि । नाल्पश्रुत समुह्येत किं पुनश्चेद्बहुश्रुत ॥११३
अर्थाभासेऽपि तत्रोच्चै सम्यग्दृष्टेर्न मूढता । स्थूलान्तरितोपात्तमिथ्यार्थेऽस्य कुतो भ्रम ॥११४
तद्यथा लौकिकी रूढिरस्ति नाना विकल्पसात् । नि सारैराश्रिता पुंभिरथानिष्टफलप्रदा ॥११५
अफला कुफला हेतुशून्या योगापहारिणी । दुस्त्याज्या लौकिकी रूढि कैश्चिद्दुष्कर्मपाकत ॥११६
अदेवे देवबुद्धि स्यादधर्मे धर्मधीरिह । अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवविमूढता ॥११७
कुदेवाराधनां कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधी । मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता ॥११८

भ्रमात्मा उनमे भेद करने लगता है। वैसे ही प्रकृतमे जानना चाहिए ॥१०५॥ जैसे जलमे काई होती है ठीक वैसे ही जीवमे जब तक अशुचि कर्म मौजूद है तब तक मैं और वे सब ससारी जीव सामान्यरूपसे कर्मोसे मैले हो रहे हैं ॥१०६॥ यह निर्विचिकित्सा सम्यग्दर्शनका एक गुण है क्योंकि वह सम्यग्दर्शनके होनेपर ही होता है उसके विना और किसीके नही होता ॥१०७॥ किन्तु जो केवल कर्मकी पर्यायोमे अनुराग करता है उसके वह गुण कैसे हो सकता है, क्योकि कर्मकृत पर्याय यद्यपि सत्से भिन्न है तो भी मिथ्यादृष्टि जीव मोहवश उन दोनोको एक समझ बैठा है ॥१०८॥ इस प्रकार युक्तिपूर्वक जो यह सम्यग्दर्शनका गुण कहा गया है उसकी यदि अविवक्षा कर दी जाय तो कोई दोष नही है और विवक्षित रहनेपर कोई लाभ नही है ॥१०९॥ वह अमूढ-दृष्टि सम्यग्दर्शनसे सुशोभित मानी गई है जिसके होनेपर इस जीवके सम्यग्दर्शन चमक उठता है ॥११०॥ अतत्त्वमे तत्त्वका श्रद्धान करना यह अपने लक्षणके अनुसार मूढदृष्टि है। यह जिस जीवके नही होती है वह अमूढदृष्टि कहलाता है ॥१११॥ दूसरे दर्शनवालोने मिथ्या हेतु और दृष्टान्तो द्वारा मिथ्या पदार्थकी सिद्धि की है वह मिथ्या पदार्थ सम्यग्दृष्टिके दर्शनमोहनीयका उदय नही रहनेसे मोह पैदा करनेके लिये समर्थ नही होता ॥११२॥ मिथ्यादृष्टियोके द्वारा सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोके दिखलाये जानेपर भी उनमे अल्पश्रुत ही जब मोहित नही होता तब जो बहुश्रुत है वह मोहित ही कैसे होगा ॥११३॥ इस प्रकार इन सूक्ष्म आदि अर्थाभासोमे भी जब सम्यग्दृष्टिके मूढता नही होती तब फिर स्थूल, समीपवर्ती और उपात्त मिथ्या अर्थोमे इसे कैसे भ्रम हो सकता है ॥११४॥ उदाहरणार्थ—लौकिकी रूढि नाना प्रकारकी है, जिसे नि सार पुरुषोने आश्रय दे रखा है, जिसका फल अनिष्ट है ॥११५॥ जो निष्फल है, खोटे फलवाली है, जिसकी पुष्टिमे कोई समुचित हेतु नही मिलता और जो निरर्थक है तो भी कितने ही पुरुष खोटे कर्मके उदयसे उस लौकिकी रूढिको छोडनेमे कठिनताका अनुभव करते है ॥११६॥ जीवके जो अदेवमे देवबुद्धि, अधर्ममे धर्मबुद्धि और अगुरुमे गुरुबुद्धि होती है वह देवविमूढता कही जाती है ॥११७॥ मिथ्यादृष्टि जीव ऐहिक सुखके लिये कुदेवकी आराधना करता है। यह झूठा लोकाचार

अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढिवशादिह । धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताम्बिका ॥११९
अपरेऽपि यथाकामं देवानिच्छन्ति दुर्धियः । सदोषानपि निर्दोषानिव प्रज्ञापराधतः ॥१२०
नोक्तस्तेषां समुद्देशः प्रसङ्गादपि सङ्गतः । लब्धवर्णो न कुर्याद्वै निस्सारं ग्रन्थविस्तरम् ॥१२१
अधर्मस्तु कुदेवानां यावानाराधनोद्यमः । तैः प्रणीतेषु धर्मेषु चेष्टा वाक्कायचेतसाम् ॥१२२
कुगुरुः कुत्सिताचारः सशल्यः सपरिग्रहः । सम्यक्त्वेन व्रतेनापि युक्तः स्यात्सद्गुरुर्यतः ॥१२३
अत्रोद्देशोऽपि न श्रेयान्सर्वतोऽतीव विस्तरात् । आदेयो विधिरत्रोक्तो नादेयोऽनुक्त एव सः ॥१२४
दोषो रागादिचिद्भावः स्यादावरणं च कर्म तत् । तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते १२५
अस्त्यत्र केवलं ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं सुखम् । वीर्यं चेति सुविख्यातं स्यादनन्तचतुष्टयम् ॥१२६
एको देवः स सामान्याद् द्विधाऽवस्थाविशेषतः । संख्यया नामसंदर्भाद् गुणेभ्यः स्यादनन्तधा ॥१२७
एको देवः स द्रव्यार्थात्सिद्धः शुद्धोपलब्धितः । अर्हन्निति च सिद्धश्च पर्यायार्थाद्द्विधा मतः ॥१२८
दिव्यौदारिकदेहस्थो धौतघातिचतुष्टयः । ज्ञानदृग्वीर्यसौख्याढ्यः सोऽर्हन् धर्मोपदेशकः ॥१२९
मूर्तिमद्देहनिर्मुक्तो लोको लोकाग्रसंस्थितः । ज्ञानाद्यष्टगुणोपेतो निष्कर्मा सिद्धसंज्ञकः ॥१३०
अर्हन्निति जगत्पूज्यो जिनः कर्मारिशातनात् । महादेवोऽधिदेवत्वाच्छङ्करोऽभिसुखावहात् ॥१३१

है अतः लोकमूढ़ता अकल्याणकारी मानी गई है ॥११८॥ लोकमूढ़तावश किन्हीं पुरुषोंका ऐसा श्रद्धान है कि अम्बिकाकी अच्छी तरह आराधना करनेपर वह धन-धान्य देती है ॥११९॥

इसी तरह अन्य मिथ्यादृष्टि जीव भी अज्ञानवश सदोष देवोंको भी निर्दोष देवोंके समान इच्छानुसार मानते हैं ॥१२०॥ प्रसगानुसार सुसंगत होते हुए भी उनका निर्देश यहाँपर नहीं किया है, क्योंकि जिसे चार अक्षरका ज्ञान है वह निष्प्रयोजन ग्रन्थका विस्तार नहीं करता ॥१२१॥ कुदेवोंको आराधनाके लिये जितना भी उद्यम है वह और उनके द्वारा कहे गये धर्ममें वचन, काय और मनकी प्रवृत्ति यह सब अधर्म है ॥१२२॥ जिसका आचार कुत्सित है जो शल्य और परिग्रह सहित है वह कुगुरु है, क्योंकि सद्गुरु सम्यक्त्व और व्रत इन दोनोंसे युक्त होता है ॥१२३॥ इस विषयमे भी अत्यन्त विस्तारसे लिखना सर्वथा उचित नहीं है, क्योंकि जो विधि आदेय है वही यहाँ कही गयी है और जो अनादेय है वह कही ही नहीं गयी है ॥१२४॥ रागादिका पाया जाना यह दोष है और ज्ञानावरणादि ये कर्म हैं जिनके इन दोनोंका सर्वथा अभाव हो गया है वह देव कहा जाता है ॥१२५॥ उसके केवलज्ञान, क्षायिक दर्शन, क्षायिक सुख और क्षायिक वीर्य यह सुविख्यात अनन्तचतुष्टय होता है ॥१२६॥ द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा वह देव एक है, अवस्था विशेषकी अपेक्षा दो प्रकारका है, सज्ञावाचक शब्दोंकी अपेक्षा सख्यात प्रकार है और गुणोंकी अपेक्षा अनन्त प्रकारका है ॥१२७॥ शुद्धोपलब्धिरूप द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे वह देव एक प्रकारका माना गया है और पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे अरहन्त और सिद्ध इस तरह दो प्रकारका माना गया है ॥१२८॥ जो दिव्य औदारिक देहमें स्थित है, चारों घातिया कर्मोंसे रहित है, ज्ञान-दर्शन, वीर्य और सुखसे परिपूर्ण है और धर्मका उपदेश देनेवाला है वह अरहन्तदेव है ॥१२९॥ जो मूर्तशरीरसे रहित है, सम्पूर्ण चर और अचर पदार्थोंको युगपत् जानने और देखनेवाला है, लोकके अग्रभागमे स्थित है, ज्ञानादि आठ गुण सहित है और ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंसे रहित है वह सिद्ध देव है ॥१३०॥

यह देव जगत् पूज्य है इसलिए अर्हंत् कहलाता है, कर्मरूपी शत्रुओंका नाश कर दिया

विष्णुर्ज्ञानेन सर्वार्थविस्तृतत्वात्कथञ्चन । ब्रह्मा ब्रह्मज्ञरूपत्वाद्धरिर्दुःखापनोदनात् ॥१३२
इत्याद्यनेकनामापि नानेकोऽस्ति स्वलक्षणात् । यतोऽनन्तगुणात्मैकद्रव्यं स्यात्सिद्धसाधनात् ॥१३३
चतुर्विंशतिरित्यादि यावदन्तमनन्तता । तद्बहुत्वं न दोषाय देवत्वैकविधत्वतः ॥१३४
प्रदीपानामनेकत्वं न प्रदीपत्वहानये । यतोऽत्रैकविधत्वं स्यान्न स्यान्नानाप्रकारतः ॥१३५
न चाऽऽशङ्क्यं यथासंख्यं नामतोऽप्यस्त्वनेकधा । न्यायादेकगुणं चैकं प्रत्येकं नाम चैककम् ॥१३६
नामतः सर्वतो मुख्यं संख्यातस्यैव सम्भवात् । अधिकस्य ततो वाचा व्यवहारस्य दर्शनात् ॥१३७
वृद्धैः प्रोक्तमतः सूत्रे तत्त्वं वागतिशायि यत् । द्वादशाङ्गाङ्गबाह्यं च श्रुतं स्थूलार्थगोचरम् ॥१३८
कृत्स्नकर्मक्षयाज्ज्ञानं क्षायिकं दर्शनं पुनः । अत्यक्षं सुखमात्मोत्थं वीर्यं चेति चतुष्टयम् ॥१३९
सम्यक्त्वं चैव सूक्ष्मत्वमव्याबाधगुणः स्वतः । अस्त्यगुरुलघुत्वं च सिद्धे चाष्टगुणाः स्मृताः ॥१४०
इत्याद्यनन्तधर्माढ्यः कर्माष्टकविवर्जितः । मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्देवः सेव्यो न चेतरः ॥१४१
अर्थाद् गुरुः स एवास्ति श्रेयोमार्गोपदेशकः । भगवांस्तु यतः साक्षान्नेता मोक्षस्य वर्त्मनः ॥१४२
तेभ्योऽर्वागपि छद्मस्थरूपास्तद्रूपधारिणः । गुरवः स्युर्गुरोर्न्यायान्नान्योऽवस्थाविशेषभाक् ॥१४३

है इसलिए जिन कहलाता है, सब देव इससे नीचे है इसलिए महादेव कहलाता है, सुख देनेवाला है इसलिए शंकर कहलाता है ॥१३१॥ ज्ञान द्वारा कथंचित् सब पदार्थोंमे व्याप रहा है इसलिए विष्णु कहलाता है, ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञाता है इसलिए ब्रह्मा कहलाता है और दुःखोंका हरण करनेवाला है इसलिए हरि कहलाता है ॥१३२॥ इस प्रकार यद्यपि इसके अनेक नाम है तथापि वह अपने लक्षणकी अपेक्षा अनेक नही है, क्योकि वह साधनोसे भले प्रकार सिद्ध अनन्तगुणात्मक एक ही द्रव्य है ॥१३३॥ यद्यपि चौबीस तीर्थंकरोसे लेकर अन्ततक विचार करनेपर व्यक्ति रूपसे देव अनन्त हैं तथापि वह देवोका बहुत्व दोषाधायक नही है, क्योकि इन सबमे एक प्रकारका ही देवत्व पाया जाता है ॥१३४॥ जिस प्रकार दीपक अनेक हैं तो भी उससे प्रदीप सामान्यकी हानि नही होती, क्योकि जितने भी दीपक होते है वे सब एक ही प्रकारके पाये जाते है नाना प्रकारके नही। उसी प्रकार व्यक्ति रूपसे देवोके अनेक होनेपर भी कोई हानि नही है, क्योकि देवत्व सामान्यकी अपेक्षा सब देव एक है ॥१३५॥ यदि कोई ऐसी आशका करे कि नामकी अपेक्षा क्रमसे देवके अनन्त भेद रहे आवें, क्योकि न्यायानुसार एक एक गुणकी अपेक्षा एक एक नाम रखा जा सकता है सो ऐसी आशका करना भी ठीक नही है, क्योकि इस प्रकार नामकी अपेक्षा देवके मुख्य रूपसे संख्यात भेद ही सम्भव हैं, क्योकि वचन व्यवहार इससे अधिक नही दिखाई देता है ॥१३६-१३७॥ इसीसे पूर्वाचार्योंने सूत्रमे यह कहा है कि तत्त्व वचनके अगोचर है और बारह अंग तथा अंग बाह्यरूप श्रुत स्थूल अर्थको विषय करता है ॥१३८॥ सम्पूर्ण कर्मोंके क्षयसे सिद्धके ये आठ गुण होते हैं—क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, अतीन्द्रिय सुख और आत्मासे उत्पन्न होनेवाला वीर्य—ये चार अनन्त चतुष्टय होते हैं।॥१३९॥ इनके सिवाय सम्यक्त्व, सूक्ष्मत्व, अव्याबाध और अगुरुलघु ये चार गुण और होते हैं ॥१४०॥ इस प्रकार जो ज्ञानादि अनन्त धर्मोंसे युक्त है, आठ कर्मोंसे रहित है, मुक्त है और अठारह दोषोसे रहित है वही देव सेवनीय है अन्य नही ॥१४१॥ वास्तवमे वही देव सच्चा गुरु है, वही मोक्ष मार्गका उपदेशक है, वही भगवान् है और वही मोक्ष मार्गका साक्षात् नेता है ॥१४२॥ इन अरहंत और सिद्धोसे नीचे भी जो अल्पज्ञ है और उसी रूप अर्थात् दिगम्बरत्व, वीतरागत्व और हितोपदेशित्वको धारण करनेवाले हैं वे गुरु है, क्योकि इनमे

अस्त्यवस्थाविशेषोऽत्र युक्तिस्वानुभवागमात् । शेषसंसारिजीवेभ्यस्तेषामेवातिशायनात् ॥१४४
भाविनैगमनयायत्तो भूष्णुस्तद्वानिवेष्यते । अवश्य भावतो व्याप्ते सद्भावात्सिद्धसाधनात् ॥१४५
अस्ति सद्दर्शनं तेषु मिथ्याकर्मोपशान्तित । चारित्रं देशतः सम्यक् चारित्रावरणक्षते ॥१४६
तत सिद्धं निसर्गाद्वै शुद्धत्वं हेतुदर्शनात् । मोहकर्मोदयाभावात् तत्कार्यस्याप्यसम्भवात् ॥१४७
तच्छुद्धत्वं सुविख्यातनिर्जराहेतुरञ्जसा । निदानं संवरस्यापि क्रमान्निर्वाणभागपि ॥१४८
यद्वा स्वय तदेवार्थान्निर्जरादित्रयं यत । शुद्धभावाविनाभावि द्रव्यनामापि तत्त्रयम् ॥१४९
निर्जरादिनिदानं य शुद्धो भावश्चिदात्मक. । परमार्हः स एवास्ति तद्वानात्मा पर गुरुः ॥१५०
न्यायाद्गुरुत्वहेतु स्यात्केवलं दोषसक्षय । निर्दोषो जगतः साक्षी नेता मार्गस्य नेतर ॥१५१
नालं छद्मस्थताप्येषा गुरुत्वक्षतये मुने । रागाद्यशुद्धभावानां हेतुर्मोहैककर्म तत् ॥१५२
नन्वावृत्तिद्वयं कर्म वीर्यविध्वंसि कर्म तत् । अस्ति तत्राप्यवश्यं वै कुत शुद्धत्वमत्र चेत् ॥१५३
सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रोक्तकर्मत्रयस्य च । मोहकर्माविनाभूतं बन्धसत्त्वोदयक्षयम् ॥१५४
तद्यथा बध्यमानेऽस्मिन् तद्बन्धो मोहबन्धसात् । तत्सत्त्वे सत्त्वमेतस्य पाके पाक क्षये क्षय ॥१५५

न्यायानुसार गुरुका लक्षण पाया जाता है। ये उनसे भिन्न और कोई दूसरी अवस्थाको धारण करनेवाले नही हैं ॥१४३॥ इनमे अवस्था विशेष पाई जाती है यह बात युक्ति, आगम और अनुभवसे सिद्ध है, क्योकि उनमे शेष संसारी जीवोसे कोई विशेष अतिशय देखा जाता है ॥१४४॥ भावि नैगमनयकी अपेक्षासे जो होनेवाला है वह उस पर्यायसे युक्तकी तरह कहा जाता है, क्योकि उसमे नियमसे भावकी व्याप्ति पाई जाती है इसलिए ऐसा कहना युक्तियुक्त है ॥१४५॥ उनमे दर्शनमोहनीय कर्मकी उपशान्ति (उपशम, क्षय, क्षयोपशम) हो जानेसे सम्यग्दर्शन भी पाया जाता है और चारित्रावरण कर्मका एकदेश क्षय (क्षयोपशम) हो जानेसे सम्यक्चारित्र भी पाया जाता है ॥१४६॥ इसलिए उनमे स्वभावसे ही शुद्धता सिद्ध होती है और इसकी पुष्टि करनेवाला हेतु भी पाया जाता है। यत उनके मोहनीय कर्मका उदय नही है अत वहाँ मोहनीय कर्मका कार्य भी नही पाया जाता है ॥१४७॥ उनकी यह शुद्धता नियमसे निर्जराका कारण है, संवरका कारण है और क्रमसे मोक्ष दिलानेवाली है यह बात सुप्रसिद्ध है ॥१४८॥ अथवा वह शुद्धता ही नियमसे स्वय निर्जरा आदि तीन रूप है, क्योकि शुद्ध भावोसे अविनाभाव रखनेवाला द्रव्य इन तीन रूप ही होता है ॥१४९॥ आशय यह है कि आत्माका जो शुद्ध भाव निर्जरा आदिका कारण है वही परमपूज्य है और उससे युक्त आत्मा ही परम गुरु है ॥१५०॥ न्यायानुसार गुरुपनेका कारण केवल दोषोका नाश हो जाना ही है। जो निर्दोष है वही जगत्का साक्षी है और वही मोक्षमार्ग का नेता है अन्य नही ॥१५१॥ मुनिकी यह छद्मस्थता भी गुरुपनेका नाश करनेके लिए समर्थ नही है, क्योकि रागादि अशुद्ध भावोका कारण एक मोह कर्म माना गया है ॥१५२॥ शका—छद्मस्थ गुरुओमे दोनो आवरण कर्म और वीर्यका नाश करनेवाला अन्तरायकर्म नियमसे है इसलिए उनमे शुद्धता कैसे हो सकती है ? ॥१५३॥

समाधान—यह बात ठीक है किन्तु इतनी विशेषता है कि उक्त तीनों कर्मोंका बन्ध, सत्त्व, उदय और क्षय मोहनीय कर्मके साथ अविनाभावी है ॥१५४॥ खुलासा इस प्रकार है कि मोहनीय-का बन्ध होनेपर उसके साथ साथ ज्ञानावरणादि कर्मोंका बन्ध होता है। मोहनीयका सत्त्व रहते हुए इनका सत्त्व रहता है, मोहनीयका पाक होते समय इनका पाक होता है और मोहनीयका क्षय

मोहं छद्मस्थावस्थायामर्वागेवास्तु तत्क्षयः । अंशान्मोहक्षयस्यांशात्सर्वतः सर्वतः क्षयः ॥१५६
नासिद्धं निर्जरा तस्य सदृष्टेः कृत्स्नकर्मणाम् । आदृग्मोहोदयाभावात्तच्चासंख्यगुणा क्रमात् ॥१५७
ततः कर्मत्रयं प्रोक्तमस्ति यद्यपि सांप्रतम् । रागद्वेषविमोहानामभावाद् गुरुता मता ॥१५८
अथाऽस्त्येकः स सामान्यात्तद्विशेषात्त्रिधा मतः । एकोऽप्यग्निर्यथा तार्ण्यः पार्ण्यो दार्व्यस्त्रिधोच्यते १५९
आचार्यः स्यादुपाध्यायः साधुश्चेति त्रिधा गतिः । स्युर्विशिष्टपदारूढास्त्रयोऽपि मुनिकुञ्जराः ॥१६०
एको हेतुः क्रियाऽप्येका वेषश्चैको बहिः समः । तपो द्वादशधा चैकं व्रतं चैकं च पञ्चधा ॥१६१
त्रयोदशविधं चैकं चारित्रं समतैकधा । मूलोत्तरगुणाश्चैको संयमोऽप्येकधा मतः ॥१६२
परीषहोपसर्गाणां सहनं च समं स्मृतम् । आहारादिविधिश्चैकश्चर्यास्थानासनादयः ॥१६३
मार्गो मोक्षस्य सद्दृष्टिः ज्ञानं चारित्रमात्मनः । रत्नत्रयं समं तेषामपि चान्तर्बहिःस्थितम् ॥१६४
ध्याता ध्यानं च ध्येयश्च ज्ञाता ज्ञानं च ज्ञेयसात् । चतुर्विधाराधनापि तुल्या क्रोधादिजिष्णुता ॥१६५
किंवात्र बहुनोक्तेन तद्विशेषोऽवशिष्यते । विशेषाच्छेषनिःशेषो न्यायादस्त्यविशेषभाक् ॥१६६
आचार्योऽनादितो रूढेर्योगादपि निरुच्यते । पञ्चाचारं परेभ्यः स आचारयति संयमी ॥१६७
अपि छिन्ने व्रते साधोः पुनः सन्धानमिच्छतः । तत्समादेशदानेन प्रायश्चित्तं प्रयच्छति ॥१६८

होने पर इनका क्षय होता है ॥१५५॥ यदि कोई ऐसी आशका करे कि छद्मस्थ अवस्थामे ज्ञानावरणादि कर्मोका क्षय होनेके पहले ही मोहनीयका क्षय हो जाता है सो ऐसी आशका करना भी ठीक नही है, क्योकि मोहनीयका एकदेश क्षय होनेसे इनका एकदेश क्षय होता है और मोहनीयका सर्वथा क्षय होनेसे इनका भी सर्वथा क्षय हो जाता है ॥१५६॥ सम्यग्दृष्टिके समस्त कर्मोकी निर्जरा होती है यह बात असिद्ध भी नही है, क्योकि दर्शनमोहनीयके उदयका अभाव होनेपर वहाँसे लेकर वह उत्तरोत्तर असख्यात गुणी होने लगती है ॥१५७॥ इसलिये छद्मस्थ गुरुओके यद्यपि वर्तमानमे तीनो कर्मोका सद्भाव कहा गया है। तथापि राग, द्वेष और मोहका हो अभाव हो जानेसे उनमे गुरुपना माना गया है ॥१५८॥ वह गुरु सामान्य रूपसे एक प्रकारका और अवस्था विशेषकी अपेक्षासे तीन प्रकारका माना गया है। जैसे अग्नि यद्यपि एक ही है तो भी वह तिनकेकी अग्नि, पत्तेकी अग्नि और लकडीकी अग्नि इस तरह तीन प्रकारकी कही जाती है। वैसे ही प्रकृतमे जानना चाहिये ॥१५९॥ इनके ये भेद आचार्य, उपाध्याय और साधु ये तीन है। ये तीनो ही मुनिकुजर यद्यपि अपने अपने विशेष पद पर स्थित हैं ॥१६०॥ तथापि इनके मुनि होनेका कारण एक है, क्रिया एक है, बाह्य वेष एक सा है, बारह प्रकारका तप एक सा है, पाँच प्रकारका व्रत एक सा है, तेरह प्रकारका चारित्र एक सा है, समता एक सी है, मूल और उत्तर गुण भी एकसे हैं, सयम भी एक सा है, परीषह और उपसर्गोका सहन करना भी एक मा है, आहार आदिकी विधि भी एक सी है, चर्या, स्थान और आसन आदि भी एकसे हैं, मोक्षका मार्ग जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप आत्मीक रत्नत्रय है वह भी उनके भीतर और बारह समान है। इसी प्रकार ध्याता, ध्यान, ध्येय, ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञय, चार प्रकारकी आराधनाएँ और क्रोधादिकका जीतना ये भी समान हैं ॥१६१–१६५॥ इस विषयमे बहुत कहाँ तक कहे। उनका जो कुछ विशेष है वही कहना बाकी है, क्योकि विशेष रूपमे जो भी शेष रह जाता है वह न्यायानुसार अविशेष (समान) कहलाता है ॥१६६॥ अनादिकालीन रूढि और निरुक्त्यर्थ इन दोनोकी अपेक्षासे आचार्य शब्दका यह अर्थ लिया जाता है कि जो सयमी दूसरोसे पाँच आचारका आचरण कराता है वह आचार्य है ॥१६७॥ तथा व्रतभग होने पर फिरसे उस व्रतको जोडनेकी इच्छा करनेवाले साधुको जो आदेश

आदेशस्योपदेशेभ्य. स्याद्विशेष स भेदभाक् । आददे गुरुणा दत्तं नोपदेशेष्वयं विधि ॥१६९
न निषिद्धस्तदादेशो गृहिणां व्रतधारिणाम् । दीक्षाचार्येण दीक्षेव दीयमानास्ति तत्क्रिया ॥१७०
स निषिद्धो यथाम्नायादव्रतिनां मनागपि । हिंसकश्चोपदेशोऽपि नोपयुज्योऽत्र कारणात् ॥१७१
मुनिव्रतधराणां वा गृहस्थव्रतधारिणाम् । आदेशश्चोपदेशो वा न कर्तव्यो वधाश्रित ॥१७२
न चाऽऽशङ्क्यं प्रसिद्धं यन्मुनिभिर्व्रतधारिभि । मूर्तिमच्छक्तिसर्वस्वं हस्तरेखेव दर्शितम् ॥१७३
नून प्रोक्तोपदेशोऽपि न रागाय विरागिणाम् । रागिणामेव रागाय ततोऽवश्यं स वर्जित ॥१७४
न निषिद्ध स आदेशो नोपदेशो निषेधित । नूनं सत्पात्रदानेषु पूजायामर्हतामपि ॥१७५
यद्वाऽऽदेशोपदेशौ स्तो द्वौ तौ निरवद्यकर्मणि । यत्र सावद्यलेशोऽपि तत्राऽऽदेशो न जातुचित् ॥१७६
सहासंयमिभिर्लोकै संसर्गं भाषणं रतिम् । कुर्यादाचार्य इत्येके नासौ सूरिर्न चार्हत ॥१७७
सङ्घसम्पोषक सूरि प्रोक्त कैश्चिन्मतेरिह । धर्मादेशोपदेशाभ्यां नोपकारोऽपरोऽस्त्यत ॥१७८

यद्वा मोहात्प्रमादाद्वा कुर्याद्यो लौकिकीं क्रियाम् ।
तावत्कालं स नाचार्योऽप्यस्ति चान्तर्व्रताच्च्युत ॥१७९

इत्युक्तव्रततप शीलसंयमादिधरो गणी । नमस्य स गुरु साक्षात्तदन्यो न गुरुर्गणी ॥१८०

द्वारा प्रायश्चित्त देता है वह आचार्य है ॥१६८॥ उपदेशोसे आदेशमे पार्थक्य दिखलाने वाला यह अन्तर है कि आदेशमे 'मैं गुरुके द्वारा दिये गये व्रतको स्वीकार करता हूँ' यह विधि मुख्य रहती है किन्तु उपदेशोमे यह विधि मुख्य नही रहती ॥१६९॥ व्रतधारी गृहस्थोके लिये भी आचार्यका आदेश करना निषिद्ध नही है, क्योकि दीक्षाचार्यके द्वारा दी गयी दीक्षाके समान ही वह आदेशविधि मानी गई है ॥१७०॥ किन्तु जो अव्रती हैं, उनके लिए आगमकी परिपाटीके अनुसार थोड़ा भी आदेश करना निषिद्ध है और इसी प्रकार कारणवश हिंसाकारी उपदेश करना भी उपयुक्त नही है ॥१७१॥ चाहे मुनिव्रतधारी हो चाहे गृहस्थव्रतधारी हो इन दोनोके लिये हिंसाका अवलम्बन करनेवाला आदेश और उपदेश नही करना चाहिये ॥१७२॥ जो यह प्रसिद्ध है कि व्रतधारी मुनि मूर्तिमान पदार्थोकी समस्त शक्तियोको हस्तरेखाके समान दिखला देते हैं इसलिये उक्त उपदेश और आदेश उनका कुछ भी बिगाड नही कर सकता सो ऐसी आशका करना भी ठीक नही है, क्योकि यद्यपि पूर्वोक्त उपदेश विरागियोके लिए रागका कारण नही है तो भी जो रागी हैं उनके लिये वह रागका कारण अवश्य है इसलिये उसका निषेध किया गया है ॥१७३-१७४॥ किन्तु सत्पात्रोके लिये दान और अरहन्तोकी पूजा इन कार्योंमे न तो वह आदेश ही निषिद्ध है और न वह उपदेश ही निषिद्ध है ॥१७५॥ अथवा आदेश और उपदेश ये दोनो ही निषिद्ध कार्योंके विषयमे उचित माने गये हैं, क्योकि जिस कार्यमे सावद्यका लेशमात्र भी हो उस कार्यका आदेश करना कभी भी उचित नही है ॥१७६॥ कितने ही आचार्योंका मत है कि आचार्य असयमी पुरुषोके साथ सम्बन्ध, भाषण और प्रीति कर सकता है परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नही है क्योकि ऐसा करनेवाला न तो आचार्य ही हो सकता है और न अरहन्तके मतका अनुयायी ही हो सकता है ॥१७७॥ जो संघका पालन-पोषण करता है वह आचार्य है ऐसा किन्ही अन्य लोगोने ही अपनी मतिसे कहा है अत यही निश्चय होता है कि धर्मका आदेश और उपदेशके सिवाय आचार्यका और कोई उपकार नही है ॥१७८॥ अथवा मोहवश या प्रमाद वश होकर जो लौकिकी क्रियाको करता है वह उतने काल तक आचार्य नही रहता इतना ही नहीं किन्तु तब वह अन्तरगमे व्रतोसे च्युत हो जाता है ॥१७९॥ इस प्रकार पूर्वोक्त व्रत, तप, शील और सयम आदिको धारण करने-

उपाध्याय स साध्वीयान् वादी स्याद्वादकोविद ।
वाग्मी वाग्ब्रह्मसर्वज्ञ सिद्धान्तागमपारग ॥१८१

कवि प्रत्यग्रसूत्राणां शब्दार्थै सिद्धसाधनात् । गमकोऽर्थस्य माधुर्ये धुर्यो वक्तृत्ववर्त्मनाम् ॥१८२
उपाध्यायत्वमित्यत्र श्रुताभ्यासोऽस्ति कारणम् । यदध्येति स्वयं चापि शिष्यानध्यापयेद्गुरु ॥१८३
शेषस्तत्र व्रतादीनां सर्वसाधारणो विधि । कुर्याद्धर्मोपदेश स नादेश सूरिवत्क्वचित् ॥१८४
तेषामेवाश्रमं लिङ्गं सूरीणां सयम तप । आश्रयेत् शुद्धचारित्र पञ्चाचार स शुद्धधी ॥१८५
मूलोत्तरगुणानेव यथोक्तानाचरेच्चिरम् । परीषहोपसर्गाणां विजयी स भवेद् ध्रुवम् ॥१८६
अत्राऽतिविस्तरेणाल नूनमन्तर्बहिर्मुने । शुद्धवेषधरो धीरो निर्ग्रन्थ स गणाग्रणी ॥१८७
उपाध्याय समाख्यातो विख्यातोऽस्ति स्वलक्षणं । अधुना साध्यते साधोर्लक्षणं सिद्धमागमात् ॥१८८
मार्गं मोक्षस्य चारित्रं सद्दृग्ज्ञप्तिपुरस्सरम् । साधयत्यात्मसिद्ध्यर्थं साधुरन्वर्थसंज्ञक ॥१८९
नोचे वाचयमी किञ्चिद्धस्तपादादिसंज्ञया । न किञ्चिद्दर्शयेत्स्वस्थो मनसाऽपि न चिन्तयेत् ॥१९०
आस्ते स शुद्धमात्मानमास्तिघ्नुवानश्च परम् । स्तिमितान्तर्बहिर्जल्पो निस्तरङ्गाब्धिवन्मुनि ॥१९१
नादेशं नोपदेशं वा नादिशेत्स मनागपि । स्वर्गापवर्गमार्गस्य तद्विपक्षस्य किं पुन ॥१९२
वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढोऽधिकप्रभ । दिगम्बरो यथाजातरूपधारी दयापर ॥१९३

वाला आचार्य ही नमस्कार करने योग्य है और वही साक्षात् गुरु है। इससे भिन्न स्वरूपका धारण करनेवाला न तो गुरु ही हो सकता है और न आचार्य ही हो सकता है ॥१८०॥ समाधान करनेवाला, वाद करनेवाला, स्याद्वाद विद्याका जानकार, वाग्मी, वचन ब्रह्ममे पारगत, सिद्धान्त शास्त्रका पारगामी, वृत्ति तथा मुख्य सूत्रोका शब्द और अर्थके द्वारा सिद्ध करनेवाला होनेसे कवि, अर्थकी मधुरताका ज्ञान करनेवाला और वक्तृत्व कलामे अग्रणी उपाध्याय होता है ॥१८१–१८२॥ उपाध्याय होनेमे मुख्य कारण श्रुतका अभ्यास है। जो स्वय पढता है और शिष्योको पढाता है वह उपाध्याय है ॥१८३॥ उपाध्यायका व्रतादिक सम्बन्धी शेष सब विधि मुनियोके समान होती है। यह धर्मका उपदेश कर सकता है किन्तु आचार्यके समान किसीको आदेश नही कर सकता ॥१८४॥ शुद्ध बुद्धि वाला वह उन्ही आचार्योंके आश्रममे रहता है। उन्हीके सयम, तप, शुद्ध चारित्र और पचाचारका पालन करता है ॥१८५॥ वह चिरकालतक शास्त्रोक्त विधिसे मूल-गुणो और उत्तरगुणोका पालन करता है। परीषह और उपसर्गोंको जीतनेवाला होता है तथा जितेन्द्रिय होता है ॥१८६॥ यहाँपर अधिक विस्तार करना व्यर्थ है किन्तु इतना ही कहना पर्याप्त है कि वह अन्तरग और बहिरग दोनो प्रकारसे मुनिके शुद्ध वेषको धारण करनेवाला, बुद्धिमान्, निर्ग्रन्थ और गणमे प्रधान होता है ॥१८७॥ इस प्रकार अपने लक्षणोसे प्रसिद्ध उपाध्यायका स्वरूप कहा। अब साधुके लक्षणका विचार करते है जो कि आगममे भलीभाँति सिद्ध है ॥१८८॥ मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक सम्यक्चारित्र है। जो आत्मसिद्धिके लिए इसका साधन करता है वह साधु है। यह इसका सार्थक नाम है ॥१८९॥ यह साधु स्वस्थ रहता है इसलिए न तो कुछ कहता है, न हाथ पैर आदिसे किसी प्रकारका इशारा करता है और न मनसे ही कुछ विचार करता है ॥१९०॥ किन्तु वह मुनि केवल शुद्ध आत्मामे लीन रहता है, अन्तरग और बहिरंग जल्पसे रहित हो जाता है और तरंग रहित समुद्रके समान शान्त रहता है ॥१९१॥ वह स्वर्ग और मोक्षके मार्गका थोडा भी न तो आदेश करता है और न उपदेश ही करता है फिर विपक्षका तो कर ही कैसे सकता है ॥१९२॥ वैराग्यकी चरम सीमाको प्राप्त, अधिक प्रभावान्,

निर्ग्रन्थोऽन्तर्बहिर्मोहग्रन्थेरुद्ग्रन्थको यमी । कर्मनिर्जरकः श्रेण्या तपस्वी स तपः शुचिः ॥१९४
परीषहोपसर्गाद्यैरजय्यो जितमन्मथः । एषणाशुद्धिसंशुद्धः प्रत्याख्यानपरायणः ॥१९५
इत्याद्यनेकधाऽनेकैः साधुः साधुगुणैः श्रितः । नमस्यः श्रेयसेऽवश्यं नेतरो विदुषां महान् ॥१९६
एवं मुनित्रयी ख्याता महती महतामपि । तद्विशुद्धिविशेषोऽस्ति क्रमात्तरतमात्मकः ॥१९७

तत्राचार्यः प्रसिद्धोऽस्ति दीक्षादेशाद्गुणाग्रणी ।
न्यायाद्वा देशतोऽध्यक्षात् सिद्धः स्वात्मन्यतत्परः ॥१९८

अर्थान्नातत्परोऽप्येष दृङ्मोहानुदयात्सतः । अस्ति तेनाविनाभूतशुद्धात्मानुभवः स्फुटम् ॥१९९
अप्यस्ति देशतस्तत्र चारित्रावरणक्षतिः । बाह्यार्थात् केवलं न स्यात्क्षतिर्वापि तदक्षतिः ॥२००
तथापि न बहिर्वस्तु स्यात्तद्धेतुरहेतुतः । अस्त्युपादानहेतोश्च तत्क्षतिर्वा तदक्षतिः ॥२०१
सन्ति संज्वलनस्योच्चैः स्पर्द्धका देशघातिनः । तद्विपाकोऽस्त्यमन्दो वा मन्दो हेतुः क्रमाद्द्वयोः २०२
संक्लेशस्तत्क्षतिर्नूनं विशुद्धिस्तु तदक्षतिः । सोऽपि तरतमस्वांशैः साऽप्यनेकैरनेकधा ॥२०३
अस्तु यद्वा न शैथिल्यं तत्र हेतुवशादिह । तथाप्येतावताचार्यः सिद्धो नात्मन्यतत्परः ॥२०४
तत्रावश्यं विशुद्ध्यंशस्तेषां मन्दोदयादिह । संक्लेशांशोऽथवा तीव्रोदयान्नायं विधिः स्मृतः ॥२०५

दिगम्बर जन्मके समय जैसा रूप होता है वैसे रूपको धारण करनेवाला, दयाशील, निर्ग्रन्थ, अन्तरग और बहिरग मोहकी गाँठको खोलनेवाला, व्रतोको जीवन पर्यन्त पालनेवाला, गुणश्रेणि-रूपसे कर्मोंको निजरा करनेवाला, तपरूपी किरणोको तपनेसे तपस्वी, परीषह और उपसर्ग आदिसे अजेय, कामको जीतनेवाला, शास्त्रोक्तविधिसे आहार लेने वाला और प्रत्याख्यानमे तत्पर इत्यादि अनेक प्रकारके साधुके योग्य अनेक गणोको धारण करनेवाला साधु होता है। ऐसा साधु कल्याणके लिये नियमसे नमस्कार करने योग्य है इससे विपरीत कोई यदि विद्वानोमे श्रेष्ठ भी हो तो वह नमस्कार करने योग्य नही है ॥१९३–१९६॥

इस प्रकार यद्यपि श्रेष्ठमे भी श्रेष्ठ इन तीन प्रकारके मुनियोका व्याख्यान किया तथापि उनमे तरतमरूप कुछ विशेषता पाई जाती है ॥१९७॥ वह इस प्रकार है—उन तीनोमे जो दीक्षा और आदेश देता है वह गणका अग्रणी आचाय है। वह अपनी आत्मामे लीन रहता है यह बात युक्ति आगम और अनुभवसे सिद्ध है ॥१९८॥ इसके दर्शन मोहनीयका अनुदय होता है इसलिये यह वास्तवमे अपनी आत्मामे अतत्पर नही है। किन्तु इसके उससे अविनाभाव सम्बन्ध रखनेवाला शुद्ध आत्माका अनुभव नियमसे पाया जाता है ॥१९९॥ दूसरे इसके चारित्र मोहनीयका एक देश क्षय भी पाया जाता है। क्योकि चारित्रकी हानि और लाभ केवल बाह्य पदार्थके निमित्तसे नहीं होता है ॥२००॥ किन्तु उपादान कारणके बलसे चारित्रकी हानि या उसका लाभ होता है। तब भी अहेतु होनेसे बाह्य वस्तु उसका कारण नही है ॥२०१॥ वास्तवमे सज्वलन कषायके जो देश-घाति स्पर्धक पाये जाते हैं उनका तीव्र और मन्द उदय ही क्रमसे चारित्रकी क्षति और अक्षतिका कारण है ॥२०२॥ सक्लेश नियमसे चारित्रकी क्षतिका कारण है और विशुद्धि चारित्रकी हानिका कारण नही है और वह संक्लेश तथा विशुद्धि भी अपने तरतमरूप अशोकी अपेक्षा अनेक प्रकारकी है। और ये तरतमरूप भी अपने अवान्तर भेदोकी अपेक्षा अनेक प्रकारके हैं ॥२०३॥ अथवा कारणवश आचार्यके चारित्रमे कदाचित् शिथिलता भी होवे और कदाचित् न भी होवे तो भी इतने मात्रसे आचार्य अपनी आत्मामे अतत्पर है यह बात सिद्ध नहीं होती ॥२०४॥ उनके देशघाति

किन्तु दैवाद्विशुद्धयंश संक्लेशांशोऽथ वा क्वचित् । तद्विशुद्धेर्विशुद्धयंश संक्लेशांशादयं पुन ॥ २०६
तेषां तीव्रोदयात्तावदेतावानत्र बाधक । सर्वतश्चेत्प्रकोपी च नापराधोस्त्यतोऽपर ॥२०७
तेनात्रैतावता नूनं शुद्धस्यानुभवच्युति. । कर्तुं न शक्यते यस्मादत्रास्त्यन्य प्रयोजक ॥२०८
हेतु शुद्धात्मनो ज्ञाने शमो मिथ्यात्वकर्मण । प्रत्यनीकस्तु तत्रोच्चैरशमस्तस्य व्यत्ययात् ॥२०९
दृग्मोहेऽस्तङ्गते पुंस. शुद्धस्यानुभवो भवेत् । न भवेद्विघ्नकर कश्चिच्चारित्रावरणोदय ॥२१०
न चाकिञ्चित्करश्चैव चारित्रावरणोदय । दृग्मोहस्य कृतेनालमलं स्वस्य कृते च य ॥२११
कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मन । नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ॥२१२
यथा चक्षु प्रसन्नं वै कस्यचिद्दैवयोगत । इतरत्राक्षतापेऽपि दृष्टाध्यक्षान्न तत्क्षति ॥२१३
कषायाणामनुद्रेकश्चारित्रं तावदेव हि । नानुद्रेक कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ॥२१४
ततस्तेषामनुद्रेक स्यादुद्रेकोऽथवा स्वत । नात्मदृष्टे क्षतिर्नूनं दृग्मोहस्योदयादृते ॥२१५
अथ सूरिरुपाध्याय द्वावेतौ हेतुत समौ । साधुरिवात्मज्ञौ शुद्धौ शुद्धौ शुद्धोपयोगिनौ ॥२१६
नापि कश्चिद्विशेषोऽस्ति द्वयोस्तरतमो मिथ । नैताभ्यामन्तरुत्कर्ष साधोरप्यतिशायनात् ॥२१७

स्पर्धकोके मन्द उदय होनेसे नियमसे विशुद्धता होती है और देशघाति स्पर्धकोके तीव्र उदय होनेसे संक्लेश होता है यह विधि नही मानी गई है ॥२०५॥ किन्तु दैववश उनके कही पर विशुद्धयश भी होता है और दैववश कही पर संक्लेशाश भी होता है। यदि चारित्रकी विशुद्धि है तो विशुद्धयश होता है और यदि संक्लेशांशका उदय होता है तो सक्लेश भी होता है ॥२०६॥ उन देशघाति स्पर्धकोंका तीव्र उदय तो केवल इतना ही आचार्यके बाधक है कि यदि वह सर्वथा प्रकोपका कारण है ऐसा मान लिया जाय तो इससे बड़ा और कोई अपराध नही है ॥२०७॥ इसलिये यहाँ पर इतने मात्रसे आचार्यके शुद्ध अनुभवकी च्युति नही की जा सकती, क्योकि इसका कारण कोई दूसरा है ॥२०८॥ मिथ्यात्व कर्मका अनुदय शुद्ध आत्माके ज्ञानमे कारण है और उसका तीव्र उदय इसमें बाधक है, क्योकि मिथ्यात्वका उदय होने पर शुद्ध आत्माके ज्ञानका विनाश देखा जाता है ॥२०९॥ दर्शनमोहनीयका अभाव होनेपर शुद्ध आत्माका अनुभव होता है इसलिये चारित्रावरण-का किसी भी प्रकारका उदय उसका बाधक नही है ॥२१०॥ एतावता चारित्रावरणका उदय अकिंचित्कर है यह बात नही है क्योकि यद्यपि वह दर्शनमोहनीयका कार्य करनेमे असमर्थ है तथापि वह अपना कार्य करनेमे अवश्य समर्थ है ॥२११॥ चारित्र-मोहनीयका कार्य आत्माको चारित्रसे च्युत करना है आत्मदृष्टिसे च्युत करना उसका काय नही, क्योकि न्यायसे विचार करने पर इतर दृष्टियोके समान वह भी एक दृष्टि है ॥२१२॥ जिस प्रकार दैवयोगसे यदि किसीकी एक आँख निर्मल है तो यह प्रत्यक्षसे देखते हैं कि दूसरी आँखमे सतापके होने पर भी उसकी हानि नहीं होती। उसी प्रकार चारित्र मोहके उदयसे चारित्रगुणमे विकारके होने पर भी आत्माके सम्यक्त्व गुणको हानि नही होती ॥२१३॥ जब तक कषायोका अनुदय है तभी तक चारित्र है और कषायोका उदय ही आत्माका चारित्रसे च्युत होना है ॥२१४॥

इसलिये चाहे कषायोका अनुदय हो चाहे उदय हो पर दर्शनमोहनीयके उदयके बिना इतने मात्रसे सम्यग्दर्शनकी कोई हानि नही होती ॥२१५॥ अन्तरंग कारणकी अपेक्षा विचार करने पर आचार्य और उपाध्याय ये दोनो ही समान हैं, साधु हैं, साधुके समान आत्मज्ञ हैं, शुद्ध हैं और शुद्ध उपयोगवाले हैं ॥२१६॥ इन दोनोमे परस्पर तरतमरूप कोई विशेषता नही है और न इन दोनोसे साधुमे भी अतिशयरूपसे कोई भीतरी उत्कर्ष पाया जाता है ॥२१७॥ यदि इनमे परस्पर

कैवलतोऽस्ति विशेषश्चेन्मिथस्तेषां बहिः कृतः । का क्षतिर्मूलहेतोः स्यादन्तःशुद्धिसमन्वितः ॥२१८
नास्त्यत्र नियतः कश्चिद्युक्तिस्वानुभवागमात् । मन्दादिरुदयस्तेषां सूर्युपाध्यायसाधुषु ॥२१९
प्रत्येकं बहवः सन्ति सूर्युपाध्यायसाधवः । जघन्यमध्यमोत्कृष्टभावैश्चैकैकशः पृथक् ॥२२०
कश्चित्सूरिः कदाचिद्वै विशुद्धिं परमां गतः । मध्यमां वा जघन्यां वा स्वोचितां पुनराश्रयेत् ॥२२१
हेतुस्तत्रोदिता नानाभावांशैः स्पर्द्धकाः क्षणम् । धर्मादेशोपदेशादिहेतुर्नात्र बहिः क्वचित् ॥२२२
परिपाट्यानया योज्याः पाठकाः साधवश्च ये । न विशेषो यतस्तेषां नियतः शेषो विशेषभाक् ॥२२३
न तु धर्मोपदेशादि कर्म तत्कारणं बहिः । हेतोरभ्यन्तरस्यापि बाह्यं हेतुर्बहिः क्वचित् ॥२२४
नैवमर्थाद्यतः सर्वं वस्त्वकिञ्चित्करं बहिः । तत्पदं फलवन्मोहादिच्छतोऽर्थान्तरं परम् ॥२२५
किं पुनर्गणिनस्तस्य सर्वतोऽनिच्छतो बहिः । धर्मादेशोपदेशादिस्वपदं तत्फलं च यत् ॥२२६
नास्यासिद्धं निरीहत्वं धर्मादेशादिकर्मणि । न्यायादक्षार्थकाङ्क्षाया ईहा नान्यत्र जातुचित् ॥२२७
ननु नेहां विना कर्म कर्म नेहां विना क्वचित् । तस्मान्नानीहितं कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ॥२२८

थोड़ी बहुत विशेषता है भी तो वह बाह्य क्रियाकृत ही है क्योंकि इन तीनोंका मूलकारण अन्तरंग शुद्धि जब कि समान है तो बाह्य विशेषतासे क्या हानि है अर्थात् कुछ भी हानि नहीं है ॥२१८॥ इन आचार्य, उपाध्याय और साधुके कषायोंका कोई भी मन्दादि उदय नियत नहीं है। युक्ति, स्वानुभव और आगमसे तो यही ज्ञात होता है कि इनके किसी भी प्रकारके अंशोंका उदय सम्भव है ॥२१९॥

आचार्य, उपाध्याय और साधु इनमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद हैं जो पृथक्-पृथक् एक-एकके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भावोंकी अपेक्षासे प्राप्त होते हैं ॥२२०॥ कोई आचार्य कदाचित् उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त होकर फिर मध्यम या जघन्य विशुद्धिको प्राप्त होता है ॥२२१॥ नाना अविभाग प्रतिच्छेदोंको लिये हुए प्रति समय उदयमें आनेवाले सञ्ज्वलन कषायके देशघाति स्पर्धक ही इसका कारण हैं, धर्मका आदेश या उपदेश आदि रूप बाह्यक्रिया इसका कारण नहीं हैं ॥२२२॥ जिस परिपाटीसे आचार्योंके भेद बतलाये हैं इसी परिपाटीसे उपाध्याय और साधुओंके भेद भी घटित कर लेने चाहिये क्योंकि युक्तिसे विचार करनेपर आचार्यसे इनमें अन्तरंगमें और कोई विशेषता शेष नहीं रहती। वे तीनों समान हैं ॥२२३॥ शंका—धर्मका उपदेश आदि बाह्यकार्य आचार्य आदिकी विशेषताका कारण रहा आवे, क्योंकि बाह्यहेतु कहींपर आभ्यन्तर हेतुका बाह्य निमित्त होता है ॥२२४॥ समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि समस्त बाह्य पदार्थ वास्तवमें अकिञ्चित्कर हैं। अब यदि मोहवश कोई परपदार्थको निज मानता है तो उसके लिये ये पर—आचार्य आदि अवश्य ही फलवाले हैं। अर्थात् इनसे वह सांसारिक प्रयोजनकी सिद्धि कर सकता है ॥२२५॥ किन्तु जो बाह्यरूप आचार्य पद और धर्मका आदेश तथा उपदेश आदि रूप उसके फलको सर्वथा नहीं चाहता है उस आचार्यका तो फिर कहना ही क्या है, अर्थात् उसकी अन्तरंग परिणतिमें ये बाह्यकार्य बिलकुल ही कारण नहीं हो सकते ॥२२६॥ धर्मके आदेश आदि कार्योंमें आचार्य निरीह होते हैं यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि न्यायसे इन्द्रियोंके विषयोंकी आकांक्षा ही ईहा मानी गई है अन्यत्र की गई इच्छा कभी भी ईहा नहीं मानी गई है ॥२२७॥ शंका—कहीं भी क्रियाके बिना इच्छा नहीं होती है और इच्छाके बिना क्रिया नहीं होती है इसलिये इन्द्रियोंके विषय रहे या न रहे, तथापि बिना इच्छाके क्रिया नहीं हो सकती ? ॥२२८॥

नैवं हेतोरतिव्याप्तेरारादाक्षीणमोहिषु । बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसम्भव ॥२२९
ततोऽस्त्यन्त कृतो भेद शुद्धेर्नांशांशतस्त्रिषु । निर्विशेषात्समस्त्वेष पक्षो माभूद्बहि कृत ॥२३०
किञ्चाऽस्ति यौगिकी रूढि प्रसिद्धा परमागमे । विना साधुपद न स्यात्केवलोत्पत्तिरञ्जसा ॥२३१
तत्राकृतमिदं सम्यक् साक्षात्सर्वार्थदर्शिन । क्षणमस्ति स्वत श्रेण्यामधिरूढस्य तत्पदम् ॥२३२
यतोऽवश्य स सूरिर्वा पाठक श्रेण्यनेहसि । कृत्स्नचिन्तानिरोधात्मलक्षण ध्यानमाश्रयेत् ॥२३३
तत सिद्धमनायासात्तत्पदत्वं तयोरिह । नूनं बाह्योपयोगस्य नावकाशोऽस्ति तत्र यत् ॥२३४
न पुनश्चरण तत्र छेदोपस्थापना वरम् । प्रागादाय क्षण पश्चात्सूरि साधुपद श्रयेत् ॥२३५
उक्त दिग्मात्रमत्राऽपि प्रसङ्गाद्गुरुलक्षणम् । शेष विशेषतो ज्ञेय तत्स्वरूप जिनागमात् ॥२३६
धर्मो नीचपदादुच्चै पदे धरति धार्मिकम् । तत्राजवञ्जवो नीचै पदमुच्चैस्तदव्यय ॥२३७
सम्यग्दृग्ज्ञप्तिचारित्रं धर्मो रत्नत्रयात्मक । तत्र सद्दर्शन मूल हेतुरद्वैतमेतयो ॥२३८
तत सागाररूपो वा धर्मोऽनागार एव वा । सद्दृक्-पुरस्सरो धर्मो न धर्मस्तद्विना क्वचित् ॥२३९
रूढितोऽधिवपुर्वाचां क्रिया धर्म शुभावहा । तत्रानुकूलरूपा वा मनोवृत्ति सहानया ॥२४०
सा द्विधा स च सागारानागाराणां विशेषत । यत क्रियाविशेषत्वान्नून धर्मो विशेषत ॥२४१
तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् । देशतो विरति प्रोक्त गृहस्थानामणुव्रतम् ॥२४२

समाधान—ऐसा नही है, क्योकि ऐसा माननेपर यह लक्षण क्षीणमोही और उनके समीपवर्ती गुणस्थानवालोमे अतिव्याप्त हो जाता है और यदि यहाँ भी इच्छापूर्वक क्रिया मानी जाती है तो बन्धको नित्यताकी आपत्ति प्राप्त होनेसे मुक्ति असम्भव हो जाती है ॥२२९॥ इसलिये विशुद्धिके नाना अशोकी अपेक्षासे अन्तरगकृत भेद है यह पक्ष सामान्यरूपसे तीनोमे माना जाना चाहिये। इसे बाह्य क्रियाकी अपेक्षासे मानना उचित नही है ॥२३०॥ दूसरे परमागममे जो यह सार्थकरूढ़ि प्रसिद्ध है कि साधुपदको प्राप्त किये विना नियमसे केवलज्ञानकी उत्पत्ति नही होती है ॥२३१॥ सो इस विषयमे समस्त पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले सर्वज्ञदेवने यह ठीक ही कहा है कि श्रेणीपर चढ़े हुए जीवके वह साधुपद क्षणमात्रमे स्वत प्राप्त हो जाता है ॥२३२॥ क्योकि चाहे आचार्य हो या उपाध्याय, श्रेणीपर चढ़नेके समय वह नियमसे सम्पूर्ण चिन्ताओके निरोध रूप ध्यानको धारण करता है ॥२३३॥ इसलिये यह बात सिद्ध हुई कि आचार्य और उपाध्यायके श्रेणी आरोहणके समय साधुपद अनायास होता है क्योकि वहाँपर बाह्य उपयोगको कोई अवकाश नही है ॥२३४॥ किन्तु ऐसा नही है कि आचाय पहले छेदोपस्थापना रूप उत्तम चारित्रको ग्रहण करके पश्चात् साधुपदको धारण करता है ॥२३५॥ इस प्रकार यहाँपर प्रसगवश सक्षेपमे गुरुका लक्षण कहा। उनका शेषस्वरूप विशेषरूपसे जिनागमसे जानना चाहिये ॥२३६॥ जो धर्मात्मा पुरुषको नीच स्थानसे उठाकर उच्चस्थानमे धरता है वह धर्म है। यहाँ ससार नीच स्थान है और उसका नाशरूप मोक्ष उच्चस्थान है ॥२३७॥ वह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन रूप है। उन तीनोमेसे सम्यग्दर्शन इन दोनोके समीचीनपनेका एकमात्र कारण है ॥२३८॥ इसलिए गृहस्थ धर्म या मुनिधर्म जो भी धर्म है वह सम्यग्दर्शनपूर्वक होनेसे ही धर्म है। सम्यग्दर्शनके विना कही भी धर्म नही ॥२३९॥ फिर भी रूढ़िसे शरीर और वचनकी शुभफल देनेवाली क्रियाको धर्म कहते हैं या शरीर और वचनकी शुभ क्रियाके साथ जो अनुकूल मनकी प्रवृत्ति होती है उसे धर्म कहते हैं ॥२४०॥ सम्पूर्ण गृहस्थ और मुनियोंके भेदसे वह क्रिया दो प्रकारकी है, क्योकि क्रियाके भेदसे ही धर्ममे भेद होता है ॥२४१॥ इन दोनोमेसे जो हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और समस्त परिग्रह इनसे एकदेश विरति

यतेर्मूलगुणाश्चाष्टाविंशतिर्मूलवत्तरोः । नात्राप्यन्यतमेनोना नातिरिक्ताः कदाचन ॥२४३
सर्वैरेव समस्तैश्च सिद्धं यावन्मुनिव्रतम् । न व्यस्तैर्व्यस्तमात्रं तु यावदंशनयादपि ॥२४४

उक्तं च—

> वदसमिदिंदियरोधो लोचो आवसयमचेलमण्हाणं ।
> खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥२०

एते मूलगुणा प्रोक्ता यतीना जैनशासने । लक्षाणां चतुरशीतिर्गुणाश्चोत्तरसंज्ञका ॥२४५
तत सागारधर्मो वाऽनगारो वा यथोदित । प्राणिसंरक्षण मूलमुभयत्राविशेषत ॥२४६
उक्तमस्ति क्रियारूपं व्यासाद्व्रतकदम्बकम् । सर्वसावद्ययोगस्य तदेकस्य निवृत्तये ॥२४७
अर्थाज्जैनोपदेशोऽयमस्त्यादेश स एव च । सर्वसावद्ययोगस्य निवृत्तिर्व्रतमुच्यते ॥२४८
सर्वशब्देन तत्रान्तर्बहिर्वृत्तिपदार्थत । प्राणोच्छेदो हि सावद्य सैव हिंसा प्रकीर्तिता ॥२४९
योगस्तत्रोपयोगो वा बुद्धिपूर्व स उच्यते । सूक्ष्मश्चाबुद्धिपूर्वो य स स्मृतो योग इत्यपि ॥२५०
तस्याभावो निवृत्ति स्याद्व्रत चार्थादिति स्मृति । अंशात्साप्यंशतस्तत्सा सर्वत सर्वतोऽपि तत्॥२५१
सर्वत. सिद्धमेवैतद् व्रत बाह्यं दयाङ्गिषु । व्रतमन्त कषायाणां त्याग सैवात्मनि कृपा ॥२५२
लोकासंख्यातमात्रास्ते यावद्रागादय स्फुटम् । हिंसायास्तत्परित्यागो व्रत धर्मोऽथवा किल ॥२५३

है वह गृहस्थोका अणुव्रत कहा गया है ॥२४२॥ यतिके अट्ठाईस मूलगुण होते हैं। वे ऐसे हैं जैसे कि वृक्षका मूल होता है। कभी भी इनमेंसे न तो कोई कम होता है और न अधिक ही होता है ॥२४३॥ समस्तरूप इन सब गुणोके द्वारा ही पूरा पूरा मुनिव्रत सिद्ध होता है, व्यस्तरूप इन सब गुणोके द्वारा नही, क्योकि एक अंशको ग्रहण करनेवाले नयकी अपेक्षा तो वह व्यस्तरूप ही सिद्ध होता है, पूरा मुनिव्रत नही सिद्ध होता ॥२४४॥

कहा भी है—'पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँचो इन्द्रियोका निरोध करना, केशलोच, छह आवश्यक, नग्न रहना, स्नान नही करना, जमीनमे सोना, दन्तधावन नही करना, खडे होकर आहार लेना और एक बार भोजन करना ये अट्ठाईस मूलगुण है ॥२०॥

जैनशासनमे यतियोके ये मूलगुण कहे हैं। उनके उत्तरगुण चौरासी लाख होते हैं ॥२४५॥ इसलिये जैसा सागारधर्म कहा गया है और जैसा मुनिधर्म कहा गया है उन दोनोमे सामान्यरीतिसे प्राणियोका संरक्षण मूल है ॥२४६॥ इसी प्रकार विस्तारसे क्रियारूप जितना भी व्रतोका समुदाय कहा गया है वह केवल एक सर्वसावद्ययोगकी निवृत्तिके लिये ही कहा गया है ॥२४७॥ अर्थात् जिनमतका यही उपदेश है और यही आदेश है कि सर्वसावद्ययोगकी निवृत्तिको ही व्रत कहते हैं ॥२४८॥ यहाँपर सर्व शब्दसे उसका यौगिक अर्थ अन्तरंग और बहिरंग वृत्ति लिया गया है तथा सावद्य शब्दका अर्थ प्राणोका छेद करना है और वही हिंसा कही गई है। इस हिंसामे जो बुद्धि-पूर्वक उपयोग होता है वह योग है या जो अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म उपयोग होता है वह भी योग है ॥२४९-२५०॥ तथा इस सर्वसावद्ययोगका अभाव होना ही उससे निवृत्ति है और वही वास्तवमें व्रत माना गया है। यदि सर्वसावद्ययोगकी निवृत्ति अंशरूपसे होती है तो व्रत भी एकदेश होता है और यदि वह सब प्रकारसे होती है तो व्रत भी सर्वदेश होता है ॥२५१॥ इस प्रकार यह बात सब प्रकारसे सिद्ध हो गयी कि प्राणियोपर दया करना बाह्य व्रत है और कषायोका त्याग करना अन्तरंग व्रत है। अपनी आत्मापर कृपा भी यही है ॥२५२॥ क्योकि जबतक असंख्यात लोकप्रमाण

आत्मेतराङ्गिणामङ्गरक्षणं यन्मतं स्मृतौ । तत्परं स्वात्मरक्षाया कृतेनातः परत्र तत् ॥२५४
सत्सु रागादिभावेषु बन्धः स्यात्कर्मणा बलात् । तत्पाकादात्मनो दुःखं तत्सिद्धः स्वात्मनो वधः ॥
ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते । चारित्रापरनामैतद्व्रतं निश्चयतः परम् ॥२५६
रूढेः शुभोपयोगोऽपि स्यातश्चारित्रसंज्ञया । स्वार्थक्रियामकुर्वाणः सार्थनामा न निश्चयात् ॥२५७
किन्तु बन्धस्य हेतुः स्यादर्थात्तत्प्रत्यनीकवत् । नासौ वरं वरं यः स नापकारोपकारकृत् ॥२५८
विरुद्धकार्यकारित्वं नास्यासिद्धं विचारसात् । बन्धस्यैकान्ततो हेतोः शुद्धादन्यत्र सम्भवात् ॥२५९
नोह्यं प्रज्ञापराधत्वान्निर्जराहेतुरंशतः । अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहात् ॥२६०
कर्मादानक्रियारोधः स्वरूपाचरणं च यत् । धर्मः शुद्धोपयोगः स्यात्सैष चारित्रसंज्ञकः ॥२६१

उक्तं च—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्तिणिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥२१

ननु सद्दर्शनज्ञानचारित्रैर्मोक्षपद्धतिः । समस्तैरेव न व्यस्तैस्तत्किं चारित्रमात्रया ॥२६२
सत्यं सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गतं मिथः । त्रयाणामविनाभावाद् रत्नत्रयमखण्डितम् ॥२६३

वे रागादिक भाव रहते हैं तबतक ज्ञानादिक धर्मोंकी हिंसा होनेसे आत्माकी हिंसा होती रहती है ॥२५३॥ आशय यह है कि वास्तवमे रागादि भाव ही हिंसा है, अधर्म है, व्रतसे च्युत होना है और रागादिका त्याग करना ही अहिंसा है, व्रत है अथवा धर्म है ॥२५४॥ रागादि भावोके होनेपर कर्मोंका बन्ध नियमसे होता है और उस बँधे हुए कर्मके उदयसे आत्माको दुःख होता है इसलिये रागादि भावोका होना आत्मवध है यह बात सिद्ध होती है ॥२५५॥ इसलिये मोहनीय कर्मके उदयके अभावमे जो शुद्धोपयोग होता है उसका दूसरा नाम चारित्र है और वही निश्चयसे उत्कृष्ट व्रत है ॥२५६॥ चारित्र सब प्रकारसे अपनी अर्थक्रियाको करता हुआ भी निर्जराका कारण है यह बात न्यायसे भी अबाधित है इसलिये वह दीपकके समान साथक नामवाला है ॥२५७॥ किन्तु वह अशुभोपयोगके समान वास्तवमे बन्धका कारण है इसलिये यह श्रेष्ठ नही है। श्रेष्ठ वह है जो न तो उपकार ही करता है और न अपकार ही करता है ॥२५८॥ शुभोपयोग विरुद्ध कार्यकारी है यह बात विचार करनेपर असिद्ध भी नही प्रतीत होती, क्योकि शुभोपयोग एकान्तसे बन्धका कारण होनेसे वह शुद्धोपयोगके अभावमे ही पाया जाता है ॥२५९॥ बुद्धि दोषसे ऐसी तर्कणा भी नहीं करनी चाहिये कि शुभोपयोग एक देशनिर्जराका कारण है, क्योकि न तो शुभोपयोग ही बन्धके अभावका कारण है और न अशुभोपयोग ही बन्धके अभावका कारण है ॥२६०॥ कर्मोंके ग्रहण करनेकी क्रियाका रुक जाना ही स्वरूपाचरण है। वही धर्म है, वही शुद्धोपयोग है और वही चारित्र है ॥२६१॥

कहा भी है—"निश्चयसे चारित्र ही धर्म है और जो धर्म है उसीको शम कहते हैं।" तात्पर्य यह है कि मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम ही धर्म है ॥२१॥

शंका—जब कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र इन तीनोके मिलनेपर ही मोक्षमार्ग होता है एक-एकके रहनेपर नही तब फिर केवल चारित्रको मोक्षमार्ग कहनेसे क्या प्रयोजन है ॥२६२॥ समाधान—यह कहना ठीक है तथापि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दोनो मिलकर चारित्रमे गर्भित हैं, क्योकि तीनोका परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध होनेसे ये तीनो

किञ्च सद्दर्शनं हेतुः संविच्चारित्रयोर्द्वयोः । सम्यग्विशेषणस्योच्चैर्यद्वा प्रत्यग्रजन्मनः ॥२६४
अर्थोऽयं सति सम्यक्त्वे ज्ञानचारित्रमत्र यत् । भूतपूर्वं भवेत्सम्यक् सूते वाऽभूतपूर्वकम् ॥२६५
शुद्धोपलब्धिशक्तिर्या लब्धिज्ञानातिशायिनी । सा भवेत्सति सम्यक्त्वे शुद्धो भावोऽथवापि च ॥२६६
यत्पुनर्द्रव्यचारित्रं श्रुतज्ञानं विनापि दृक् । न तज्ज्ञानं न चारित्रमस्ति चेत्कर्मबन्धकृत् ॥२६७
तेषामन्यतमोद्देशो नालं दोषाय जातुचित् । मोक्षमार्गैकसाध्यस्य साधकानां स्मृतेरपि ॥२६८
बन्धो मोक्षश्च ज्ञातव्यः समासात्प्रश्नकोविदैः । रागांशैर्बन्ध एव स्यान्नारागांशैः कदाचन ॥२६९

उक्तं च—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२२
येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२३
येनांशेन चारित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति । येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२४
उक्तो धर्मस्वरूपोऽपि प्रसङ्गात्सङ्गतोंऽशतः । कविर्लब्धावकाशस्तं विस्तराद्वा करिष्यति ॥२७०
देवे गुरौ तथा धर्मे दृष्टिस्तत्त्वार्थदर्शिनी । ख्याताप्यमूढदृष्टिः स्यादन्यथा मूढदृष्टिता ॥२७१
सम्यक्त्वस्य गुणोऽप्येष नालं दोषाय लक्षितः । सम्यग्दृष्टिर्यतोऽवश्यं यथा स्यान्न तथेतरः ॥२७२

अखण्डित हैं ॥२६३॥ दूसरी बात यह है कि सम्यग्दर्शन यह ज्ञान और चारित्र इन दोनोंमें सम्यक् विशेषणका हेतु है। अथवा जो ज्ञान और चारित्र नूतन होते हैं उनमें सम्यक् विशेषणका एकमात्र यही हेतु है ॥२६४॥ इसका यह अभिप्राय है कि पहलेका जो ज्ञान और चारित्र होता है वह सम्यग्दर्शनके होनेपर समीचीन हो जाता है। अथवा सम्यग्दर्शन यह अभूतपूर्वज्ञान और चारित्रको जन्म देता है ॥२६५॥ शुद्ध आत्माके जाननेकी शक्ति जो कि ज्ञानमें अतिशय लानेवाली लब्धिरूप है वह सम्यक्त्वके होनेपर ही होती है। अथवा शुद्धभाव भी सम्यक्त्वके होनेपर ही होता है ॥२६६॥ और जो द्रव्य चारित्र और श्रुतज्ञान है वह यदि सम्यग्दर्शनके बिना होता है तो वह न ज्ञान है न चारित्र है। यदि है तो केवल कर्मबन्ध करनेवाला है ॥२६७॥ इसलिये इन तीनोंमेंसे किसी एकको कथन करना कभी भी दोषाधायक नहीं है, क्योंकि मोक्षमार्ग एक साध्य है और ये तीनों इसके साधक माने गये हैं ॥२६८॥ प्रश्नके अभिप्रायको जाननेवाले पुरुषोंको संक्षेपमें बन्ध और मोक्षका स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिये कि रागांशरूप परिणामोंसे बन्ध होता है और रागांश-रूप परिणामोंके नहीं रहनेसे कभी भी बन्ध नहीं होता ॥२६९॥

कहा भी है—'जिस अंशसे यह सम्यग्दृष्टि है उस अंशसे इसके बन्ध नहीं होता है। किन्तु जिस अंशसे राग है उस अंशसे इसके बन्ध अवश्य होता है ॥२२॥ जिस अंशसे ज्ञान है, उस अंशसे उसके कर्म-बन्ध नहीं होता, किन्तु जिस अंशसे राग है, उस अंशसे कर्म-बन्ध होता है ॥२३॥ जिस अंशसे चारित्र है, उस अंशसे उसके कर्म-बन्ध नहीं होता, किन्तु जिस अंशसे राग है, उस अंशसे कर्म-बन्ध होता है ॥२४॥

इस प्रकार प्रसंगवश संक्षेपसे युक्तियुक्त धर्मका स्वरूप कहा। कवि यथावकाश उसका विस्तारसे कथन आगे करेगा ॥२७०॥ समस्त कथनका सार यह है कि देव, गुरु और धर्ममें यथार्थताको देखनेवाली दृष्टि ही अमूढदृष्टि कही गयी है और इससे विपरीत दृष्टि ही मूढ दृष्टि है ॥२७१॥ यह भी सम्यक्त्वका गुण है। यह किसी प्रकार भी दोषकारक नहीं है, क्योंकि जो सम्यग्दृष्टि है वह नियमसे अमूढदृष्टि होता है और जो सम्यग्दृष्टि नहीं है वह अमूढ दृष्टि

उपबृंहणनामास्ति गुण सम्यग्दृगात्मन । लक्षणादात्मशक्तीनामवश्यं बृंहणादिह ॥२७३
आत्मशुद्धेरदौर्बल्यकरणं चोपबृंहणम् । अर्थाद्दृग्ज्ञप्तिचारित्रभावादस्खलनं हि तत् ॥२७४
जानन्नप्येष निःशेषात्पौरुषं नात्मदर्शने । तथापि यत्नवानत्र पौरुषं प्रेरयन्निव ॥२७५
नायं शुद्धोपलब्धौ स्याल्लेशतोऽपि प्रमादवान् । निष्प्रमादतयात्मानमादधान समादरात् ॥२७६
यद्वा शुद्धोपलब्ध्यर्थमभ्यसेदपि तद्बहि । सत्क्रियां काञ्चिदप्यर्थात्तत्साध्यानुपयोगिनाम् ॥२७७
रसेन्द्रं सेवमानोऽपि काम्यपथ्य न चाचरेत् । आत्मनोऽनुल्लाघतामुज्झन्नोज्झन्नुल्लाघतामपि ॥२७८
यद्वा सिद्धं विनायासात्स्वतस्तत्रोपबृंहणम् । ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ निर्जराया सुसम्भवात् ॥२७९
अवश्यं भाविनी तत्र निर्जरा कृत्स्नकर्मणाम् । प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावदसंख्येयगुणक्रमात् ॥२८०
न्यायादायातमेतद्वै यावतांशेन तत्क्षितौ । वृद्धि शुद्धोपयोगस्य वृद्धिर्वृद्धि पुन पुन ॥२८१
यथा यथा विशुद्धि स्याद्बुद्धिरन्त प्रकाशिनी । तथा तथा हृषीकाणामुपेक्षा विषयेष्वपि ॥२८२
ततो भूम्नि क्रियाकाण्डे नात्मशक्ति स लोपयेत् । किन्तु संवर्द्धयन्नून यत्नादपि च दृष्टिमान् ॥२८३
उपबृंहणनामापि गुण सद्दर्शनस्य य । गणितो गणनामध्ये गुणानां नागुणाय च ॥२८४
सुस्थितीकरण नाम गुण सद्दर्शनस्य य । धर्माच्च्युतस्य धर्मे तन्नाधर्मे धर्मिण क्षते ॥२८५

कभी नही होता ॥२७२॥ सम्यग्दृष्टि जीवका उपबृहण नामका भी एक गुण है। आत्मीक शक्तियो को नियमसे वृद्धि करना यह इसका लक्षण है ॥२७३॥ आत्माकी शुद्धिमे दुर्बलता न आने देना या उसकी पुष्टि करना उपबृहण है। अर्थात् आत्माको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप भावसे च्युत नही होने देना ही उपबृहण है ॥२७४॥ यह जीव जानता हुआ भी आत्म-साक्षात्कारके विषयमे पूरी तरहसे पुरुषार्थ नही कर पाता। तथापि पुरुषार्थकी प्रेरणा देता हुआ ही मानो इस विषयमे प्रयत्नवान् रहता है ॥२७५॥ यह शुद्धोपलब्धिमे रचमात्र भी प्रमादी नही होता है किन्तु प्रमादरहित होकर आदरसे आत्मीक कार्योंमे लगा रहता है ॥२७६॥ अथवा शुद्धोपलब्धिके लिये यह उस आत्मीक कार्यमे उपयोगी पडनेवाली किही बाहरी सत्क्रियाओका भी अभ्यास करता है ॥२७७॥ जैसे पारद भस्मको सेवन करता हुआ भी कोई पुरुष पथ्य करता है और कोई पुरुष पथ्य नही भी करता है। जो पथ्य करता है वह अपने रोगसे मुक्ति पा लेता है और जो पथ्य नही करता है वह अपनी नीरोगताको भी खो बैठता है। वैसे ही प्रकृतमे जानना चाहिये ॥२७८॥ अथवा सम्यग्दृष्टिके बिना ही प्रयत्नके स्वभावसे उपबृहण गुण होता है, क्योकि इसके ऊपर गुणश्रेणी निर्जरा पाई जाती है ॥२७९॥ इसके समस्त कर्मोंकी प्रतिसमय असख्यात गुण क्रमसे निर्जरा अवश्य होती रहती है ॥२८०॥ इसलिये यह बात युक्तिसे प्राप्त हुई कि इसके जितने रूपमे कर्मोंका क्षय होता है उतनी शुद्धोपयोगकी वृद्धि होती है। इस प्रकार वृद्धिके बाद वृद्धि बराबर होती जाती है ॥२८१॥ इसके जैसे जैसे विशुद्धिकी भीतर प्रकाश देनेवाली वृद्धि होती है वैसे वैसे इन्द्रियोके विषयमे भी इसके उपेक्षा होती जाती है ॥२८२॥ इसलिये बडे भारी क्रियाकाण्डमे वह सम्यग्दृष्टि अपनी शक्तिको न छिपावे। किन्तु प्रयत्नसे भी अपनी शक्तिको बढ़ावे ॥२८३॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शनका जो उपबृहण नामका गुण है वह भी गुणोकी गणनामे आ जाता है। वह दोषाधायक नही है ॥२८४॥ सम्यग्दृष्टिका एक स्थितीकरण नामका गुण है। जो धर्मसे च्युत हो गया है उसका धर्ममे स्थित करना स्थितीकरण है। किन्तु अधर्मसे च्युत हुए जीवको अधर्ममे स्थित करना स्थितीकरण नही है ॥२८५॥ कितने ही अल्पज्ञानी भावी धर्मकी

न प्रमाणीकृतं वृद्धैर्धर्मायाधर्मसेवनम् । भाविधर्माशया केचिन्मन्दाः सावद्यवादिनः ॥२८६
परम्परेति पक्षस्य नावकाशोऽत्र लेशतः । मूर्खादन्यत्र को मोहाच्छीतार्थी वह्निमाविशेत् ॥२८७
नैतद्धर्मस्य प्राग्रूपं प्रागधर्मस्य सेवनम् । व्याप्तेः पक्षधर्मत्वाद्धेतोर्वा व्यभिचारतः ॥२८८
प्रतिसूक्ष्मक्षणं यावद्धेतोः कर्मोदयात्स्वतः । धर्मो वा स्यादधर्मो वाऽप्येष सर्वत्र निश्चयः ॥२८९
तत्स्थितीकरणं द्वेधा साक्षात्स्वपरभेदतः । स्वात्मनः स्वात्मतत्त्वेऽर्थात् परतत्त्वे परस्य तत् ॥२९०
तत्र मोहोदयोद्रेकाच्च्युतस्यात्मस्थितेश्चितः । भूयः संस्थापनं स्वस्य स्थितीकरणमात्मनि ॥२९१
अयं भावः क्वचिद्दैवाद्दर्शनात्स पतत्यधः । व्रजत्यूर्ध्वं पुनर्दैवात्सम्यगासाद्य दर्शनम् ॥२९२
अथ क्वचिद्यथाहेतोर्दर्शनादपतन्नपि । भावशुद्धिमधोधोंऽशैर्गच्छन्नूर्ध्वं स रोहति ॥२९३
क्वचिद्बाह्यं शुभाचारं स्वीकृतं चाऽपि मुञ्चति । न मुञ्चति कदाचिद्वै मुक्त्वा वा पुनराचरेत् २९४
यद्वा बहिः क्रियाचारे यथावस्थं स्थितेऽपि च । कदाचिद्दीप्यमानोऽन्तर्भावैर्भूत्वा च वर्तते ॥२९५
नासम्भवमिदं यस्माच्चारित्रावरणोदयः । अस्ति तरतमस्वांशैर्गच्छन्निम्नोन्नतामिह ॥२९६
अत्राभिप्रेतमेवैतत् स्वस्थितीकरणं स्वतः । न्यायात्कुतश्चिदत्रापि हेतुस्तत्रानवस्थितिः ॥२९७
सुस्थितीकरणं नाम परेषां सदनुग्रहात् । भ्रष्टानां स्वपदात्तत्र स्थापनं तत्पदे पुनः ॥२९८
धर्मादेशोपदेशाभ्यां कर्तव्योऽनुग्रहः परे । नात्मवृत्तं विहायाशु तत्परः पररक्षणे ॥२९९

आशासे सावद्यका उपदेश देते हैं किन्तु ज्ञानी पुरुषोने धर्मके लिए अधर्मका सेवन करना प्रमाण नही माना है ॥२८६॥ 'अधर्मके सेवन करनेसे परम्परा धर्म होता है' इस पक्षको यहाँ थोडा भी अवकाश नही है, क्योंकि मूर्खको छोडकर कोई भी प्राणी मोहवश शीतके लिए अग्निमें प्रवेश नही करता है ॥२८७॥ पहले अधर्मका सेवन करना यह धर्मका पूर्व रूप नही हो सकता, क्योंकि ऐसा माननेपर व्याप्ति पक्षधर्मसे रहित हो जाती है और हेतु व्यभिचारी हो जाता है ॥२८८॥ प्रति समय जबतक कर्मोंका उदय रूप हेतु मौजूद है तब तक स्वत धर्म भी हो सकता है और अधर्म भी हो सकता है यह सर्वत्र नियम है ॥२८९॥ यह प्रत्यक्षसे प्रतीत होता है कि वह स्थिती-करण स्व और परके भेदसे दो प्रकारका है। अपनी आत्माको अपने आत्मतत्त्वमे स्थित करना यह स्वस्थितीकरण है और अन्यकी आत्माको उसके आत्मतत्त्वमे स्थित करना यह परस्थितीकरण है ॥२९०॥ मोहके उदयकी तीव्रतावश आत्मस्थितिसे डिगे हुए आत्माको फिरसे अपनी आत्मामे स्थित करना स्वस्थितीकरण है ॥२९१॥ आशय यह है कि कभी दैववश वह जीव सम्यग्दर्शनसे नीचे गिर जाता है। और कभी दैववश सम्यग्दर्शनको पाकर ऊपर चढता है ॥२९२॥ अथवा कभी अनुकूल कारण सामग्रीके मिलने पर सम्यग्दर्शनसे नही गिरता हुआ भी भावोकी शुद्धिको नीचे नीचेके अशोसे ऊपर ऊपरको बढ़ाता है ॥२९३॥ कभी यह जीव बाह्य शुभाचारको स्वीकार करके भी छोड देता है और कदाचित् नही भी छोड़ता है। या कदाचित् छोडकर पुन ग्रहण कर लेता है ॥२९४॥ अथवा बाह्य क्रियाचारमें अवस्थानुसार स्थित रहता हुआ भी कदाचित् अन्तरंग भावोसे देदीप्यमान होता हुआ स्थित रहता है ॥२९५॥ और यह बात असम्भव भी नहीं है, क्यो-कि इसके अपने तरतम रूप अशोके कारण हीनाधिक अवस्थाको प्राप्त होनेवाला चारित्र मोहनीय-का उदय पाया जाता है ॥२९६॥ यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि स्वस्थितिकरण होता है। इसमे कोई अन्य कारण नही है। यदि किसी नीतिवश इसमें किसी अन्य कारणकी कल्पना की जाती है तो अनवस्था दोष आता है ॥२९७॥ अपने पदसे भ्रष्ट हुए अन्य जीवोको सदनुग्रह भावसे उसी पदमें फिरसे स्थापित कर देना यह परस्थितीकरण है ॥२९८॥ धर्मके आदेश और उपदेश द्वारा ही

उक्तं च—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं । आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥२५
उक्तो दिग्मात्रतोऽप्यत्र सुस्थितीकरणं गुणः । निर्जरायां गुणश्रेणौ प्रसिद्धः सुदृगात्मनः ॥३००
वात्सल्यं नाम दासत्वं सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु । संघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत् ॥३०१
अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु सुदृष्टिमान् । सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये ॥३०२
यद्वा न ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मन्त्रासिकोशकम् । तावद्द्रष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः ॥३०३
तद्द्विधाथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात् । प्रधानं स्वात्मसम्बन्धि गुणो यावत्परात्मनि ॥३०४
परीषहोपसर्गाद्यैः पीडितस्यापि कस्यचित् । न शैथिल्यं शुभाचारे ज्ञाने ध्याने तदादिमम् ॥३०५
इतरत्प्रागिह ख्यातं गुणो दृष्टिमतः स्फुटम् । शुद्धज्ञानबलादेव सतो बाधापकर्षणम् ॥३०६
प्रभावनाङ्गसंज्ञोऽस्ति गुणः सद्दर्शनस्य वै । उत्कर्षकरणं नाम लक्षणादपि लक्षितम् ॥३०७
अर्थात्सद्धर्मस्य पक्षे नावद्यस्य मनागपि । धर्मपक्षक्षतेर्यस्मादधर्मोत्कर्षपोषणात् ॥३०८
पूर्ववत्सोऽपि द्वैविध्यः स्वान्यात्मभेदतः पुनः । तत्राद्यो वरमादेयः स्यादादेयः परोऽप्यतः ॥३०९
उत्कर्षो यद्बलाधिक्यादधिकीकरणं वृषे । असत्सु प्रत्यनीकेषु नालं दोषाय तत्क्वचित् ॥३१०

दूसरेका अनुग्रह करना चाहिए। किन्तु अपने व्रतको छोड़कर दूसरे जीवोंकी रक्षा करनेमें तत्पर होना उचित नहीं है ॥२९९॥

कहा भी है—'सर्वप्रथम आत्महित करना चाहिए। यदि शक्य हो तो परहित भी करना चाहिए। किन्तु आत्महित और परहित इन दोनोंमेंसे आत्महित भले प्रकार करना चाहिये ॥२५॥ इस प्रकार संक्षेपसे यहाँ पर स्थितीकरण गुण कहा जो कि सम्यग्दृष्टि जीवके गुण श्रेणी निर्जरामें भली प्रकार प्रसिद्ध है ॥३००॥ जिस प्रकार उत्तम सेवक स्वामीके कार्यमें दासभाव रखता है उसी प्रकार सिद्ध प्रतिमा, जिन बिम्ब, जिनमन्दिर, चार प्रकारका संघ और शास्त्र इन सबमें दासभाव रखना वात्सल्य अंग है ॥३०१॥ अभिप्राय यह है कि पूर्वोक्त सिद्ध प्रतिमा आदिमेंसे किसी एक पर घोर उपसर्ग आने पर वह सम्यग्दृष्टि जीव इसके दूर करनेके लिए सदा तत्पर रहता है ॥३०२॥ अथवा यदि आत्मीक सामर्थ्य नहीं है तो जब तक मन्त्र, तलवार और धन है तब तक वह उन सिद्ध प्रतिमा आदि पर आई हुई बाधाको न तो देख ही सकता है और न सुन ही सकता है ॥३०३॥ स्व और परके भेदसे वह वात्सल्य दो प्रकारका है। इनमेंसे अपनी आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला वात्सल्य प्रधान है और अन्य आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाला वात्सल्य गौण है ॥३०४॥ परीषह और उपसर्ग आदिसे कहीं पर पीड़ित होकर भी शुभाचारमें, ज्ञानमें और ध्यानमें शिथिलता न लाना यह पहला स्ववात्सल्य है ॥३०५॥ दूसरा पर वात्सल्य इस ग्रन्थमें पहले कह आये हैं। वह भी सम्यग्दृष्टिका प्रकट गुण है क्योंकि शुद्ध ज्ञानके बलसे ही बाधा दूर की जा सकती है ॥३०६॥ सम्यग्दर्शनका एक प्रभावना नामक गुण है। इसका लक्षण उत्कर्ष करना है। इसीसे यह जाना जाता है ॥३०७॥ हिंसा अतद्धर्म है इसलिये इस पक्षका थोड़ा भी पोषण नहीं करना चाहिए क्योंकि अधर्मके उत्कर्षका पोषण करनेसे धर्म पक्षकी हानि होती है ॥३०८॥ पहले अंगोंके समान यह अंग भी स्वात्मा और परात्माके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे पहला अच्छी तरहसे उपादेय है और इसके बाद दूसरा भी उपादेय है ॥३०९॥ यतः धर्मकी हानि पहुँचाने वाले असमीचीन कारणोंके रहने पर अधिक बल लगाकर धर्मकी वृद्धि करना ही उत्कर्ष है अतः ऐसा उत्सर्ग किसी भी हालत

मोहारातिक्षतेः शुद्धः शुद्धाच्छुद्धतरस्ततः । जीवः शुद्धतमः कश्चिदस्तीत्यात्मप्रभावना ॥३११

नायं स्यात्पौरुषायत्तः किन्तु नूनं स्वभावतः । ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ यतः शुद्धिर्यथोत्तरा ॥३१२

बाह्यप्रभावनाङ्गोऽस्ति विद्यामन्त्रादिभिर्बलैः । तपोदानादिभिर्जैनधर्मोत्कर्षो विधीयताम् ॥३१३

परेषामपकर्षाय मिथ्यात्वोत्कर्षशालिनाम् । चमत्कारकरं किंचित्तद्विधेयं महात्मभिः ॥३१४

उक्तः प्रभावनाङ्गोऽपि गुणः सद्दर्शनस्य वै । येन सम्पूर्णतां याति दर्शनस्य गुणाष्टकम् ॥३१५

इति श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां अष्टाङ्गसम्यग्दर्शनवर्णनो नाम तृतीयः सर्गः ।

●

मे दोषकारक नही है ॥३१०॥ कोई जीव मोहरूपी शत्रुका नाश होनेसे शुद्ध हो जाता है । कोई शुद्धसे शुद्धतर हो जाता है । और कोई शुद्धतम हो जाता है ।, इस प्रकार अपना उत्कर्ष करना स्वात्मप्रभावना है ॥३११॥ यह सब पौरुषाधीन नहीं है किन्तु स्वभावसे ही ऐसा होता है क्योंकि ऊपर ऊपर जैसे गुणश्रेणी निर्जरा बढती जाती है तदनुसार आगे आगे उसकी शुद्धि होती है ॥३१२॥ विद्या और मन्त्र आदि बलके द्वारा तथा तप और दान आदिके द्वारा जैनधर्मका उत्कर्ष करना बाह्य प्रभावना अग है ॥३१३॥ जो अन्य लोग मिथ्यात्वका उत्कर्ष चाहते है उनका अपकर्ष करनेके लिए महा पुरुषोको कुछ ऐसे कार्य करने चाहिए जो चमत्कार पैदा करनेवाले हों ॥३१४॥ इस प्रकार सम्यग्दर्शनका प्रभावना नामका गुण कहा । जिसके कारण सम्यग्दर्शनके आठों गुण पूर्णताको प्राप्त होते है ॥३१५॥ इन आठ गुणोंके सिवा सम्यग्दृष्टिके और भी बहुतसे गुण हैं ।

इस प्रकार श्रावकाचार अपर नाम लाटीसंहितामे अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनका वर्णन करनेवाला तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ॥३॥

●

चतुर्थ सर्ग

शुद्धदर्शनिकोद्दाम्नो भावे सातिशय क्षमी । ऋजुर्जितेन्द्रियो धीरो व्रतमादातुमर्हति ॥१
शरीरभवभोगेभ्यो विरक्तो दोषदर्शनात् । अक्षातीतसुखैषी य स स्यान्नून व्रतार्हत ॥२
न स्यादणुव्रतार्हो यो मिथ्यान्धतमसा तत । लोलुपो लोलचक्षुश्च वाचालो निर्दय कुधी ॥३
मूढो गूढो शठप्रायो ज्वलन्मूर्च्छापरिग्रह । दुर्विनीतो दुराराध्यो निर्विवेकी समत्सर ॥४
निन्दकश्च विना स्वार्थं देवशास्त्रेष्वसूयक । उद्धतो वर्णवादी च वावदूकोऽप्यकारणे ॥५
आततायी क्षणादन्यो भोगाकाङ्क्षी व्रतच्छलात् । सुखाशयो धनाशश्च बहुमानी च कोपन ॥६
मायावी लोभपात्रश्च हास्याद्युद्रेककलङ्कित । क्षणादुष्ण क्षणाच्छीत क्षणाद्भीरु क्षणाद्भट ॥७
इत्याद्यनेकदोषाणामास्पदं स्वपदास्थित । इच्छन्नपि व्रतादींश्च नाधिकारी स निश्चयात् ॥८

जिसका सम्यग्दर्शन शुद्ध है, जो अनेक प्रकारके तपश्चरणादिके क्लेश सहन करनेमे समर्थ है, जिसके परिणामोकी शुद्धता अत्यन्त विलक्षण और सबसे अधिक है, जो क्षमाको धारण करनेवाला है, जिसका मन, वचन, काय सरल है, जो इन्द्रियोको वशमे करनेवाला है और जो अत्यन्त धीरवीर है वही पुरुष व्रतोको धारण कर सकता है ॥१॥ जो मनुष्य शरीर, ससार और इन्द्रियोके भोगोको सदा नश्वर और असार समझता है और इसीलिये जो शरीर ससार और भोगोसे सदा विरक्त रहता है, इसके साथ जो आत्मजन्य अतीन्द्रिय सुखकी सदा इच्छा करता रहता है वही मनुष्य निश्चयसे व्रत धारण करनेके योग्य होता है ॥२॥ जो पुरुष मिथ्यात्वरूपी घोर अन्धकारसे व्याप्त हो रहा है, जो अत्यन्त चचल है, जिसके नेत्र सदा चचल रहते हैं, जो बहुत बोलनेवाला है, जो निर्दयी है, जिसकी बुद्धि विपरीत है, जो अत्यन्त मूर्ख है अथवा अत्यन्त मूर्खके समान है, जिसका मूर्च्छारूप परिग्रह अत्यन्त प्रज्वलित हो रहा है अथवा जिसकी तृष्णा या परिग्रह बढानेकी लालसा बहुत बढी हुई है, जो अत्यन्त अविनयी है, जो अधिक सेवा करनेसे भी प्रसन्न नही होता अर्थात् जिसका हृदय अत्यन्त कठोर है, जो निर्विवेकी है, सबसे ईर्ष्या, द्वेष करनेवाला है, सबकी निन्दा करनेवाला है तथा जो विना किसी अपने प्रयोजनके भी दूसरेकी निन्दा करता रहता है, जो देव शास्त्रोसे भी ईर्ष्या द्वेष करता है, जो अत्यन्त उद्धत है, जो अत्यन्त निन्दनीय है, जो व्यर्थ ही बकवास करता रहता है तथा विना कारणके बकवाद करता रहता है, जो अनेक प्रकारके अत्याचार करनेवाला है, जिसका स्वभाव क्षण-क्षणमे बदलता रहता है, जिसे भोगोपभोगोकी तीव्र लालसा है, जो व्रतोका बहाना बनाकर अनेक प्रकारके भोगोपभोग सेवन करता है, जो सदा इन्द्रिय सम्बन्धी सुख चाहता रहता है, जिसको धनकी तीव्र लालसा है जो बहुत ही अभिमानी है, बहुत ही क्रोधी है बहुत ही मायाचारी है और बहुत ही लोभी है, जिसके हास्य, शोक, भय, जुगुप्सा, रति, अरति आदि कषाएं तीव्र है, जो क्षणभरमे शान्त हो जाता है और क्षणभरमे क्रोधसे उबल पड़ता है, जो क्षणभरमे भयभीत हो जाता है और क्षणभरमे ही बहुत बडा शूरवीर बन जाता है, इस प्रकार जिसमे अनेक दोष भरे हुए हैं और जो अपने आत्माके स्वरूपमे लीन नही है ऐसा पुरुष यदि व्रतोके धारण करनेकी इच्छा भी करे तो भी निश्चयसे व्रतोंके धारण करनेका अधिकारी नही होता अतएव ऐसा पुरुष अणुव्रत धारण करनेके योग्य भी

न निषिद्धोऽथवा सोऽपि निर्दम्भश्चेद्व्रतोन्मुखः । मृदुमतिर्भोगाकाङ्क्षी स्याच्चिकित्स्यो न वञ्चकः ९
अर्थात्कालादिसंलब्धौ लब्धसद्दर्शनान्वितः । देशतः सर्वतश्चापि व्रती तत्त्वविदिष्यते ॥१०
विनाऽप्यनेहसो लब्धे कुर्वन्नपि व्रतक्रियाम् । हठाद्वात्मबलाद्वापि व्रतंमन्योऽस्तु का क्षतिः ॥११
किञ्चात्मनो यथाशक्ति तथेच्छन्वा प्रतिक्रियाम् । कश्चोऽपि प्राणिरक्षार्थं कुर्वन्नार्यैर्न वारितः ॥१२
द्रव्यमात्रक्रियारूढो भावरिक्तो यदृच्छतः । स्वल्पभोगं फलं तस्यास्तन्माहात्म्यादिहाश्नुते ॥१३
निर्देशोऽयं यथोक्ताया क्रियाया प्रतिपालनात् । छद्मनाऽथ प्रमादाद्वा नायं तस्याश्च साधकः ॥१४
अभव्यो भव्यमात्रो वा मिथ्यादृष्टिरपि क्वचित् । देशतः सर्वतो वापि गृह्णाति च व्रतक्रियाम् ॥१५
हेतुश्चारित्रमोहस्य कर्मणो रसलाघवात् । शुक्ललेश्याबलात्कश्चिद्वार्हतं व्रतमाचरेत् ॥१६
यथास्वं व्रतमादाय यथोक्तं प्रतिपालयेत् । सानुरागं क्रियामात्रमतिचारविवर्जितम् ॥१७
एकादशाङ्गपाठोऽपि तस्य स्याद् द्रव्यरूपतः । आत्मानुभूतिशून्यत्वाद्भावतः संविदुज्झितः ॥१८

नही हो सकता ॥३-८॥ अथवा कोई पुरुष छलकपट रहित है और व्रत धारण करना चाहता है उसके लिए व्रत धारण करनेका निषेध नहीं है क्योकि जिसकी बुद्धि कोमल है अर्थात् जो दयालु है और भोगोकी आकाक्षा रखता है ऐसा पुरुष यदि वचक न हो तो वह चिकित्साके योग्य है ॥९॥ इस सबका अभिप्राय यह है कि काललब्धि आदि समस्त सामग्रीके मिलनेपर जब सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाता है तब एकदेश पापोका त्याग करनेवाला अथवा पूर्णरूपसे पापोका त्याग करनेवाला व्रती (अणुव्रती या महाव्रती) आत्मतत्त्वका जानकार गिना जाता है ॥१०॥ जिस किसी मनुष्यको काललब्धि प्राप्त नही हुई है तथा काललब्धिके विना जिसको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नही है ऐसा मिथ्यादृष्टि पुरुष भी यदि हठपूर्वक अथवा केवल अपने बलसे व्रत पालन करे, तो भी उसमे कोई हानि नही है अन्तर केवल इतना ही है कि विना सम्यग्दर्शनके वह व्रती नही कहला सकता किन्तु 'व्रतमान्य' (विना व्रतोके भी अपनेको व्रती माननेवाला) माना जाता है ॥११॥ अथवा यह साधारण नियम समझना चाहिए कि यदि कोई भी पुरुष प्राणियोकी रक्षा करनेके लिये चाहे मिथ्यादृष्टि व्रतोका पालन करे अथवा व्रत पालन करनेकी इच्छा करे तो आर्यव्रती पुरुष उसका निषेध कभी नही करते हैं ॥१२॥ जिस पुरुषके परिणाम शुद्ध नही हैं अथवा जो पुरुष अपने व्रतोके पालन करनेमे अपने भाव या परिणाम नही लगाता तथापि जो अपनी इच्छानुसार व्रतोकी बाह्य क्रियाओको पूर्णरीतिसे पालन करता है उसको भी उन व्रतोके पालन करनेसे थोड़ेसे भोगोपभोगोकी सामग्री प्राप्त हो ही जाती है ॥१३॥ इसमे भी इतना विशेष है कि जो व्रतरूप क्रियाओको शास्त्रानुसार पालन करते हैं, उन्हीको उनके पालन करनेका फल मिलता है। जो पुरुष किसी छल-कपटसे अथवा प्रमादसे व्रतरूप क्रियाओ पालन करते हैं उनको उन व्रतोके पालन करनेका कोई किसी प्रकारका फल प्राप्त नही होता ॥१४॥ भव्य जीव या अभव्यजीव अथवा कभी-कभी मिथ्यादृष्टि भी एकदेश या सर्वदेश व्रतोको (अणुव्रतोको या महाव्रतोको) धारण कर लेते हैं ॥१५॥ व्रतोके धारण करनेके लिए चारित्रमोहनीय कर्मका मन्दोदय कारण है। चारित्रमोहनीय कर्मके मन्द उदय होनेपर तथा शुक्ललेश्याके बलसे यह जीव भगवान् अरहन्तदेवके कहे हुए व्रतोको धारण कर सकता है ॥१६॥ अपनी शक्तिके अनुसार अणुव्रत या महाव्रतोको धारण कर उनको शास्त्रानुसार पालन करना चाहिये तथा बडे प्रेमसे अतिचार रहित पालन करना चाहिये और पूर्णक्रिया या विधिके साथ पालन करना चाहिये ॥१७॥ कोई मुनि मिथ्यादृष्टि भी होते हैं। वे यद्यपि ग्यारह अगके पाठी होते हैं और महाव्रतादि क्रियाओको

न वाच्यं पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थत । यतस्तस्योपदेशाद्वै ज्ञानं विन्दन्ति केचन ॥१९
ततः पाठोऽस्ति तेषूच्चै पाठस्याप्यस्ति ज्ञातृता । ज्ञातृतायां च श्रद्धान प्रतीतीरोचनं क्रिया ॥२०
अर्थात्तत्र यथार्थत्वमित्याशङ्क्यं न कोविदै । जीवाजीवास्तिकायानां यथार्थत्वं न सम्भवात् ॥२१
किन्तु कश्चिद्विशेषोऽस्ति प्रत्यक्षज्ञानगोचर । येन तज्ज्ञानमात्रेऽपि तस्याज्ञान हि वस्तुत ॥२२

तत्रोल्लेखोऽस्ति विख्यात परीक्षाविक्रमोऽपि च ।
न स्याच्छुद्धानुभूति सा तत्र मिथ्यादृशि स्फुटम् ॥२३

अस्तु सूत्रानुसारेण स्वसंविदविरोधिना । परीक्षाया सहत्वेन हेतोर्बलवताऽपि च ॥२४
दृश्यते पाठमात्रत्वाद् ज्ञानस्यानुभवस्य च । विशेषोऽध्यक्षको यस्माद्दृष्टान्तादपि संमत ॥२५
यथा चिकित्सक कश्चित्पराङ्गगतवेदनाम् । परोपदेशवाक्याद्वा जानन्नानुभवत्यपि ॥२६
तथा सूत्रार्थवाक्यार्थात् जानन्नप्यात्मलक्षण । नास्वादयति मिथ्यात्वकर्मणो रसपाकत ॥२७

बाह्यरूपसे पूर्णरूपसे पालन करते हैं तथापि उन्हे अपने शुद्ध आत्माका अनुभव नही होता इसलिए वे अपने परिणामोके द्वारा सम्यग्ज्ञानसे रहित ही होते हैं ॥१८॥ यहाँपर कदाचित् कोई यह शंका करे कि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनिको जो ग्यारह अगका ज्ञान होता है वह केवल पाठमात्र होता है उसके अर्थोका ज्ञान उनको नही होता । परन्तु यह शका करना भी ठीक नही है क्योकि शास्त्रोमे यह कथन आता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियोके उपदेशसे अन्य कितने ही भव्य जीवोको सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है अर्थात् उनके उपदेशको सुनकर कितने ही भव्यजीव अपने आत्मस्वरूपको पहचानने लगते हैं उन्हे अपने शुद्ध आत्माका अनुभव हो जाता है और वे रत्नत्रय प्राप्तकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं ॥१९॥ इससे सिद्ध होता है कि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियोके ग्यारह अंगोंका ज्ञान पाठ मात्र भी होता है और उस पाठके सब अर्थोका ज्ञान भी होता है। उस ज्ञानमे श्रद्धान होता है, प्रतीति होती है, रुचि होती है और पूर्ण क्रिया होती है ॥२०॥ इतना सब होनेपर भी विद्वानोको उस ज्ञानमे या श्रद्धानमे अथवा क्रियामे यथार्थपनेकी शका नही करनी चाहिये । भावार्थ—ऐसे ऊपर लिखे मिथ्यादृष्टि मुनियोका वह ज्ञान श्रद्धान या आचरण यथार्थ होता है ऐसी शंका भी नही करनी चाहिये क्योकि ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियोके जीव अजीव आदि पदार्थोंके ज्ञान या श्रद्धानके यथार्थ होनेकी सम्भावना भी नही होती है । भावार्थ—ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियोका ज्ञान श्रद्धान या आचरण आदि सब मिथ्या ही होता है यथार्थ या सम्यक् नही होता ॥२१॥ ग्यारह अगोको जाननेवाले ऐसे मिथ्यादृष्टि मुनियोके ज्ञानमे प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा जानने योग्य कोई ऐसी विशेषता होती है जिससे इतना ज्ञान होनेपर भी वह ज्ञान वास्तवमे मिथ्याज्ञान कहलाता है ॥२२॥ इसमे इतना और समझ लेना चाहिये कि यद्यपि ऐसा मिथ्यादृष्टि-मुनि जीवादिक पदार्थोंकी परीक्षा कर सकता है तो भी उसके शुद्ध आत्माकी अनुभूति कभी नही होती ॥२३॥ अथवा स्वानुभूतिका अविरोधी जो एकादशाग सूत्रपाठ है वह बना रहे, परन्तु परीक्षाकी योग्यतासे और बलवान हेतुसे यह देखा जाता है कि पाठमात्र ज्ञानसे और अनुभवमे प्रत्यक्ष विशेषता या भेद है तथा दृष्टान्तसे भी यही बात सिद्ध होती है जैसा कि आगे दिखलाते हैं ॥२४–२५॥ जिस प्रकार कोई वैद्य दूसरेके उपदेशके वाक्योसे दूसरेके शरीरमे होनेवाले रोगोके दु खोको जानता है परन्तु वह उन दु खोका अनुभव नही करता, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुष शास्त्रोमे कहे हुए वाक्योके अनुसार आत्माके स्वरूपको जानता है तथापि मिथ्यात्वकर्मके उदयसे

सिद्धमेतावताऽप्येतन्मिथ्यादृष्टेः क्रियावतः । एकादशाङ्गपाठेऽपि ज्ञानेऽप्यज्ञानमेव तत् ॥२८
न चाशङ्क्यं क्रियामात्रे नानुरागोऽस्य लेशतः । रागस्य हेतुसिद्धत्वाद्विशुद्धेस्तत्र सम्भवात् ॥२९
सूत्राद्विशुद्धिस्थानानि सन्ति मिथ्यादृशि क्वचित् । हेतोश्चारित्रमोहस्य रसपाकस्य लाघवात् ॥३०
ततो विशुद्धिसंसिद्धेरन्यथानुपपत्तितः । मिथ्यादृष्टेरवश्यं स्यात्सद्व्रतेष्वनुरागिता ॥३१
ततः क्रियानुरागेण क्रियामात्राच्छुभास्रवात् । सद्व्रतस्य प्रभावात्स्यादस्य ग्रैवेयकं सुखम् ॥३२
किन्तु कश्चिद्विशेषोऽस्ति जिनदृष्टो यथागमात् । क्रियावानपि येनायमचारित्री प्रमाणितः ॥३३
सम्यग्दृष्टेस्तु तत्सर्वं यथाणुव्रतपञ्चकम् । महाव्रतं तपश्चापि श्रेयसे चामृताय च ॥३४
अस्ति वा द्वादशाङ्गविपाठस्तज्ज्ञानमित्यपि । सम्यग्ज्ञानं तदेवैकं मोक्षाय च गुणात्मनः ॥३५
एवं सम्यक् परिज्ञाय श्रद्धाय श्रावकोत्तमैः । सम्पदर्थमिहामुत्र कर्तव्यो व्रतसंग्रहः ॥३६

उसका आस्वादन या अनुभव नही कर सकता ॥२६-२७॥ इससे सिद्ध होता है कि अणुव्रत या महाव्रत क्रियाओको पालन करनेवाले इस मिथ्यादृष्टिका ज्ञान यद्यपि ग्यारह अंग तकका ज्ञान है तथापि शुद्ध आत्माके अनुभवके विना वह ज्ञान अज्ञान ही कहलाता है ॥२८॥ यहाँपर कदाचित् कोई यह शंका करे कि मिथ्यादृष्टिके व्रतोंके पालन करने रूप क्रियाओंमे लेशमात्र भी अनुराग नही होता होगा ? सो भी ठीक नही है क्योंकि मिथ्यादृष्टिके व्रतोमे अनुराग होना हेतुपूर्वक सिद्ध हो जाता है तथा व्रतोमे अनुराग होनेका हेतु उसके आत्मामे विशुद्धिका होना है ॥२९॥ मिथ्यादृष्टि पुरुषके भी आत्माकी विशुद्धि होती है इसका कारण यह है कि कभी-कभी मिथ्यादृष्टि-के भी चारित्रमोहनीय कर्मका उदय मन्द होता है तथा चारित्रमोहनीय कर्मके मन्द उदय होनेसे उस मिथ्यादृष्टिके भी कितने ही विशुद्धिके स्थान हो जाते हैं ऐसा शास्त्रोमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है ॥३०॥ यह नियम है कि आत्माकी विशुद्धि मोहनीय कर्मके मन्द उदयसे होती है। मोहनीय कर्मके मन्द उदय हुए विना आत्माकी विशुद्धि कभी नही होती। मिथ्यादृष्टिके चारित्रमोहनीय कर्मका मन्द उदय होता है इसलिए उसके आत्मामे विशुद्धि होना अनिवार्य है क्योकि जहाँ-जहाँ चारित्रमोहनीय कर्मका मन्द उदय होता है वहाँ-वहाँ विशुद्धि अवश्य होती है और जहाँ जहाँ आत्माकी विशुद्धि होती है वहाँ-वहाँ व्रतोमे अनुराग अवश्य होता है। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुषके भी चारित्रमोहनीय कर्मका मन्द उदय होता है, मोहनीयकर्मके मन्द उदय होनेसे आत्माकी विशुद्धि होती है और आत्माकी विशुद्धि होनेसे उसके व्रतोमे अनुराग होता है ॥३१॥ इस प्रकार मिथ्यादृष्टि पुरुषके व्रतरूप क्रियाओके पालन करनेमे अनुराग हो जाता है। व्रतोमे अनुराग होनेसे वह क्रियारूप व्रतोको पालन करता है तथा व्रतरूप क्रियाओको पालन करनेसे शुभ कर्मोंका आस्रव होता है। इस प्रकार श्रेष्ठ व्रतोके पालन करनेसे उस मिथ्यादृष्टि पुरुषको भी नव ग्रैवेयकतकके सुख प्राप्त होते हैं ॥३२॥ इतना सब होनेपर भी मिथ्यादृष्टिमे कोई ऐसी विशेषता होती है जिसको भगवान् अरहन्तदेव ही देखते हैं अथवा वह विशेषता शास्त्रोसे जानी जाती है। उस विशेषताके कारण ही महाव्रत आदि व्रतोकी पूर्ण क्रियाओको पालन करता हुआ भी वह चारित्र-रहित कहलाता है ॥३३॥ किन्तु सम्यग्दृष्टि-पुरुषके उस दर्शनमोहनीय कर्मका अभाव हो जाता है इसलिए उसके पाँचो अणुव्रत, पाँचो महाव्रत और बारह प्रकारका तप आदि सब आत्माका कल्याण करनेवाला होता है और परम्परासे मोक्ष प्राप्त करनेवाला होता है ॥३४॥ अथवा यो कहना चाहिये कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके जो द्वादशांगका पाठ है अथवा उसका ज्ञान है वह सब सम्यग्ज्ञान कहलाता है और वह सम्यग्ज्ञान अकेला ही मोक्षका कारण होता है ॥३५॥ इस प्रकार उत्तम श्रावकोंको

सम्यग्दृशाऽथ मिथ्यात्ववशाक्लिष्टाऽथवा शक्तितः । अभव्येनापि भव्येन कर्तव्यं व्रतमुत्तमम् ॥३७
यतः पुण्यक्रिया साध्वी क्वापि नास्तीह निष्फला । यथापात्रं यथायोग्यं स्वर्गभोगादिसत्फला ॥३८
पारम्पर्येण केषांचिदपवर्गाय सत्क्रिया । पञ्चानुत्तरविमाने सुखे ग्रैवेयकादिषु ॥३९
केषांचित्कल्पवासादिश्रेयसे सागरावधि । भावनादित्रयेषूच्चैः सुधापानाय जायते ॥४०
मनुष्याणां च केषाञ्चित्तीर्थंकरपदाप्तये । चक्रित्वार्धचक्रित्वपदसम्प्राप्तिहेतवे ॥४१
उत्तमभोगभूषूच्चैः सुखं कल्पतरूद्भवम् । एतत्सर्वमहं मन्ये श्रेयसः फलितं महत् ॥४२
सत्कुले जन्म दीर्घायुर्वपुर्लाभ निरामयम् । गृहे सम्पदपर्यन्ता पुण्यस्यैतत्फलं विदुः ॥४३
साध्वी भार्या कुलोत्पन्ना भर्तृच्छन्दानुगामिनी । सूनवः पितुराज्ञाया मनागचलिताशयाः ॥४४
सधर्मभ्रातृवर्गाश्च सानुकूलाः सुसंहताः । स्निग्धाश्चानुचरा यावदेतत्पुण्यफलं ननु ॥४५
जैनधर्मे प्रतीतिश्च संयमे शुभभावना । ज्ञानशक्तिश्च सूत्रार्थे गुरवश्चोपदेशकाः ॥४६

अच्छी तरह समझकर और उसपर पूर्ण यथार्थ श्रद्धान रखकर इस लोक और परलोककी विभूतियोको प्राप्त करनेके लिये व्रतोका संग्रह अवश्य करना चाहिये ॥३६॥ इसलिए सम्यग्दृष्टिको या मिथ्यादृष्टिको, भव्य जीवको अथवा अभव्य जीवको सबको अपनी शक्तिके अनुसार उत्तम व्रत अवश्य पालन करने चाहिये ॥३७॥ इसका भी कारण यह है कि पुण्य प्राप्त करनेवाली व्रतरूप श्रेष्ठक्रिया कभी निष्फल नही होती। व्रत पालन करनेवाला जैसा पात्र हो और जैसी योग्यता रखता हो उसीके अनुसार उसे स्वर्गादिकके भोगोपभोग रूप उत्तम फल प्राप्त होते हैं ॥३८॥ इन्हीं महाव्रतादिक व्रतरूप क्रियाओके पालन करनेसे कितने ही जीवोको परम्परासे मोक्ष प्राप्त हो जाती है अथवा नव ग्रैवयकोके सुख वा विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, सर्वार्थसिद्धि इन पंच अनुत्तर विमानोके सुख प्राप्त होते हैं ॥३९॥ अथवा कितने ही जीवोको सोलह स्वर्गोंके सुख प्राप्त होते हैं। वहाँपर वे सागरोपर्यन्त इन्द्रियजन्य सुखोका अनुभव करते रहते हैं और अमृतपान किया करते हैं तथा कितने ही जीव उन व्रतोके प्रभावसे भवनवासी व्यन्तर ज्योतिष्क देवोमे उत्पन्न होकर अपनी आयुपर्यन्त अमृतपान किया करते हैं ॥४०॥ उत्तम व्रत पालन करनेवाले सम्यग्दृष्टि पुरुषोको मनुष्य पर्यायमे भी तीर्थंकर पद प्राप्त होता है, चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है, अथवा अर्द्धचक्रवर्त्ती पद प्राप्त होता है ॥४१॥ अथवा व्रत पालन करनेसे उत्तम भोगभूमिमे कल्पवृक्षोसे उत्पन्न हुए उत्तमोत्तम सुख प्राप्त होते हैं ऐसे-ऐसे महाफलोका प्राप्त होना या अनुक्रमसे समस्त फलोका प्राप्त होना आदि सब व्रत पालन करने रूप श्रेष्ठ क्रियाओका ही फल है ऐसा ग्रन्थकार मानते हैं ॥४२॥ श्रेष्ठ कुलमे जन्म होना, बडी आयुका प्राप्त होना, नीरोग और बलवान् शरीर प्राप्त होना और घरमे अपार लक्ष्मीका प्राप्त होना आदि सब व्रत करनेसे प्राप्त हुए पुण्यका ही फल समझना चाहिए ॥४३॥ उत्तम कुलमे उत्पन्न हुई, पतिके आज्ञानुसार चलनेवाली और अच्छे स्वभाववाली स्त्रीका प्राप्त होना पुण्यका ही फल समझना चाहिये। पिताकी आज्ञासे जिनका मन किंचित्मात्र भी चलायमान न हो ऐसे पुत्रोका प्राप्त होना भी पुण्यका फल कहा जाता है। अपने धर्मको अच्छी तरहसे पालन करनेवाले, अपने अनुकूल रहनेवाले और सब मिलकर इकट्ठे रहनेवाले ऐसे भाई-बन्धुओका प्राप्त होना भी पुण्यका फल कहा जाता है तथा अपनेपर सदा प्रेम और भक्ति करनेवाले सेवकोका प्राप्त होना भी पुण्यका फल कहा जाता है। इस प्रकार सुख देनेवाली सब कुटुम्बकी सामग्रीका प्राप्त होना व्रत पालन करने रूप पुण्यका फल कहा जाता है ॥४४-४५॥ जैनधर्ममे श्रद्धान होना, संयम

सधर्मिभिः सहायत्वं स्पष्टाक्षरं वाक्पाटवम् । सौष्ठवं चक्षुरादीनां मनीषा प्रतिभान्विता ॥४७
सुयशः सर्वलोकेऽस्मिन् शरदिन्दुसमप्रभम् । शासनं स्यादनुल्लंघ्यं पुण्यभाजां न संशयः ॥४८
विजयः स्यादरिध्वंसात्प्रतापस्तच्छिरोनतिः । दण्डादर्शोऽप्यरिभ्यश्च सर्वं सत्पुण्यपाकतः ॥४९

चक्रित्वं सन्नृपत्वं वा नहि पुण्यादृते क्वचित् ।
अकस्मादङ्गनालाभो धनलाभोऽप्यचिन्तनात् ॥५०

ऐश्वर्यं च महत्त्वं च सौहार्दं सर्वमान्यता । पुण्यं विना न कस्यापि विद्याविज्ञानकौशलम् ॥५१
अथ किं बहुनोक्तेन त्रैलोक्येऽपि च यत्सुखम् । पुण्यायत्तं हि तत्सर्वं किञ्चित्पुण्यं विना नहि ॥५२
तत्प्रसीदाधुना प्राज्ञ मद्वचः शृणु फामन । सर्वामयविनाशाय पिब पुण्यरसायनम् ॥५३
प्रोवाच फामनो नाम्ना श्रावकः सर्वशास्त्रवित् । पुण्यहेतौ परिज्ञाते तत्कर्तुमपि चोत्सहेत् ॥५४
शृणु श्रावक पुण्यस्य कारणं वच्मि साम्प्रतम् । देशतो विरतिर्नाम्नाणुव्रतं सर्वतो महत् ॥५५
ननु विरतिशब्दोऽपि साकांक्षो व्रतवाचकः । केभ्यश्च कियन्मात्रेभ्यः कस्मिन् सा वदाद्य नः ॥५६

धारण करनेके लिये शुभ भावनाओंका होना, सूत्रोंका या समस्त जैनशास्त्रोंका अर्थ समझने योग्य या दूसरोंको प्रतिपादन करने योग्य अपने ज्ञानकी शक्तिका प्राप्त होना, रत्नत्रयका उपदेश देनेवाले गुरुका सहवास प्राप्त होना, धर्मात्मा पुरुषोंका साथ होना अथवा धर्मात्मा पुरुषोंकी सहायता प्राप्त होना, स्पष्ट अक्षरोंका उच्चारण होना, वचनोंके कहनेकी चतुरता प्राप्त होना, नेत्र, नाक, कान आदि इन्द्रियोंकी सुन्दरता प्राप्त होना, प्रतिभाशाली बुद्धिका प्राप्त होना, शरद ऋतुके चन्द्रमाके समान अत्यन्त निर्मल और समस्त लोकमें व्याप्त होनेवाला सुयशका मिलना और जिसका कोई भी उल्लंघन न कर सके ऐसे शासनका प्राप्त होना आदि सब पुण्यवान् पुरुषोंको ही प्राप्त होता है इसमें सन्देह नहीं है ॥४६–४८॥ बड़े-बड़े महायुद्धोंमें समस्त शत्रुओंको नाशकर विजय प्राप्त करना, वे सब शत्रुराजा अपना मस्तक झुकाकर नमस्कार करने लगें ऐसा प्रताप प्राप्त होना और समस्त शत्रु राजाओंसे दण्ड वसूल करना आदि सब श्रेष्ठ पुण्यके ही फलसे प्राप्त होता है ॥४९॥ पुण्य कर्मके उदयके बिना न तो कभी चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है और न कभी श्रेष्ठ राजा होता है। अकस्मात् स्त्रीका प्राप्त हो जाना, बिना ही इच्छाके धन प्राप्त हो जाना, ऐश्वर्य या विभूतियोंका प्राप्त होना, बड़प्पन प्राप्त होना, सबके साथ मित्रता प्राप्त होना, समस्त लोकमें माननीय उत्तमपद प्राप्त होना, श्रेष्ठ विद्या, विज्ञान और कुशलता प्राप्त होना आदि समस्त सुखकी सामग्री बिना पुण्यके किसीको भी प्राप्त नहीं होती है ॥५०–५१॥ बहुत कहनेसे क्या ? थोडेसेमें इतना समझ लेना चाहिये कि तीनों लोकोंमें जितना भी सासारिक सुख है वह सब पुण्य कर्मके ही उदयसे प्राप्त होता है। बिना पुण्यके किंचित्मात्र भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥५२॥ इसलिए हे बुद्धिमान् और विद्वान् फामन ! तू अब प्रसन्न हो और मेरी बात सुन ! तू अब ससारसम्बन्धी समस्त रोगोंको (ससारके दुःखोंको) दूर करनेके लिए पुण्यरूपी रसायन पी ॥५३॥ यह बात सुनकर समस्त शास्त्रोंका जाननेवाला फामन नामका श्रावक कहने लगा कि पुण्यके कारणोंको जान लेनेपर ही तो कोई भी श्रावक उसके करनेके लिए तैयार हो सकता है ॥५४॥ इसके उत्तरमें ग्रन्थकार कहने लगे कि हे श्रावकोत्तम फामन ! सुन । मैं अब आगे पुण्यके कारणोंको बतलाता हूं। पाँचों पापोंका एकदेश त्याग करना अणुव्रत है और (उन्हीं पाँचों पापोंका) पूर्ण-रीतिसे त्याग करना महाव्रत है ॥५५॥ यह सुनकर फामन कहने लगा कि व्रतोंको कहनेवाला

हिंसाया विरति प्रोक्ता तथा वानृतभाषणात् । चौर्याद्विरति ख्याता स्यादब्रह्मपरिग्रहात् ॥५७
एभ्यो देशतो विरतिर्गृहियोग्यमणुव्रतम् । सर्वतो विरतिर्नाम मुनियोग्य महाव्रतम् ॥५८
ननु हिंसात्वं किं नाम का नाम विरतिस्ततः । किं देशत्वं यथाम्नायाद् ब्रूहि मे वदतां वर ॥५९
हिंसा प्रमत्तयोगाद्वै यत्प्राणव्यपरोपणम् । लक्षणाल्लक्षिता सूत्रे लक्षश पूर्वसूरिभि. ॥६०
प्राणा पञ्चेन्द्रियाणीह वाग्मनोऽङ्गबलत्रयम् । नि श्वासोच्छ्वाससंज्ञ स्यादायुरेकं दशेति च ॥६१

उक्तं च—

पञ्चवि इंदिय पाणा मण वचिकाएण तिण्णि बलपाणा ।
आणपाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाणा ॥२६

एकाक्षे तत्र चत्वारो द्वीन्द्रियेषु षडेव ते । त्र्यक्षे सप्त चतुराक्षे विद्यन्तेऽष्टौ यथागमात् ॥६२
नवासंज्ञिनि पञ्चाक्षे प्राणा. संज्ञिनि ते दश । मत्वेति किल छद्मस्थै कर्तव्य प्राणरक्षणम् ॥६३

यह विरति शब्द सापेक्ष है। सो पहले तो यह बताना चाहिये कि किनका त्याग करना चाहिये कितना त्याग करना चाहिये और कितनेका त्याग करना चाहिये। यह सब आज बतलान चाहिये ॥५६॥ ग्रन्थकार कहने लगे कि हिंसाका त्याग करना चाहिये, झूठ बोलनेका त्याग करन चाहिये, चोरीका त्याग करना चाहिये, अब्रह्म या कुशीलका त्याग करना चाहिये और परिग्रहक त्याग करना चाहिये ॥५७॥ इन पाँचो पापोका एकदेश त्याग करना सो गृहस्थोके धारण कर योग्य अणुव्रत कहलाता है तथा इन्ही पाँचो पापोको पूर्णरीतिसे त्याग करना सो मुनियोके धारण करने योग्य महाव्रत कहलाता है ॥५८॥ यह सुनकर फामन फिर पूछने लगा कि हिंसा किसक कहते हैं, विरति शब्दका क्या अर्थ है और एकदेश किसको कहते हैं। हे वक्ताओमे श्रेष्ठ आचार्य परम्परासे चला आया इनका लक्षण मुझे बतलाइये ॥५९॥ इस प्रश्नके उत्तरमे ग्रन्थका कहने लगे कि प्रमादके योगसे प्राणोका व्यपरोपण करना, कषायके निमित्तसे प्राणोका वियोग करना हिंसा है। पहलेके आचार्योने शास्त्रोमे इस हिंसाका स्वरूप अनेक प्रकार बतलाया है ॥६०॥ स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँच इन्द्रियाँ, मनोबल, वचनबल और कायबल ये तीन बल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये दश प्राण कहलाते हैं ॥६१॥

कहा भी है—पाँचो इन्द्रियाँ प्राण हैं, मन, वचन, काय ये तीनो बल प्राण हैं, श्वासोच्छ्वास प्राण है और आयु प्राण है। इस प्रकार दस प्राण हैं ॥२६॥

इन प्राणोमेसे वृक्षादिक वा पृथ्वीकायादिक एकेन्द्रिय जीवोके एक स्पर्शन इन्द्रियप्राण दूसरा कायबलप्राण, तीसरा श्वासोच्छ्वासप्राण और चौथा आयुप्राण इस प्रकार चार प्राण होते हैं। लट, शंख आदि दोइन्द्रिय जीवोके छह प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना दो इन्द्रियप्राण, कायबल वचनबल दो बलप्राण, आयु और श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते हैं। चीटी चीटा खटमल आदि तेइन्द्रिय जीवोके सात प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ, कायबल वचनबल ये दो बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। भौरा, मक्खी आदि चौइन्द्रिय जीवोके आठ प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु ये चार इन्द्रिया, कायबल वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। पानीके सर्प आदि असैनी पचेन्द्रिय जीवोके नौ प्राण होते हैं। स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु कर्ण ये पाँचो इन्द्रियाँ, कायबल, वचनबल, आयु और श्वासोच्छ्वास। मनुष्य, स्त्री, गाय, भैंस, कबूतर, चिड़िया आदि सैनी पंचेन्द्रिय जीवोंके मन भी होता है इसलिये उनके दशो प्राण होते हैं। इस

अत्रैकाक्षादिजीवाः स्युः प्राणशब्दोपलक्षणात् । प्राणादिमत्त्वं जीवस्य नेतरस्य कदाचन ॥६४
प्रसङ्गादत्र दिग्मात्रं वाच्यं प्राणिनि कायकम् । तत्स्वरूपं परिज्ञाय तद्रक्षां कर्तुमर्हति ॥६५
सन्ति जीवसमासास्ते संक्षेपाच्च चतुर्दश । व्यासादसंख्यभेदाश्च सन्त्यनन्ताश्च भावतः ॥६६
तत्र जीवो महीकायः सूक्ष्मः स्थूलश्च स द्विधा । पर्याप्तापर्याप्तकाभ्यां भेदाभ्यां स द्विधाऽथवा ॥६७
प्रत्येकं तस्य भेदाः स्युश्चत्वारोऽपि च तद्यथा । शुद्धाभूर्भूमिजीवश्च भूकायो भूमिकायिकः ॥६८
शुद्धा प्राणोज्झिता भूमिर्यथा स्याद्दग्धमृत्तिका । भूजीवोऽत्रैव भूमौ यो व्रागेष्यति गत्यन्तरात् ॥६९
भूरेव यस्य कायोऽस्ति यद्वानन्यगतिर्भुवः । भूशरीरस्तथात्वेऽस्य स भूकाय इत्युच्यते ॥७०
भूकायिकस्तु भूमिस्थोऽन्यगतौ गन्तुमुत्सुकः । स समुद्घातावस्थायां भूकायिक इति स्मृतः ॥७१
एवमग्निजलादीनां भेदाश्चत्वार एव ते । प्रत्येकं चापि ज्ञातव्याः सर्वज्ञाज्ञानतिक्रमात् ॥७२

प्रकार इन जीवोके प्राण होते हैं। यह सब समझकर गृहस्थ लोगोको प्राणोकी रक्षा करनी चाहिये ॥६२-६३॥ यहाँपर प्राण शब्दसे एकेन्द्रिय वा दोइन्द्रिय आदि जीव समझने चाहिये। इसका भी कारण यह है कि ससारमे प्राणधारी जीव ही हैं, जीवोके ही प्राण होते हैं। जीवोके सिवाय अन्य किसी पदार्थके भी प्राण नही होते ॥६४॥ यहाँपर अहिंसा वा जीवोकी रक्षाका प्रकरण है इसलिये प्रसग पाकर सक्षेपसे जीवोके भेद बतलाते हैं क्योकि जीवोके भेदोको और उनके स्वरूपको जानकर ही श्रावक लोग उन जीवोकी रक्षा कर सकते हैं ॥६५॥ यदि जीवोके अत्यन्त सक्षेपसे भेद किये जायँ तो चौदह होते हैं। यदि समस्त जीवोंके विस्तारके साथ भेद किये जायँ तो असख्यात भेद होते हैं तथा यदि भावोकी अपेक्षासे उन जीवोके भेद किये जायँ तो अनन्त भेद हो जाते हैं ॥६६॥ आगे चौदह जीवसमासोको या जीवोके चौदह भेदोको बतलाते हैं। जीवोके मूल भेद दो हैं—त्रस और स्थावर। उनमेसे स्थावर जीव पाँच प्रकारके है—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। आगे सबसे पहले इन्ही स्थावर जीवोके भेद बतलाते हैं। पृथ्वीकायिक जीवोके दो भेद है—स्थूल और सूक्ष्म तथा इन दोनोके भी दो-दो भेद हैं—एक पर्याप्तक और दूसरे अपर्याप्तक ॥६७॥ इन चार भेदोमेसे भी प्रत्येकके चार-चार भेद होते है—शुद्धपृथ्वी, पृथ्वीजीव, पृथ्वीकाय और पृथ्वीकायिक ॥६८॥ जो पृथ्वी प्राणरहित है उसको शुद्ध पृथ्वी कहते हैं जैसे जली हुई मिट्टी। जो जीव किसी दूसरी गतिसे पृथ्वीमे आनेवाला है अर्थात् जिसने अन्य गति छोड दी है, दूसरी गतिका शरीर छोड दिया है और पृथ्वीकायिकमे उत्पन्न होनेवाला है जो पृथ्वीकायिकमे उत्पन्न होनेके लिये विग्रहगतिमे आ रहा है ऐसे जीवको पृथ्वीजीव कहते हैं ॥६९॥ पृथ्वी ही जिसका शरीर है अथवा जो पृथ्वीकायमे विद्यमान है, पृथ्वीकायके सिवाय जिसकी और कोई गति नही है अथवा पृथ्वीरूप शरीरको जो धारण कर रहा है उसको पृथ्वीकाय कहते हैं ॥७०॥ तथा जो जीव अभी पृथ्वीकायमे विद्यमान है परन्तु पृथ्वीकायकी गतिको छोडकर अन्य गतिमे जानेके लिए तैयार है तथा अन्य गतिमे जानेके लिए समुद्घात कर रहा है उसको पृथ्वीकायिक कहते हैं ॥७१॥ इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिके भी चार-चार भेद समझने चाहिए अर्थात् जल, जलजीव, जलकाय और जलकायिक ये चार जलके भेद हैं। अग्नि, अग्निजीव, अग्निकाय और अग्निकायिक ये चार अग्निके भेद हैं। वायु, वायुजीव, वायुकायिक, वायुकाय ये चार वायुके भेद हैं। वनस्पति, वनस्पतिजीव, वनस्पतिकाय और वनस्पतिकायिक ये चार वनस्पतिके भेद हैं। इन सब भेदोका स्वरूप भगवान् सर्वज्ञदेवकी आज्ञाके अनुसार जान लेना

सूक्ष्मकर्मोदयाज्जाताः सूक्ष्मा जीवा इतीरिताः । अन्यघातिशरीरास्ते वज्रानलजलादिभिः ॥७३

उक्तं च—

जहिं वेंति पडिखलणं पुढवीताराहि अग्गिधाराहिं । ते हुंति सुहुमकाया इयरे पुण थूलकाया य ॥२७

स्थूलकर्मोदयाज्जाताः स्थूला जीवाः स्वलक्षणात् । सन्ति घातिशरीरास्ते वज्रानलजलादिभिः ॥७४

उक्तं च—

घादिसरीरा थूला अघादिसरीरा हवे सुहुमा ॥२८

किन्तु स्थूलशरीरास्ते क्वचिच्च क्वचिदाश्रिताः । सूक्ष्मकायास्तु सर्वत्र त्रैलोक्ये घृतवद्घटे ॥७५

उक्तं च—

आधारधरा पढमा सव्वत्थ णिरन्तरा सुहुमा ॥२९

प्रत्येकं ते द्विधा प्रोक्ताः केवलज्ञानलोचनैः । पर्याप्तकाश्चापर्याप्तास्तेषां लक्षणमुच्यते ॥७६

पर्याप्तको यथा कश्चिद्दैवाद्गत्यन्तराच्च्युतः । अन्यतमां गतिं प्राप्य गृहीतुं वपुरुत्सुकः ॥७७

चाहिए ॥७२॥ इनमेंसे जो जीव सूक्ष्मनामकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं उनको सूक्ष्म जीव कहते हैं। इन सूक्ष्म जीवोंका वज्र, अग्नि, जल आदि किसी भी पदार्थसे कभी भी घात नहीं होता है ॥७३॥

कहा भी है—पृथ्वी तारे अग्नि जल आदि किसी भी पदार्थसे जिनका परिस्खलन नहीं होता अर्थात्मे जो न तो पृथ्वीसे रुकते हैं, न तारोंसे टक्कर खाते हैं, न अग्निमे जलते हैं और न जलसे बहते हैं उनको सूक्ष्म जीव कहते हैं तथा जो जीव पृथ्वीसे रुक जाते हैं, तारोंसे टकराते हैं, अग्निसे जल जाते हैं और पानीमे बह जाते हैं उनको स्थूलकाय या स्थूल शरीरको धारण करनेवाले जीव कहते हैं ॥२७॥

जो जीव स्थूलनामके नामकर्मके उदयसे उत्पन्न होते हैं उनको स्थूल जीव कहते हैं क्योंकि स्थूलका जो लक्षण है वह उनमे अच्छी तरह संघटित होता है तथा वज्र अग्नि जल आदिसे उन जीवोंका शरीर घाता जाता है ॥७४॥

कहा भी है—स्थूल जीव उनको कहते हैं जिनका शरीर घाता जाय और सूक्ष्म जीव उनको कहते हैं जिनका शरीर किसीसे भी न घाता जाय ॥२८॥

इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकारके जीवोंका लक्षण बतलाया है। इसमे भी इतना भेद है कि जो स्थूल शरीरको धारण करनेवाले जीव हैं वे सब जगह नहीं हैं किन्तु कहीं-कहींपर किसी न किसीके आश्रय रहते हैं तथा जो सूक्ष्म जीव हैं वे इन तीनों लोकोंमे सब जगह इस प्रकार भरे हुए हैं जैसे घड़ेमे घी भरा रहता है ॥७५॥

कहा भी है—स्थूल जीव किसीके आधारपर रहते हैं और सूक्ष्म जीव इन तीनो लोकोंमे सब जगह और सदैव भरे रहते हैं ॥२९॥

अब आगे इनके पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक भेद बतलाते हैं। केवलज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले भगवान् अरहन्तदेवने उन स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकारके जीवोंमेसे प्रत्येक जीवके दो दो भेद बतलाये हैं—एक पर्याप्तक और दूसरे अपर्याप्तक। अब उनका लक्षण कहते हैं ॥७६॥ जो जीव दैवयोगसे वा आयु पूर्ण हो जानेसे किसी भी एक गतिको छोड़ कर दूसरी किसी भी गतिमे जाकर उत्पन्न होता है तब वह जीव वहाँपर शरीर धारण करनेका प्रयत्न करता है तथा

उदयात्पर्याप्तकस्य कर्मणो हेतुमुत्तरात् । सम्पूर्णं वपुरायत्ते निष्प्रत्यूहतयाऽसुमान् ॥७८
अपर्याप्तकजीवस्तु नाश्नुते वपुःपूर्णताम् । अपर्याप्तकर्मकस्य तद्विपक्षस्य पाकतः ॥७९
अष्टादशैकभागेऽस्मिन् श्वासस्यैकस्य मात्रया । आयुरस्य जघन्यं स्यादुत्कृष्टं तावदेव हि ॥८०
क्षुद्रभवायुरेतद्वा सर्वजघन्यप्रमाणमात् । तद्वदायुर्विशिष्टास्ते जीवाश्चातीव दुःखिताः ॥८१

उक्तं च—

तिण्णि सया छत्तीसा छावट्ठि सहस्स वार मरणाइं । अन्तोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥३०
अत्रापर्याप्तशब्देन लब्ध्यपर्याप्तको मतः । अपर्याप्तकजीवस्तु स्यात्पर्याप्तक एव हि ॥८२
एवं ज्ञेयं जलादीनां लक्ष्म नो देशितं मया । ग्रन्थगौरवभीतेर्वा पुनरुक्तभयादपि ॥८३
किञ्चिद्भूम्यादिजीवानां चतुर्णां प्रोक्तलक्ष्मणाम् । धातुचतुष्कमेतेषां संज्ञा स्याज्जिनशासनात् ॥८४
अथ धातुचतुष्काङ्गा सम्भवन्त्यप्रतिष्ठिताः । साधारणनिकोताङ्गैस्तैर्वनस्पतिकायिके ॥८५

उक्तं च—

पुढवी आइचउण्हं तित्थयराहारदेवणिरयङ्गा । अपदिट्ठिदा णिगोदे पदिट्ठिदङ्गा हवे सेसा ॥३१

पर्याप्तकनामा नामकर्मके उदयसे और सब तरहकी विघ्नबाधाओंके अभाव होनेसे वह जीव शरीर बननेके लिए प्राप्त हुई पुद्गलवर्गणाओंमें शरीर बननेकी शक्ति उत्पन्न करता है। जब उसकी वह शरीर बननेकी शक्ति पूर्ण हो जाती है तबसे वह पर्याप्तक कहलाता है और अपनी आयुपर्यन्त पर्याप्तक ही रहता है ॥७७-७८॥ अपर्याप्तक जीवके अपर्याप्तक नामके नामकर्मका उदय होता है। यह अपर्याप्तक नामकर्म पर्याप्तक नामकर्मका विरोधी है। उसी पर्याप्तकनामा नामकर्मके विरोधी अपर्याप्तकनामा नामकर्मके उदयसे यह जीव शरीर बननेकी शक्तिको पूर्ण नहीं कर पाता है। शरीर बननेकी शक्ति पूर्ण होनेके पहले ही आयु पूर्ण हो जानेके कारण मर जाता है ऐसे जीवको अपर्याप्तक कहते हैं ॥७९॥ इस अपर्याप्तक जीवकी आयु एक श्वासके अठारहवें भाग प्रमाण होती है। यही उसकी जघन्य आयु है और यही उत्कृष्ट आयु है ॥८०॥ शास्त्रोंमें बतलाया है कि यह आयु सबसे जघन्य आयु है और क्षुद्रभव धारण करनेवालोंकी होती है। इस प्रकारकी आयुको धारण करनेवाले अर्थात् क्षुद्रभव धारण करनेवाले जीव अत्यन्त दुखी होते हैं ॥८१॥

कहा भी है—यह जीव अपर्याप्तनामकर्मके उदयसे एकेन्द्रियादि सत्रह स्थानोंमें एक अन्तर्मुहूर्त समयमें छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म-मरण करता है और इतने ही क्षुद्रभव धारण करता है ॥३०॥

यहाँ पर अपर्याप्त शब्दसे लब्ध्यपर्याप्तक समझना चाहिए क्योंकि जो निर्वृत्यपर्याप्तक है वह तो नियमसे पर्याप्तक होता ही है अथवा निर्वृत्यपर्याप्तकको पर्याप्तक ही समझना चाहिए, क्योंकि उसके पर्याप्तिनामा नामकर्मका उदय रहता है अपर्याप्तिनामा नामकर्मका उदय नहीं रहता ॥८२॥ जिस प्रकार ये पृथ्वीकायके भेद बतलाए हैं उसी प्रकार जलकायिक अग्निकायिक वायुकायिक वनस्पतिकायिकके भी भेद समझ लेना चाहिए। ग्रन्थ बढ़ जानेके भयसे अथवा पुनरुक्त दोषके भयसे हमने उन सबका लक्षण जुदा नहीं कहा है ॥८३॥ जिनका लक्षण ऊपर कहा जा चुका है ऐसे पृथ्वी जल अग्नि वायु इन चारोंकी ही जैनशास्त्रोंमें धातुसंज्ञा कही गई है ॥८४॥ ये चारों ही धातु अप्रतिष्ठित होते हैं। इनमें वनस्पतिकायिकके साधारण निगोदिया जीव नहीं रहते ॥८५॥

कहा भी है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, तीर्थंकरोंका शरीर, आहारक शरीर, देवोंका शरीर

किन्तु धातुचतुष्कस्य पिण्डे सूच्यग्रमात्रके । एकाक्षा सन्त्यसंख्याता नानन्ता नापि संख्यका ॥८६
अयमर्थः पृथिव्यादिकाये यत्नो विधीयताम् । तद्वधादिपरित्यागवृत्त्यभावेऽपि श्रावकैः ॥८७
अनन्तानन्तजीवास्तु स्युर्वनस्पतिकायिकाः ।पूर्ववत्तेऽपि सूक्ष्माश्च बादराश्चेति भेदतः ॥८८
पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं चेति ते द्विधा । प्रत्येकाः साधारणाश्च विज्ञेया जैनशासनात् ॥८९
सूक्ष्मबादरपर्याप्तापर्याप्तानां च लक्षणम् । ज्ञातव्यं यत्प्रागत्रैव निर्दिष्टं नातिविस्तरात् ॥९०
साधारणा निकोताश्च सन्त्येवैकार्थवाचकाः । घृतघटवत्सूक्ष्मैर्लोकोऽयं संभृतोऽखिलः ॥९१
आधाराधेयहेतुत्वाद् बादराः स्युः क्वचित्क्वचित् । तेऽपि प्रतिष्ठिताः केचिन्निकोतैश्चाप्रतिष्ठिताः ॥९२
तैराश्रिता यथा प्रोक्ताः प्रागितो मूलकादयः । अनाश्रिता यथैतैश्च गोधूमचणकादयः ॥९३
तत्रैकस्मिन् शरीरेऽपि सन्त्यनन्ताश्च प्राणिनः । प्रत्येकाश्च निकोताश्च नाम्ना सूत्रेषु संज्ञिताः ॥९४

उक्तं च—

एय णिगोयसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा । सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वितीदकालेण ॥३२

और नारकियोका शरीर इन आठ स्थानोमे निगोदिया जीव नही रहते हैं। इनके सिवाय बाकी जीवोके शरीर निगोदराशिसे भरे हुए प्रतिष्ठित समझने चाहिए ॥३१॥

इस प्रकार यद्यपि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारो धातुओमे निगोदिया जीव नही रहते तथापि इन चारो ही धातुओका पिंड जितना सुईके अग्रभागपर आता है उतने धातुओके पिंडमे असख्यात एकेन्द्रिय जीव होते है। उन जीवोकी सख्या न तो सख्यात होती है और न अनन्त होती है किन्तु असख्यात ही होती है ॥८६॥ इस सबके कहनेका अभिप्राय यह है कि यद्यपि श्रावकोके स्थावर जीवोकी हिंसाका त्याग नही होता तथापि उनको पृथ्वीकायिकादि जीवोकी रक्षाका प्रयत्न अवश्य करते रहना चाहिए ॥८७॥ वनस्पतिकायिक जीव अनन्तानन्त होते हैं तथा उनके भी पहलेके समान स्थूल और सूक्ष्म ऐसे दो भेद होते हैं ॥८८॥ इनमे भी प्रत्येकके दो-दो भेद होते हैं—एक पर्याप्तक और दूसरा अपर्याप्तक। जैनशास्त्रोमे इन सबके दो-दो भेद बतलाए है—एक प्रत्येक और दूसरे साधारण ॥८९॥ इनमेसे सूक्ष्म बादर (स्थूल) पर्याप्तक और अपर्याप्तकोका लक्षण पहले बता चुके है, इनका जो लक्षण पहले सक्षेपमे बतलाया है वही यहाँपर समझ लेना चाहिये ॥९०॥ साधारण और निगोद ये दोनो ही शब्द एक ही अर्थको कहनेवाले हैं। जो निगोदका अर्थ है वही साधारणका अर्थ है। ऐसे सूक्ष्म निगोदिया जीवोसे यह समस्त लोकाकाश इस प्रकार भरा हुआ है जैसे घीका घडा घीसे भरा रहता है ॥९१॥ स्थूल वनस्पतिकायिक जीव इस लोकाकाशमे आधाराधेयरूपसे कही-कहीपर रहते है। तथा वे स्थूल जीव अन्य कितने ही जीवोके आधारभूत भी होते है और उन स्थूल जीवोमेसे कितने तो ऐसे हैं जो निगोदिया जीवोसे भरे हुए प्रतिष्ठित हैं और कितने ही ऐसे है जो निगोदिया जीवोसे रहित अप्रतिष्ठित हैं ॥९२॥ उन अनन्तानन्त निगोदिया जीवोसे आश्रित रहनेवाले वनस्पतिकायिक स्थूल जीव मूली अदरक आदिक हैं जिनका स्वरूप पहले अच्छी तरह बतला चुके हैं तथा जो अनन्तानन्त निगोदिया जीवोसे आश्रित नही हैं अर्थात् जिनमे अनन्तानन्त निगोदिया जीव नही हैं वे एक स्थूल वनस्पतिकायिक गेहूँ चना आदि हैं ॥९३॥ उन निगोदियोके एक शरीरमे भी अनन्त जीव होते हैं जो कि आगम-सूत्रोमे प्रत्येक और निगोद नामसे कहे गये हैं ॥९४॥

कहा भी है—निगोदिया जीवोंके एक शरीरमे जो अनन्तानन्त जीव होते हैं उनकी सख्या व्यतीत अनादिकालसे तथा आज तक जितने सिद्ध हुए हैं उनकी संख्यासे अनन्तगुणी है ॥३२॥

फलमेतावदुक्तस्य ज्ञातस्याप्यर्थतः । यत्नस्तद्रक्षणे कार्यः श्रावकैर्भवभीरुभिः ॥९५
उक्तमेकाक्षजीवानां संक्षेपाल्लक्षणं यथा । साम्प्रतं द्वीन्द्रियादीनां त्रसानां वच्मि लक्षणम् ॥९६
तल्लक्षणं यथा सूत्रे त्रसा द्वीन्द्रियादयः । पर्याप्तापर्याप्तकाश्च प्रत्येकं ते द्विधा मताः ॥९७
कृमयो द्वीन्द्रिया प्रोक्तास्त्रीन्द्रियाश्च पिपीलिका । प्रसिद्धसंज्ञकाश्चैते भ्रमराद्याश्चतुरिन्द्रिया. ॥९८
पञ्चेन्द्रिया द्विधा ज्ञेया. संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा । संज्ञिनस्तत्र पञ्चाक्षा देवनारकमानुषाः ॥९९
तिर्यञ्चस्तत्र पञ्चाक्षा संज्ञिनोऽसंज्ञिनस्तथा । प्रत्येकं ते द्विधा ज्ञेया सम्मूर्च्छिमाश्च गर्भजाः ॥१००
लब्ध्यपर्याप्तकास्तत्र तिर्यञ्चो मनुजाश्च ये । असंज्ञिनो भवन्त्येव सम्मूर्च्छिमा न गर्भजाः ॥१०१
इति संक्षेपतोऽप्यत्र जीवस्थानान्यथोकथत् । तत्स्वरूपं परिज्ञाय कर्तव्या करुणा जनैः ॥१०२
व्यपरोपणं प्राणानां जीवाद्विश्लेषकारणम् । नाशकारणसामग्री-सांनिध्य वा बहिष्कृतम् ॥१०३
अर्थात्सज्जीवद्रव्यस्य नाशो नैवात्र दृश्यते । किन्तु जीवस्य प्राणेभ्यो वियोगो व्यपरोपणम् ॥१०४
ननु प्राणवियोगोऽपि स्यादनित्य. प्रमाणसात् । यत प्राणान्तरान् प्राणी लभते नात्र संशयः ॥१०५

इस सब कथनके कहनेका-जाननेका और उसके अर्थको समझनेका यही फल है कि जो श्रावक ससारपरिभ्रमणके दु खोसे डरते हैं उनको इन समस्त जीवोकी रक्षा करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥९५॥ इस प्रकार संक्षेपसे एकेन्द्रिय जीवोका लक्षण बतलाया। अब आगे दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय आदि त्रसजीवोका लक्षण कहते हैं ॥९६॥ शास्त्रोमे त्रसजीवोका लक्षण 'द्वीद्रियादयस्त्रसा' अर्थात्—'दो इन्द्रियको आदि लेकर त्रस हैं' ऐसा कहा है। उन सब त्रसजीवोमेसे प्रत्येकके दो दो भेद हैं—एक पर्याप्तक और दूसरा अपर्याप्तक ॥९७॥ लट, गेंडुए आदि जीव दोइन्द्रिय कहलाते हैं, चीटी, चीटा, खटमल आदि तेइन्द्रिय जीव कहलाते हैं तथा भौंरा, मक्खी ततैया, बर्र, लैंप वा दीपकपर आनेवाले छोटे छोटे उडनेवाले जानवर सब चौइन्द्रिय कहलाते हैं, ये सब जीव ससारमे प्रसिद्ध हैं ॥९८॥ पंचेन्द्रिय जीवोके दो भेद हैं—एक सैनी और दूसरे असैनी। उनमेंसे देव, नारकी और मनुष्य सब सैनी पचेन्द्रिय कहलाते है ॥९९॥ ससारमे जितने पचेन्द्रिय तिर्यंच हैं वे दो प्रकारके है—एक सैनी और दूसरे असैनी। वे दोनो ही प्रकारके तिर्यंच दो दो प्रकारके हैं एक गर्भसे उत्पन्न होनेवाले गर्भज और दूसरे सम्मूच्छन ॥१००॥ इनमे जो लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच हैं वे सब असैनी होते हैं और जो लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य है वे सब सम्मूर्च्छन होते हैं तथा लब्ध्य-पर्याप्तक तिर्यंच भी सम्मूर्च्छन ही होते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक चाहे तिर्यंच हो चाहे मनुष्य हो वे सब सम्मूर्च्छन ही होते हैं गर्भज नही होते। स्त्रियोके कुच या काँख आदि स्थानोमे सम्मूर्च्छन मनुष्य उत्पन्न होते रहते हैं ॥१०१॥ इस प्रकार अत्यन्त सक्षेपसे जीवोके स्थान बतलाए। इन सबका स्वरूप समझकर श्रावकोको इन समस्त जीवोपर करुणा वा दया करनी चाहिये ॥१०२॥ अब आगे व्यपरोपण शब्दका अथ बतलाते हैं। जीवसे उसके प्राणोको अलग करना—वियोग करना व्यपरोपण कहलाता है अथवा प्राणोके नाश करनेकी सामग्रीका इकट्ठा करना अथवा प्राणोको जीवसे सर्वथा अलग कर देना व्यपरोपण है ॥१०३॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि इस ससारमे जीवद्रव्यका तो नाश कभी होता ही नही है किन्तु जीवद्रव्यसे उसके वर्तमान आयु, श्वासोच्छ्वास आदि प्राणोका वियोग हो जाता है। इसीको प्राणोका व्यपरोपण वा हिंसा कहते हैं ॥१०४॥ कदाचित् यहाँपर कोई यह शंका करे कि प्राणोका वियोग होना भी अनित्य है, होता ही रहता है। क्योंकि बिना मारे भी जीव मरते ही हैं तथा वे जीव फिर अन्य प्राणोको धारण करते ही हैं इसमे कोई सन्देह नही है यह बात प्रमाणसे सिद्ध है। अतएव जब प्राणोका वियोग होना अनित्य

नैवं प्राणान्तरप्राप्तौ पूर्वप्राणप्रपीडनात् । प्राणभृद्दु:खमाप्नोति निर्वाच्यं मारणान्तिकम् ॥१०६
कर्मासातं हि बध्नाति प्राणिनां प्राणपीडनात् । येन तेन न कर्तव्या प्राणिपीडा कदाचन ॥१०७
ततो न्यायागतं चैतद्यद्बाधाकरं चित: । कायेन मनसा वाचा तत्तत्सर्वं परित्यजेत् ॥१०८
तस्मात्त्वं मा वदासत्यं चौर्यं मा चर पापकृत् । मा कुरु मैथुनं काङ्क्षन्मूर्च्छां वत्स परित्यज ॥१०९
यत: क्रियाभिरेताभि: प्राणिपीडा भवेद् ध्रुवम् । प्राणिनां पीडयाऽवश्यं बन्ध: स्यात्पापकर्मण: ॥११०
तदेकाक्षादिपञ्चाक्षपर्यन्ते दु:खभीरुणा । दातव्यं निर्भयं दानं मूलं व्रततरोरिव ॥१११
नन्वेवमीर्यासमितौ सावधानमुनावपि । अतिव्याप्तिर्भवेत्कालप्रेरितस्य मृतौ चित: ॥११२
नैवं प्रमत्तयोगत्वाद्धेतोरध्यक्षबाधित: । तस्याभावान्मुनौ तत्र नातिव्याप्तिर्भविष्यति ॥११३
एवं यत्रापि चान्यत्र मुनौ वा गृहमेधिनि । नैव प्रमत्तयोगोऽस्ति न बन्धो बन्धहेतुक: ॥११४

है और प्राणोंका वियोग होनेपर जब यह प्राणी अन्य प्राणोंको धारण कर ही लेता है तब फिर प्राणोंका वियोग करनेमें कोई पाप नहीं होता ॥१०५॥ परन्तु यह शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि जब इस जीवके प्राणोंका वियोग होता है तब उन प्राणोंको बहुत ही पीड़ा होती है तथा प्राणोंको पीड़ा होनेसे उस जीवको मरणसे उत्पन्न होनेवाला एक प्रकारका ऐसा महा दु:ख होता है जो वचनोंसे कहा भी नहीं जा सकता ॥१०६॥ इसीके साथ दूसरी बात यह है कि प्राणियोंकी पीड़ा करनेसे यह जीव बहुतसे असातावेदनीयकर्मका बन्ध करता है, इसलिए श्रावकोंको या गृहस्थोंको प्राणियोंकी पीड़ा कभी नहीं करनी चाहिए ॥१०७॥ इस प्रकार यह बात न्यायपूर्वक सिद्ध हो जाती है कि जो-जो कार्य इस जीवको दु:ख देनेवाले हैं, जिन कार्योंसे अन्य जीवोंको किसी भी प्रकारकी बाधा वा दु:ख पहुँचता हो, उन सब कार्योंका मनसे, वचनसे और कायसे त्याग कर देना चाहिए ॥१०८॥ अतएव हे वत्स ! कामन ! तू कभी झूठ मत बोल, अनेक प्रकारके पाप उत्पन्न करनेवाली चोरी कभी मत कर, कुशील सेवन कभी मत कर और किसी भी प्रकारकी मूर्च्छा वा परिग्रह रखनेकी लालसा मत कर ॥१०९॥ क्योंकि झूठ बोलनेसे, चोरी करनेसे, कुशील सेवन करनेसे और परिग्रहकी अधिक लालसा रखनेसे प्राणियोंको पीड़ा अवश्य होती है, तथा प्राणियोंको पीड़ा होनेसे पाप कर्मोंका बन्ध अवश्य होता है ॥११०॥ इसलिए जो जीव उन पापकर्मोंके उदयसे होनेवाले महादु:खोंसे डरना चाहते हैं, बचना चाहते हैं उन्हें एकेंद्रियसे लेकर पचेन्द्रियपर्यंत समस्त जीवोंको अभयदान देना चाहिए अर्थात् समस्त जीवोंकी रक्षा करनी चाहिए । यह समस्त जीवोंकी रक्षा करना व्रतरूपी वृक्षकी जड़ है ॥१११॥ यहाँ पर कदाचित् कोई यह शंका करे कि जो मुनि चलते समय ईर्यासमितिसे सावधान रहते हैं अर्थात् ईर्यासमितिको पूर्णरीतिसे पालन करते हुए चलते हैं उनके पाँवसे भी कालके द्वारा प्रेरित हुए प्राणोंकी मृत्यु हो सकती है इसलिए अहिंसाके इस लक्षणमें अतिव्याप्ति दोष आता है । क्योंकि जो जीव मारते है उनसे भी हिंसा होती है और जो जीवोंको सर्वथा बचानेका प्रयत्न करते हैं जो जीवोंकी रक्षाके लिए ही ईर्यासमितिसे चलते हैं उनसे भी हिंसा होती है इसलिए अहिंसाका यह लक्षण ठीक नहीं है ॥११२॥ परन्तु यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि जहाँपर प्रमाद वा कषायके सम्बन्धसे प्रत्यक्ष जीवकी हिंसा होती है वहींपर हिंसा कहलाती है । मुनिराजके कषायका सम्बन्ध लेशमात्र भी नहीं है । उनके प्रमादका सर्वथा अभाव है अतएव प्राणोंका वियोग होनेपर भी उनको हिंसाका दोष लेशमात्र भी नहीं लग सकता ॥११३॥ चाहे मुनि हो और चाहे गृहस्थ हो यह नियम सब जगह समझ लेना चाहिए कि जहाँपर प्रमाद नहीं है

उक्तं च—

मरदु व जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण विरदस्स ॥३३

ननु प्रमत्तयोगो यस्त्याज्यो हेय स एव च। प्राणिपीडा भवेन्मा वा कामचारोऽस्तु देहिनाम् ॥११५
नैव स्यात्कामचारोऽस्मिन्नवश्यं प्राणिपीडनात्। विना प्रमत्तयोगाद्वै कामचारो न दृश्यते ॥११६

उक्तं च—

तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनां। तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां द्वय न हि विरुद्धयते किमु करोति जानाति च ॥३४
सिद्धमेतावता नूनं त्याज्या हिंसादिका क्रिया। त्यक्तायां प्रमत्तयोगस्तत्रावश्यं निवर्तते ॥११७
अत्यक्तायां तु हिंसादिक्रियायां द्रव्यरूपत । भाव प्रमत्तयोगोऽपि न कदाचिन्निवर्तते ॥११८
तत. साधीयसी मैत्री श्रेयसे द्रव्यभावयो । न श्रेयान् कदाचिद्वै विरोधो वा मिथोऽनयो ॥११९

वहाँपर न तो कर्मोंका बन्ध होता है और न कर्मोंके बन्ध होनेका कोई कारण ही है ॥११४॥

कहा भी है—जीव चाहे मर जाय अथवा जीवित बना रहे परन्तु जो जीवोकी रक्षा करनेमे प्रयत्न नही करता, जीवोकी रक्षामे सावधान नही रहता उसके हिंसाका पाप अवश्य लगता है तथा जो समितियोका पालन करता है, जीवोकी रक्षा करनेमे प्रयत्न करता है, सावधानी रखता है उसके जीवोकी हिंसा होनेपर भी कर्मोंका बन्ध नही होता ॥३३॥

यहाँपर कोई शका करता है कि जब प्रमादके सम्बन्धसे ही हिंसाका पाप लगता है, जीवोंके प्राणोका वियोग हो या न हो परन्तु प्रमाद होनेपर हिंसाका पाप लग ही जाता है तो फिर प्रमादका ही त्याग करना चाहिए क्योकि प्रमाद ही त्याग करने योग्य है। प्रमादके त्याग कर देनेपर फिर प्राणियोको पीडा हो वा न हो यह प्राणियोकी इच्छापर निर्भर रहना चाहिए ॥११५॥ परन्तु शका ठीक नही है क्योकि प्रमादका त्याग कर देनेपर जीवोकी हिंसा करना हिंसा करनेवालेकी इच्छा पर निर्भर रखना सर्वथा अयुक्त है अर्थात् यह बात बन नही सकती। जिसने प्रमादका त्याग कर दिया है वह हिंसा भी करता रहे यह बात सवथा असम्भव है क्योंकि हिंसा करनेसे प्राणोकी पीडा अवश्य होती है तथा विना प्रमादके हिंसा करनेकी इच्छा ही उत्पन्न नही हो सकती। भावार्थ—विना प्रमादके न तो हिंसा करनेके परिणाम होते हैं और न हिंसा हो सकती है ॥११६॥

कहा भी है—ज्ञानियोंको निरर्गल प्रवृत्ति नही करनी चाहिए क्योकि निरर्गल व्यापार करना प्रमादका घर है। जो कर्म विना इच्छाके किया जाता है वह ज्ञानियोंके लिए कर्मबन्धका कारण नही होता। इसलिए करता और जानता दोनो ही परस्पर विरुद्ध नही होते ॥३४॥

इससे सिद्ध होता है कि हिंसादिक क्रियाओंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। हिंसादिक क्रियाओका त्याग कर देनेसे प्रमादरूप योगोका त्याग अपने आप हो जाता है ॥११७॥ यदि द्रव्य-रूपसे हिंसादिक क्रियाओंका त्याग नहीं किया जायगा तो प्रमत्तयोगरूप जो परिणाम हैं उनका त्याग भी कभी नहीं हो सकेगा ॥११८॥ इसलिए आत्माका कल्याण करनेके लिए द्रव्य और भावकी मैत्री होना ही अच्छा है अर्थात् द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनोका साथ-साथ त्याग कर देना अच्छा है। इन दोनोंका विरोध होना कभी भी कल्याणकारी नही हो सकता ॥११९॥ इतना सब सुन

ननु हिंसा निषिद्धा स्याद् यदुक्तं तद्धि सम्मत । तस्य देशतो विरतिस्तत्कथं तद्वदाद्य न ॥१२०
उच्यते शृणु भो प्राज्ञ तच्छ्रोतुकाम फामन । देशतो विरतेर्लक्ष्म हिंसाया वच्मि साम्प्रतम् ॥१२१
तत्रापि देशशब्देन विशिष्टोंऽशो विवक्षित । न यथाकाममात्मोत्थ कश्चिदन्यतमोंऽशक ॥१२२
देशशब्दोऽत्र स्थूलार्थे तथा भावाद्विवक्षित । कारणात्स्थूलहिंसादेस्त्यागस्यैवात्र दर्शनात् ॥१२३
स्थूलत्वमार्दवं स्थूलत्रसरक्षादिगोचरम् । अतिचाराविनाभूत सातिचार च सास्रवम् ॥१२४
तद्यथा यो निवृत्त' स्याद्यावत्त्रसवधादिह । न निवृत्तस्तथा पञ्चस्थावरहिंसया गृही ॥१२५
विरताविरताख्यः स स्यादेकस्मिन्ननेहसि । लक्षणात्त्रसहिंसायास्त्यागेऽणुव्रतधारक ॥१२६

उक्तं च—

जो तसवहाउ विरओ अविरओ तह थावर-वहाओ ।
एकसमयम्हि जीवो विरयाविरयो जिणेक्कमई ॥३५

अत्र तात्पर्यमेवैतत्सर्वारम्भेण श्रूयताम् । त्रसकायवधाय स्यात्क्रिया त्याज्या हितावती ॥१२७

लेनेपर फामन फिर पूछने लगा कि आपने जो हिंसाका त्याग करना बतलाया है और उसके त्याग करनेकी जो विधि बतलाई सो तो सब ठीक है परन्तु उसका एकदेश त्याग कैसे किया जाता है। एकदेशका क्या अर्थ है उसे ही आज बतलाइये ॥१२०॥ हे विद्वान् फामन ! तूँ हिंसाके एकदेश त्यागका लक्षण सुनना चाहता है सो सुन। मै अब उसी हिंसाके एकदेश त्यागका लक्षण कहता हूँ ॥१२१॥ यहाँपर देश शब्दका अर्थ विशिष्ट अश लिया गया है। अपनी इच्छानुसार त्याग कर देना अथवा किसी एक अशका त्याग कर देना एकदेश शब्दका अर्थ नही है ॥१२२॥ यहाँपर एकदेश शब्दका अर्थ स्थूल लेना चाहिए तथा भावपूर्वक लेना चाहिए अर्थात् कारण पूर्वक स्थूल हिंसादिकका त्याग करना ही एकदेश त्यागका अर्थ है। यही अर्थ शास्त्रोमे कहा गया है ॥१२३॥ स्थूल शब्दका भी अर्थ कोमल परिणाम या करुणा है। करुणापूर्वक स्थूल त्रस जीवोकी रक्षा करना ही अहिंसाणुव्रत है। यह अणुव्रत अतिचारोंके साथ-साथ होता है अर्थात् यह अतिचार सहित होता है और आस्रव सहित होता है ॥१२४॥ आगे इसीका खुलासा कहते हैं। इस अहिंसा अणुव्रतको धारण करनेवाला गृहस्थ त्रस जीवोकी हिंसाका त्याग कर देता है परन्तु पाँचो स्थावर जीवोंकी हिंसाका त्याग नही करता इसलिए अणुव्रतोको धारण करनेवाला गृहस्थ एक ही पापका त्यागी भी होता है और त्यागी नही भी होता, अतएव अणुव्रतोको विरताविरत कहते हैं तथा अहिंसाणुव्रतका लक्षण त्रस जीवोकी हिंसाका त्याग करना बतलाया है। इस प्रकार जो त्रस जीवोकी हिंसाका त्यागी और स्थावर जीवोकी हिंसाका त्यागी नही है उसको अणुव्रती कहते हैं ॥१२५–१२६॥

कहा भी है—जो त्रस जीवोकी हिंसाका त्यागी है परन्तु स्थावर जीवोकी हिंसाका त्यागी नहीं है। इस प्रकार केवल जिनेन्द्रदेवकी आज्ञाको माननेवाला सम्यग्दृष्टि श्रावक एक ही समयमे विरताविरत कहलाता है। अर्थात् वह त्रस जीवोकी हिंसाका त्यागी है इसलिए विरत कहलाता है और स्थावर जीवोकी हिंसाका त्यागी नही है इसलिए अविरत कहलाता है, इस प्रकार एक ही समयमे वह विरत और अविरत अर्थात् विरताविरत कहलाता है ॥३५॥

इस सबके कहने का अभिप्राय यह है कि जिस आरम्भसे त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ऐसी जितनी भी क्रियाएँ हैं उनका सब प्रकारसे त्याग कर देना चाहिए। इस बातको खूब अच्छी

क्रियायां यत्र विख्यातस्त्रसकायवधो महान्। तां तां क्रियामवश्यं स सर्वामपि परित्यजेत् ॥१२८
अत्राप्याऽऽशङ्कते कश्चिदात्मप्रज्ञापराधतः । कुर्याद्धिंसां स्वकार्याय न कार्या स्थावरक्षतिः ॥१२९
अर्थं तेषां विकल्पो य स्याद्वा कपोलकल्पनात् । अर्थाभासस्य भ्रान्तेर्वा नैवं सूत्रार्थदर्शनात् ॥१३०
तद्यथा सिद्धसूत्रार्थे दर्शितं पूर्वसूरिभिः । तत्रार्थोऽयं विना कार्यं न कार्या स्थावरक्षति ॥१३१
एतत्सूत्र-विशेषार्थेऽनवबोधवशानके । नूनं ते स्खलिता मोहात्सर्वसामान्यसंग्रहात् ॥१३२
किञ्च कार्यं विना हिंसां न कुर्यादिति धीमता । दृष्टेस्तुर्यगुणस्थाने कृतार्थत्वाद्दृगात्मनः ॥१३३
यदुक्तं गोम्मटसारे सिद्धान्ते सिद्धसाधने । तत्सूत्रं च यथाम्नायात्प्रतीत्यै वच्मि साम्प्रतम् ॥१३४

उक्तं च—

सम्माइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं च सद्दहदि । सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥३६

तरह सुन लेना चाहिए, क्योंकि ऐसी क्रियाओंसे आत्माका कभी कल्याण नहीं होता है। ऐसी त्रस जीवोंकी हिंसा करनेवाली क्रियाओंसे यह आत्मा नरकादिक दुर्गतियोंमें ही प्राप्त होता है ॥१२७॥ जिस क्रियाके करनेमें त्रस जीवोंकी महा हिंसा होती हो ऐसी-ऐसी समस्त क्रियाओंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए ॥१२८॥ यहाँपर कोई पुरुष अपनी बुद्धिके दोषसे कुतर्क करता हुआ शंका करता है कि अपने कार्यके लिए तो त्रस जीवोंकी हिंसा भी कर लेनी चाहिए परन्तु बिना प्रयोजन स्थावर जीवोंका विघात भी नहीं करना चाहिए, परन्तु यह उसका विकल्प कपोल-कल्पित है। या तो उसे अर्थका यथार्थ परिज्ञान नहीं हुआ है अथवा भ्रमरूप बुद्धि होनेसे ऐसी कपोलकल्पना करता है, क्योंकि उसका किया हुआ यह अर्थ सूत्र या शास्त्रोंके अनुसार नहीं है। सूत्र या शास्त्रोंके विरुद्ध है ॥१२९-१३०॥ शंका करनेवालेने जो शंका करते हुए अहिंसा अणुव्रत-का अर्थ किया है वह विरुद्ध क्यों है इसी बातको आगे दिखलाते हैं। पहलेके आचार्योंने अनादि-सिद्ध शास्त्रोंमें जो अर्थ बतलाया है वह यह है कि बिना प्रयोजनके स्थावर जीवोंकी हिंसा भी नहीं करनी चाहिए। फिर भला त्रस जीवोंकी हिंसा करनेकी तो बात ही क्या है। त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग तो सर्वथा कर देना चाहिए। किसी विशेष प्रयोजनके वश होकर भी त्रस जीवोंकी हिंसा कभी नहीं करनी चाहिए ॥१३१॥ जो लोग इस सिद्धान्तके विशेष अर्थको नहीं जानते हैं ऐसे लोग ही अपने मोहनीय कर्मके उदयसे स्खलित हो जाते हैं अर्थात् मोहनीय कर्मके उदयसे हिंसाको ही अहिंसा वा अहिंसा अणुव्रत मान लेते हैं। ऐसे लोग समस्त कथनको सामान्यरूपसे समझ लेते हैं और सबको सामान्य समझकर एक साथ संग्रह कर लेते हैं ॥१३२॥ दूसरी समझने योग्य विशेष बात यह है कि सम्यग्दृष्टि पुरुष कृतार्थ होता है। यह अपने आत्माके स्वरूपको अच्छी तरह जानता है अतएव वह चौथे गुणस्थानमें भी बिना प्रयोजनके हिंसा नहीं करता। इस बातको सब बुद्धिमान् अच्छी तरह जानते हैं ॥१३३॥ यही बात जीवकी सिद्ध अवस्थाके उपायको बतलानेवाले गोमट्टसारनामके सिद्धान्तशास्त्रमें बतलाई है। आचार्योंकी परम्परापूर्वक चला आया जो वह सूत्र है उसको मैं अब विश्वासके लिए कहता हूँ ॥१३४॥

गोमट्टसारमें लिखा है—सम्यग्दृष्टि जीव भगवान् सर्वज्ञदेवके कहे हुए शास्त्रोंका श्रद्धान करता है तथा जिस किसी पदार्थका स्वरूप वह नहीं जानता है और उसका स्वरूप गुरु बतला देवें तो उन गुरुका बतलाया हुआ उस पदार्थका स्वरूप चाहे यथार्थ न हो तो भी वह उन यथार्थ गुरुके कहे वचनोंका श्रद्धान कर लेता है ॥३६॥

अत्र सूत्रे चकारस्य ग्रहणं विद्यते स्फुटम् । तस्यार्थष्टीकाकारेण टीकायां प्रकटीकृतः ॥१३५
टीका व्याख्या यथा कश्चिज्जीवो य सम्यग्दृष्टिमान् । उपदिष्टं प्रवचनं जिनोक्तं श्रद्दधाति सः १३६
चकारग्रहणादेव न कुर्यात्त्रसहिंसनम् । विना कार्यं कृपार्द्रत्वात्प्रशमादिगुणान्वितः ॥१३७
एवमित्यत्र विख्यातं कथितं च जिनागमे । स एवार्थो यदत्रापि व्रतित्वं हि कुतोऽर्थतः ॥१३८
तत्पञ्चमगुणस्थाने किमात्रं व्रतमिच्छता । त्रसकायवधार्थं या क्रिया त्याज्याऽखिलाऽपि च ॥१३९
ननु जलानलोर्व्यसवनस्पतिकेषु च । प्रवृत्तौ तच्छ्रिताक्रान्तानां त्रसानां तत्र का कथा ॥१४०
नैव दोषोऽल्पदोषत्वाद्वा सम्यग्विवेचनात् । निष्प्रमादतया तत्र रक्षणे यत्नतत्परात् ॥१४१
एवं चेत्तर्हि कृष्यादौ को दोषस्तुल्यकारणात् । अशक्यपरिहारस्य तद्वत्तत्रापि सम्भवात् ॥१४२

इस सूत्रमे एक चकार है। सूत्रकारने जिस प्रयोजनके लिए चकारका ग्रहण किया है उसका स्पष्ट अर्थ टीकामे लिखा है ॥१३५॥ टीकाकारने इस सूत्रकी टीका इस प्रकार लिखी है कि जो कोई भी सम्यग्दृष्टि जीव है वह भगवान् जिनेन्द्रदेवके कहे हुए वचनोका श्रद्धान करता है। इस सूत्रमे जो चकार है उसका अभिप्राय यह है कि उसका हृदय करुणासे अत्यन्त भीगा रहता है क्योंकि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ये चार गुण उसके स्पष्ट प्रगट हो जाते हैं। अतएव वह सम्यग्दृष्टि पुरुष विना प्रयोजनके त्रस जीवोकी हिंसा कभी नही करता है ॥१३६-१३७॥ चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रत सम्यग्दृष्टिका यह स्वरूप सर्वत्र प्रसिद्ध है तथा जैनशास्त्रोमे सर्वत्र कहा है। यदि यही अर्थ पचम गुणस्थानवर्ती अहिंसा अणुव्रतके स्वरूपमे लिया जायगा तो फिर उसको व्रती किस कारणसे कहा जायगा ॥१३८॥ इसलिए जो श्रावक पाँचवें गुणस्थानको धारण कर थोडेसे भी व्रतोको धारण करना चाहता है उसे ऐसी समस्त क्रियाओका त्याग कर देना चाहिये जिनमे त्रस जीवोकी हिंसा होती हो ॥१३९॥ यहाँपर शंका करनेवाला फिर शका करता है कि अहिंसा अणुव्रतको धारण करनेवाला त्रस जीवोकी हिंसा करनेवाली क्रियाओका त्यागी होता है। स्थावर जीवोकी हिंसा करनेवाली क्रियाओका त्यागी नही होता अतएव जब वह पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवोकी हिंसा करनेवाली क्रियाओमे प्रवृत्त होता है उस समय उन स्थावर जीवोके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोकी क्या अवस्था होती होगी ॥१४०॥ कदाचित् यह कहो कि अणुव्रतीके लिए इसमे कोई दोष नही है क्योकि इसमे बहुत थोडा दोष लगता है, वह त्रस जीवोकी हिंसा करनेके लिए तैयार नही हुआ है केवल स्थावर जीवोंके आश्रय होनेसे उनका घात हो जाता है। उसके परिणाम उनके हिंसा करनेके लिए नही होते इसलिए इसमे अधिक दोष नही है। दूसरी बात यह है कि जिन त्रस जीवोको वह बचा सकता है उनको बचा देता है, जिनके बचानेमे वह असमर्थ है, किसी तरह भी नही बचा सकता उन्हीका घात हो जाता है इसलिए भी इसमे दोष नही है। तीसरी बात यह है कि वह श्रावक उन जीवोंके मारनेके प्रति कषाय नहीं कर रहा है कषायपूर्वक उनका घात नही करता है अतएव प्रमादरहित होनेके कारण भी उसमे दोष नहीं है और चौथी बात यह है कि उनकी रक्षा करनेके लिए वह अच्छी तरह यत्न करता है। उनकी हिंसा होनेमे वह असावधान नही है इसलिए भी अणुव्रतीके लिये कोई दोष नहीं आता। शंकाकार कहता है कि इस प्रकार अणुव्रतीको तुम निर्दोष सिद्ध करना चाहो सो भी ठीक नहीं है क्योकि वह इस प्रकार निर्दोष सिद्ध हो नही सकता। कदाचित् ऊपर लिखे कारणोसे उसे निर्दोष सिद्ध करना चाहो तो फिर अणुव्रतीके लिये खेती

अपि तत्रात्मनिन्दादिभावस्यावश्यभावतः । प्रमत्तयोगाद्यभावस्य यथात्रैव सम्भवादपि ॥१४३
जलादावपि विख्यातास्त्रसा सन्त्युपलब्धितः । कृष्यादौ च त्रसाः सन्ति विख्याता क्षितिमण्डले ॥१४४
नैवं यतोऽनभिज्ञोऽसि हिंसाणुव्रतलक्षणे । सतृणाभ्यवहारित्वं भुञ्जानो द्विरदादिवत् ॥१४५
वक्ष्येऽहं लक्षणं तस्य सावधानतया शृणु । क्षणं प्रमादमुत्सृज्य गर्हितावद्यकारणम् ॥१४६
अणुत्वमल्पीकरणं तच्च गृद्धेरिहार्थतः । यथावद्यस्य हिंसादेर्हृषीकविषयस्य च ॥१४७
कृष्यादयो महारम्भाः क्रूरकर्मार्जनक्षमाः । तत्क्रियानिरतो जीवः कुतो हिंसाव्रतक्षमम् ॥१४८
न चाऽऽशङ्क्यं हि कृष्यादिमहारम्भे क्रिया तु या । तत्स्वल्पीकरणं चार्थाहिंसाणुव्रतमिष्यते ॥१४९
यतः स्वल्पीकृतोऽप्यत्र महारम्भः प्रवर्तते । महावद्यस्य हेतुत्वात्तद्वान्नाणुव्रती भवेत् ॥१५०

करनेमे भी क्या दोष है क्योंकि जो कारण ऊपर बताये हैं वे सब यहाँ भी मिलते हैं। जिस प्रकार स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी हिंसाको भी वह बचा नही सकता उसी प्रकार खेतीमे होनेवाली त्रस जीवोंकी हिंसाको भी वह बचा नही सकता ॥१४१-१४२॥ दूसरी बात यह है कि खेती करनेमे जो त्रस जीवोंकी हिंसा होती है उसके करते समय वह अपनी निन्दा अवश्य करता है अर्थात् उस हिंसाको वह त्याज्य अवश्य मानता है। इसी प्रकार जैसे वहाँ-पर उसके प्रमादका अभाव है, कषायरूप परिणामोंका अभाव है उसी प्रकार खेती करनेमे भी कषायरूप परिणामोंका अभाव है। खेती करनेमे जो त्रस जीवोंकी हिंसा होती है उसको वह कषाय-पूर्वक नही करता तथा उनकी रक्षा करनेमे भी वह सावधान रहता है अतएव अणुव्रतोंके लिए यदि स्थावर जीवोंके आश्रय रहनेवाले त्रस जीवोंकी हिंसाको निर्दोष कहा जायगा तो खेती करनेमे होनेवाली त्रस जीवोंकी हिंसाको भी निर्दोष कहना पडेगा ॥१४३॥ शकाकार कह रहा है कि कदाचित् तुम यह कहो कि स्थावर जीवोंके आश्रय त्रसजीव रहते ही नही है सो भी ठीक नही है क्योंकि जलके आश्रय रहनेवाले त्रस जीव प्रसिद्ध हैं और वे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं। सूक्ष्मदर्शक यन्त्रसे स्पष्ट दिखाई देते हैं तथा छोटी-छोटी मछलियाँ तथा और भी अनेक प्रकारके जलचर जीव इन्द्रियोंसे भी दिखाई देते हैं। इसी प्रकार खेती करनेमे भी पृथ्वी मण्डलमे रहनेवाले अनेक प्रकारके त्रसजीव प्रसिद्ध हैं। गिडोरे गिजाई आदि असंख्यात जीव खेतोंमे उत्पन्न हो जाते हैं इसलिए स्थावर जीवोंके आश्रय त्रस जीवोंका सद्भाव मानना ही पडता है तथा खेती करनेमे भी त्रस जीवोंकी हिंसा माननी ही पडती है। इस प्रकार पाँच श्लोकोंमे शकाकारने शका उपस्थित की है ॥१४४॥ ग्रन्थकार अब उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि शकाकारकी यह शका ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार घासके साथ चावलोंको खाता हुआ हाथी चावलोंको नही समझता, केवल घासको ही समझता है उसी प्रकार शका करनेवाला अहिंसा अणुव्रतके लक्षणको नहीं समझता ॥१४५॥ हे शकाकार, तू अत्यन्त निन्दनीय और पापका कारण ऐसे प्रमादको छोडकर तथा सावधान होकर क्षणभर सुन। मैं अब अणुव्रतका लक्षण कहता हूँ ॥१४६॥ अणु शब्दका अर्थ घटाना है तथा यहाँपर प्रकरणके वशसे गृद्धता वा लालसाका घटाना लेना चाहिए तथा वह लालसा भी पापकर्मोंकी लालसा, हिंसाकी लालसा और इन्द्रियोंके विषयोंकी लालसा घटानी वा कम करनी चाहिए ॥१४७॥ खेती आदिक व्यापार महा आरम्भ उत्पन्न करनेवाले हैं तथा क्रूर कार्योंसे उपार्जन किये जाते हैं ? उन क्रूर कार्योंमे लगा हुआ जीव भला अहिंसा अणुव्रतको किस प्रकार पाल सकता है ? ॥१४८॥ यहाँपर यह शंका भी नही करनी चाहिए कि खेती आदिके महारम्भोंमें होनेवाली क्रियाओंका कम करना भी अहिंसा अणुव्रत कहलावेगा ? क्योंकि खेती

अलं वा बहुनोक्तेन प्रलपूकतयाप्यलम् । त्रसहिंसाक्रिया त्याज्या हिंसाणुव्रतधारिणा ॥१५१
ननु त्यक्तुमशक्यस्य महारम्भानशेषत । इच्छत स्वल्पीकरणं कृष्यादेस्तस्य का गति ॥१५२
अस्ति सम्यग्गतिस्तस्य साधु साधीयसी जिने । कार्या पुण्यफलाश्लाघ्या क्रियामुत्रेह सौख्यदा ॥१५३
यथाशक्ति महारम्भात्स्वल्पीकरणमुत्तमम् । विलम्बो न क्षण कार्यो नात्र कार्या विचारणा ॥१५४
हेतुरस्त्यत्र पापस्य कर्मण संवरोंऽशत । न्यायागत प्रवाहश्च न केनापि निवार्यते ॥१५५
साधितं फलवन्न्यायात्प्रमाणित जिनागमात् । युक्ते स्वानुभवाच्चापि कर्तव्य प्रकृत महत् ॥१५६
तत्रागमो यथा सूत्रादाप्तवाक्य प्रकीर्तितम् । पूर्वापराविरुद्ध यत्प्रत्यक्षाद्यैरबाधितम् ॥१५७

उक्त च—

यथार्थदर्शिन पुंसो यथादृष्टार्थवादिन । उपदेश परार्थो य स इहागम उच्यते ॥३७
आगम स यथा द्वेधा हिंसादेरपकर्षणम् । यमादेकं द्वितीय तु नियमादेव केवलात् ॥१५८

आदिमे होनेवाली महारम्भोकी क्रियाएँ चाहे जितनी कम की जायँ तो भी उनमे महारम्भ ही होते रहते हैं । इसका भी कारण यह है कि खेती करनेका महारम्भ महापापका कारण है इसलिए खेती करनेवाला महारम्भी पुरुष कभी अणुव्रती नही हो सकता ॥१४९-१५०॥ बहुत कहनेसे क्या ? अथवा अधिक वाद-विवाद करनेसे या अधिक बोलनेसे क्या ? यह निश्चित सिद्धान्त है कि अहिंसा अणुव्रत धारण करनेवालेको त्रस जीवोकी हिंसा करनेवाली समस्त क्रियाओका त्याग कर देना चाहिए ॥१५१॥ यहाँपर शकाकार कहता है कि जो कोई पुरुष खेती आदिके महारम्भोको पूर्ण रीतिसे त्याग नही सकता परन्तु उनको कम करना चाहता है उसके लिए क्या उपाय किया जायगा ॥१५२॥ इसका उत्तर यह है कि खेती आदिके महारम्भोको कम करनेवाले लोगोके लिए भी भगवान् जिनेन्द्रदेवने बहुत ही अच्छी गति बतलाई है । भगवान् जिनेन्द्रदेवने कहा है कि जो क्रियाएँ पुण्यरूप फलको उत्पन्न करनेवाली हैं और इसीलिए प्रशसनीय और इस लोक तथा परलोक दोनो लोकोमे सुख देनेवाली हैं ऐसी क्रियाएँ गृहस्थोको सदा करते रहना चाहिए ॥१५३॥ अपनी शक्तिके अनुसार खेती आदिके महारम्भोको कम करना उत्तम कार्य है । ऐसे कार्योंके करनेके लिये देर नही करनी चाहिए और न ऐसे उत्तम कार्योंके करनेके लिए कुछ विचार करना चाहिये ॥१५४॥ ऐसे उत्तम कार्योंको अत्यन्त शीघ्र और विना किसी सोच विचारके करनेका कारण भी यह है कि खेती आदिके महा आरम्भ जितने कम कर दिये जायेंगे उतने ही पापकर्मोंके अशोका सवर हो जायगा । यह न्यायसे प्राप्त हुआ प्रवाह सदासे चला आ रहा है वह किसीसे निवारण नही हो सकता ॥१५५॥ इस प्रकार न्यायसे सिद्ध होता है कि खेती आदि महारम्भोका कम करना भी सफल । पुण्यफलको देनेवाला है । यह बात जैनशास्त्रोसे भी सिद्ध होती है, युक्तिसे भी सिद्ध होती है और अनुभवसे भी सिद्ध होती है अतएव खेती आदिके महारम्भोको कम करनेरूप जो उत्तम कार्य है वह गृहस्थोको अवश्य करना चाहिये ॥१५६॥ जो सूत्रोके द्वारा आप्तवाक्योका कहना है वही आगम कहलाता है । वह आगम पूर्वापर विरोधसे रहित होता है और प्रत्यक्षादिक प्रमाणोंसे अबाधित होता है ॥१५७॥

कहा भी है—जो पुरुष विशेष या अरहन्तदेव यथार्थ दर्शी हैं, समस्त स्थूल सूक्ष्म पदार्थोंको प्रत्यक्ष देखते हैं तथा जिस प्रकार देखते हैं उसी प्रकार उनका स्वरूप निरूपण करते हैं ऐसे भगवान् अरहन्तदेवका भव्य जीवोका कल्याण करनेके लिए दिया हुआ जो उपदेश है उसीको आगम कहते हैं ॥३७॥

उस आगममे हिंसादिक पापोका जो त्याग बतलाया है वह दो प्रकारसे बतलाया है—एक

यमस्तत्र यथा यावज्जीवनं प्रति पालनम् । दैवाद्घोरोपसर्गेऽपि दु खे वा मरणावधि ॥१५९
यमोऽपि द्विविधो ज्ञेय प्रथमः प्रतिमान्वितः । अन्य सामान्यमात्रत्वात्स्पष्टं तल्लक्षणं यथा ॥१६०
यावज्जीवं त्रसानां हि हिंसावैरपकर्षणम् । सर्वतस्तत्क्रियायाश्चेत्प्रतिमारूपमुच्यते ॥१६१
अथ सामान्यरूपं तदल्पीकरणं मनाक् । यावज्जीवनमप्येतद्देशतो न (तु) सर्वत ॥१६२

आह कृषीवल कश्चिद्द्विशत न च करोम्यहम् ।
शतमात्रं करिष्यामि प्रतिमाऽस्य न कापि सा ॥१६३

नियमोऽपि द्विधा ज्ञेय सावधिर्जीवनावधि । त्रसहिंसाक्रियायाश्च यथाशक्त्यपकर्षणम् ॥१६४
सावधि स्वायुषो यावदर्वागेव व्रतावधि । उदूर्ध्वं यथात्मसामर्थ्यं कुर्याद्वा न यथेच्छया ॥१६५
पुन कुर्यात्पुनस्त्यक्त्वा पुन कृत्वा पुनस्त्यजेत् । न त्यजेद्वा न कुर्याद्वा कारं कारं करोति च ॥१६६
अस्ति कश्चिद्विशेषोऽपि द्वयोर्यमनियमयो । नियमो दृक्प्रतिमायां व्रतस्थाने यमो मत ॥१६७

तो केवल यमरूपसे और दूसरा केवल नियमरूपसे ॥१५८॥ इन यम नियम दोनोमेसे जीवनपर्यन्त पालन करना यम है। यदि दैवयोगसे कोई घोर उपसर्ग आ जाय अथवा महादु ख उत्पन्न हो जाय अथवा मरण होने तकका समय आ जाय तो भी उस किये हुए त्यागसे विचलित न होना यम कहलाता है ॥१५९॥ वह यम भी दो प्रकार है—एक प्रतिमारूप और दूसरा सामान्यरूप। इन दोनोका स्पष्ट लक्षण नीचे लिखे अनुसार है ॥१६०॥ जीवन पर्यंत पूर्णरूपसे त्रस जीवोकी हिंसाका त्याग करना तथा जिन जिन क्रियाओमे त्रस जीवोकी हिंसा होती हो ऐसी समस्त क्रियाओका जीवनपर्यन्ततकके लिए त्याग कर देना प्रतिमारूप यम कहलाता है ॥१६१॥ तथा जीवन पर्यन्त त्रस जीवोकी हिंसाको थोडा कम करना और वह भी पूर्णरूपसे नही किन्तु एकदेश कम करना सामान्य-रूप यम कहलाता है ॥१६२॥ जैसे कोई किसान जन्मभरके लिए यम-नियम ले कि मैं जो इस समय दो सौ बीघा खेती करता हूँ सो अब न करूँगा। अबसे मैं जन्म भर तक सौ बीघा खेती करूँगा। ऐसे यमरूप त्यागको सामान्य यम कहते हैं। इसमे त्रस जीवोंकी हिंसा कम की गई है, उसका पूर्ण रूपसे त्याग नही किया गया है इसलिए वह प्रतिमारूप यम नही है किन्तु एकदेश रूपसे कम की गई है इसलिए उसको सामान्य यम कहते हैं ॥१६३॥ इस प्रकार यमके दो भेद बतलाए। अब आगे नियमके भी दो भेद बतलाते हैं। नियम भी दो प्रकार है। जिनमे त्रस जीवो-की हिंसा हो ऐसी क्रियाओका अपनी शक्तिके अनुसार कालकी मर्यादा लेकर त्याग करना पहला नियम है तथा उन्ही क्रियाओका अपनी शक्तिके अनुसार जीवन पर्यन्त त्याग करना दूसरा नियम है ॥१६४॥ अपनी आयुके पहले पहले तक किसी कालकी मर्यादा लेकर किसी व्रतके धारण करने-का नियम करना वह पहला सावधि (अवधि अर्थात् कालकी मर्यादा सहित) नियम कहलाता है। उस व्रतके धारण करनेकी जितने कालकी मर्यादा ली है उतने काल तक तो वह उसको पालन करता ही है। उसके बाद वह उस व्रतको अपनी इच्छानुसार और अपनी सामर्थ्यके अनुसार पालन करता भी है और नही भी करता है ॥१६५॥ कालकी मर्यादा लेकर नियम करनेवाला पुरुष उस मर्यादाके पूर्ण होनेपर फिर उस व्रतको करता भी है, करके छोड भी देता है, छोड करके भी फिर करने लगता है और फिर छोड देता है, अथवा फिर उसे नहीं छोडता—बराबर करता ही रहता है, अथवा कालकी मर्यादा होनेपर फिर उसे करता ही नही, सर्वथा छोड देता है अथवा बार बार करता है और फिर करता है ॥१६६॥ इन यम और नियम दोनोमे विशेषकर यह भेद

अयं भावो व्रतस्थाने या क्रियाऽभिमता सताम् । तां सामान्यतः कुर्वन्सामान्ययम उच्यते ॥१६८
प्रतिमायां क्रियायां तु प्रागेवात्रापि सूचिता । यावज्जीव हि तां कुर्वन्नियमोऽनवधिः स्मृतः ॥१६९
उक्तं सम्यक् परिज्ञाय गृहस्थो व्रतमाचरेत् । यथाशक्ति यथाकाल यथादेशं यथावयः ॥१७०
त्रसहिंसाक्रियात्यागो यदि कर्तुं न शक्यते । व्रतस्थानापरिग्रहेणाल दर्शनेनैव पूर्यताम् ॥१७१
व्रतस्थानक्रियां कर्तुमशक्योऽपि यदीप्सति । व्रतंमन्योऽपि संमोहाद् व्रताभासोऽस्ति न व्रती ॥१७२
अलं कोलाहलेनाल कर्तव्या श्रेयसः क्रिया । फलमेव हि साध्य स्यात्सर्वारम्भेषु धीमता ॥१७३
त्रसहिंसाक्रियात्यागश्चायं स्यादुपलक्षणम् । तेन भूकायिकादींश्च निःशङ्कं नोपमर्दयेत् ॥१७४
किन्तु चैकाक्षजीवेषु भूजलादिषु पञ्चसु । अहिंसाव्रतशुद्ध्यर्थं कर्तव्यो यत्नो महान् ॥१७५
त्रसहिंसाक्रियात्यागी महारम्भं परित्यजेत् । नारकाणां गतेर्बीजं नून तद्दुःखकारणम् ॥१७६

है कि दर्शनप्रतिमामे तो श्रावक नियमका पालन करता है और व्रत प्रतिमामे यमका पालन करता है ॥१६७॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि व्रत प्रतिमामे सज्जनोके लिये जो क्रियाएँ बतलाई हैं उनको जो सामान्य रीतिसे या एक देशरूपसे पालन करता है उसको सामान्य यम कहते हैं तथा दर्शनप्रतिमामे जो क्रियाएँ पहले बतलाई हैं उनको जो पुरुष जीवन पर्यन्त पालन करता है उसको अनवधि नियम अथवा जीवनपर्यन्त होनेवाला नियम कहते हैं ॥१६८–१६९॥ ऊपर जो कुछ यम और नियमका स्वरूप बतलाया है उसको अच्छी तरह समझ कर अपनी शक्तिके अनुसार, देशके अनुसार, कालके अनुसार और अपनी आयुके अनुसार गृहस्थोको व्रत पालन करना चाहिए ॥१७०॥ जो पुरुष जिनमे त्रस जीवोकी हिंसा होती है ऐसी क्रियाओका त्याग नही कर सकता उसको पाँचवें गुणस्थानमे आनेकी आवश्यकता नही है अर्थात् उसे अणुव्रत धारण नही करना चाहिए। उसको चतुर्थ गुणस्थानमे होनेवाली क्रियाएँ ही पूर्ण रीतिसे पालन करनी चाहिए ॥१७१॥ जो पुरुष पाँचवें गुणस्थानमे होनेवाली क्रियाओका पालन नही कर सकता, अर्थात् अणुव्रतोको धारण नही कर सकता, अथवा त्रस जीवोकी हिंसाका त्याग नही कर सकता, अथवा जिनमे त्रस जीवोकी हिंसा होती हो ऐसी क्रियाओका त्याग नही कर सकता, तथापि वह यदि व्रतोको धारण करना चाहे और अपनेको व्रती मानना चाहे तो भी वह व्रती नही हो सकता किन्तु मोहनीय कर्मके उदय होनेसे उसको व्रताभासी अथवा व्रताभासोको धारण करनेवाला कहते है ॥१७२॥ ग्रन्थकार कहते हैं कि व्यर्थके कोलाहल करनेसे कोई लाभ नही है। जिन क्रियाओसे आत्माका कल्याण होता हो ऐसी ही क्रियाएँ श्रावकको करनी चाहिए, क्योकि बुद्धिमान् पुरुष जितने आरम्भ या कार्य करते हैं उन सबसे अपने फलकी ही सिद्धि करते हैं ॥१७३॥ "अणुव्रती श्रावकोको जिनमे त्रस जीवोकी हिंसा होती हो ऐसी समस्त क्रियाओका त्याग कर देना चाहिये" यह जो कहा गया है वह उपलक्षण है। अतएव त्रस जीवोकी रक्षा तो करनी ही चाहिये किन्तु पृथ्वीकायिक जलकायिक आदि स्थावरकायिक जीवोको निःशंक होकर उपमर्दन नही करना चाहिये ॥१७४॥ अतएव अहिंसा अणुव्रतको शुद्ध बनाये रखनेके लिये पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक इन पाँचो प्रकारके एकेन्द्रिय स्थावर जीवोकी रक्षा करनेमे भी सबसे अधिक प्रयत्न करना चाहिये ॥१७५॥ जिनमे त्रस जीवोकी हिंसा होती है ऐसी क्रियाओको त्याग करनेवाले श्रावकको खेती आदिके समान महा आरम्भोका त्याग कर देना चाहिये, क्योकि महा आरम्भ करना नरकगतिका कारण है तथा निश्चयसे नरकोंके महा दुःख देनेवाला है ॥१७६॥

उक्तं च—

मिच्छो हु महारंभो निस्सीलो तिव्वलोहसंजुत्तो । णिरयाउगं णिबंधइ पावमयी रुद्दपरिणामो ॥३८
क्रूरं कृष्यादिकं कर्म सर्वतोऽपि न कारयेत् । वाणिज्यार्थं विदेशेषु शकटादि न प्रेषयेत् ॥१७७
क्रयविक्रयवाणिज्ये क्रेतव्यं वस्तु त्रसोज्झितम् । विक्रेतव्यं तथा वस्तु नूनं सावद्यवर्जितम् ॥१७८
वाणिज्यार्थं न कर्तव्योऽतिकाले धान्यसंग्रहः । घृततैलगुडादीनां भाण्डागारं न कारयेत् ॥१७९
लाक्षालोष्ट्रशणक्षारशस्त्रचर्मादिकर्मणाम् । हस्त्यश्ववृषादीनां चतुष्पदानां च यावताम् ॥१८०
द्विपदानां च वाणिज्यं न कुर्याद्व्रतवानिह । महारम्भो भवत्येव पशुपाल्यादिकर्मणि ॥१८१
शुककुक्कुरमार्जारकपिसिंहमृगादयः । न रक्षणीयाः स्वामित्वे महाहिंसाकरा मताः ॥१८२
इत्यादिकाश्च यावन्त्यः क्रियास्त्रसवधात्मिकाः । कर्तव्यास्त्रसानां हि अहिंसाणुव्रतधारिभिः ॥१८३
सर्वं सागारधर्मेषु देशशब्दोऽनुवर्तते । तेनानगारयोग्याया. कर्तव्यास्ता अपि क्रिया ॥१८४

कहा भी है—जो मिथ्यादृष्टि है, महारम्भ करनेवाला है, शीलरहित है, तीव्र लोभके वशीभूत है, पापरूप क्रियाओंको करनेवाला है और रौद्रपरिणामी है वह नरक आयुका बन्ध करता है ॥३८॥

अणुव्रती श्रावकोंको परिणामोंमें क्रूरता उत्पन्न करनेवाले खेती आदिके कार्य पूर्ण रूपसे छोड देना चाहिये तथा व्यापार करनेके लिए (किसी मालको भेजने वा मँगानेके लिए) विदेशोंको गाडी आदि नहीं भेजने चाहिये ॥१७७॥ यदि किन्हीं पदार्थोंके खरीदने या बेचनेका व्यापार करना हो तो ऐसे पदार्थोंको खरीदना चाहिये जिनमें त्रस जीव न हो तथा जिनके खरीदनेमें बहुत सा पापकार्य न हो। इसी प्रकार ऐसे ही पदार्थ बेचने चाहिये जिनमें त्रस जीव न हो और जिनके बेचनेमें अधिक पाप न हो ॥१७८॥ व्यापार करनेके लिये गेहूँ जौ आदि धान्योंका संग्रह बहुत दिन तक नहीं करना चाहिये, इसी प्रकार गुड तेल और घी आदि पदार्थोंका भंडार भी नहीं रखना चाहिये ॥१७९॥ लाख, गूगुल, नील, लोहा, खार, शस्त्र, चमडा आदिका व्यापार नहीं करना चाहिये तथा इसी प्रकार हाथी घोडा बैल आदि पशुओंका व्यापार भी नहीं करना चाहिये ॥१८०॥ अणुव्रती श्रावकोंको दास दासी आदिका व्यापार भी नहीं करना चाहिये तथा पशुओंके पालनेका व्यापार भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि पशुओंके पालन करने आदिमें भी महा आरम्भ होता है ॥१८१॥ तोते, कुत्ते, बिल्ली, बन्दर, सिंह, हिरण आदि पशुओंको भी नहीं पालना चाहिए क्योंकि ये सब पशु या जानवर महा हिंसा करनेवाले हैं। जो श्रावक इन पशुओंको पालकर इनका स्वामी बनता है वह भी इनकी हिंसाके सम्बन्धसे महा हिंसक कहलाता है ॥१८२॥ त्रस जीवोंको हिंसाका त्याग करनेवाले अहिंसाणुव्रती श्रावकोंको ऊपर लिखी क्रियाओंके समान त्रस जीवोंकी हिंसा करने-वाली समस्त क्रियाओंका त्याग कर देना चाहिए ॥१८३॥ अहिंसा अणुव्रतोंके कर्तव्य ऊपर दिखला चुके हैं। इनके सिवाय इतना और समझ लेना चाहिये कि गृहस्थोंके धर्ममें देश शब्द लगा हुआ है अर्थात् गृहस्थोंका धर्म एकदेश धर्म है और मुनियोंका धर्म सर्वदेश या पूर्ण धर्म है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि मुनियोंका जो धर्म है उसीको एकदेशरूपसे पालन करना गृहस्थोंका धर्म है अतएव अणुव्रती श्रावकोंको मुनियोंके करने योग्य क्रियाओंमेंसे जो जो क्रियाएँ गृहस्थ पालन कर सकते हैं, अथवा उन क्रियाओंके जितने अंशोंको पालन कर सकते हैं, उतनी क्रियाओंको अथवा उन क्रियाओंके उतने अंशोंको अवश्य पालन करना चाहिए ॥१८४॥ आगे उन्हीं क्रियाओंको बतलाते

यथा समितयः पञ्च सन्ति तिस्रश्च गुप्तय । अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि तै ॥१८५
उक्तं तत्त्वार्थसूत्रेषु यत्तत्रावसरे यथा । व्रतस्थैर्याय कर्तव्या भावना पञ्च पञ्च च ॥१८६

तत्सूत्रं यथा—

तत्स्थैर्यार्थं भावनाः पञ्च पञ्च ॥३९

तत्रापि हिंसात्यागव्रतरक्षार्थं वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपसमित्यालोकितपानभोजनानि पञ्च ॥४०
न चाऽऽशङ्क्यमिमाः पञ्च भावना मुनिगोचरा । न पुनर्भावनीयास्ता देशतो व्रतधारिभि ॥१८७
यतोऽत्र देशशब्दो हि सामान्यादनुवर्तते । ततोऽणुव्रतसंज्ञेषु व्रतत्वान्नाव्यापको भवेत् ॥१८८
अलं विकल्प-संकल्पै. कर्तव्या भावना इमा । अहिंसाव्रतरक्षार्थं देशतोऽणुव्रतादिवत् ॥१८९
तत्र वाग्गुप्तिरित्युक्ता त्रसबाधाकरं वच । न वक्तव्य प्रमादाद्वा वध-बन्धादिसूचकम् ॥१९०
अवश्यम्भाविकार्येऽपि वक्तव्य सकृदेव तत् । धर्मकार्येषु वक्तव्य यद्वा मौन समाश्रयेत् ॥१९१

हैं। जिस प्रकार पाँचो महाव्रतोका पालन करना मुनियोका कर्तव्य है उसी प्रकार पाँच समिति और तीन गुप्तियोका पालन करना भी मुनियोका कर्तव्य है अतएव अणुव्रती श्रावक जिस प्रकार पाँचों व्रतोको एकदेशरूपसे पालन करता है उसी प्रकार अहिंसाणुव्रतकी रक्षा करनेके लिये श्रावकोंको एकदेशरूपसे समिति और गुप्तियोका पालन अवश्य करना चाहिये ॥१८५॥ अहिंसा अणुव्रतका स्वरूप कहते समय तत्त्वार्थसूत्रमे कहा है कि व्रतोको स्थिर रखनेके लिये प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावना करनी चाहिये ॥१८६॥

तत्त्वार्थसूत्रका वह सूत्र यह है। उन व्रतोको स्थिर रखनेके लिए प्रत्येक व्रतकी पाँच पाँच भावनाएँ हैं। उसमे भी अहिंसाणुव्रतकी रक्षा करनेके लिए ये पाँच भावनाएँ हैं—वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपानभोजन ये पाँच अहिंसाणुव्रतकी भावनाएँ हैं ॥३९–४०॥

आगे सक्षेपसे इन्ही भावनाओका निरूपण करते हैं—कदाचित् यहाँपर कोई यह कहे कि इन भावनाओंका पालन करना मुनियोका ही कर्तव्य है, एकदेशव्रतको धारण करनेवाले अणुव्रती श्रावकोको इन भावनाओके पालन करनेकी कोई आवश्यकता नही है, परन्तु यहाँपर ऐसी शका करना सर्वथा अनुचित है, कभी नही करनी चाहिये क्योकि गृहस्थोंके व्रतोमे एकदेश शब्द सामान्य रीतिसे चला आ रहा है इसोलिए वह एकदेश शब्द अणुव्रतोमे भी व्यापक नही है अर्थात् अव्यापक है क्योकि अणुव्रत भी व्रत है ॥१८७–१८८॥ इस विषयमे अनेक सकल्प-विकल्प उठाने से कोई लाभ नही है। यह निश्चित सिद्धान्त है कि श्रावक जिस प्रकार अहिंसाव्रतकी रक्षा करने के लिए व्रतोंका एकदेश रूपसे वा अणुव्रत रूपसे पालन करता है उसी प्रकार उसको उसी अहिंसा-व्रतकी रक्षा करनेके लिए इन भावनाओका पालन करना चाहिये ॥१८९॥ अब आगे इन पाँचो भावनाओमेसे वचन गुप्तिका स्वरूप कहते हैं। वचनयोगको अपने वशमे रखना वचनगुप्ति है। गृहस्थ उसको पूर्णरूपसे पालन नही कर सकता इसलिए उसे ऐसे वचन नही कहने चाहिये जिससे त्रस जीवोको बाधा पहुँचे, अथवा प्रमादसे ऐसे वचन भी नही कहने चाहिये जो त्रस जीवोंके वध बन्धन आदिको सूचित करनेवाले हो ॥१९०॥ जो कार्य अवश्य करने पड़ेंगे उनके लिए एक बार कहना चाहिये। यह नियम रखना चाहिये कि धर्म कार्योंमे तो सदा कहना वा बोलना चाहिये। धर्म कार्योंके सिवाय बाकीके कार्योंमे मौन धारण करना चाहिये ॥१९१॥ आगे गृहस्थोके लिए

मनोगुप्तिर्यथा नाम त्रसच्छेदं न चिन्तयेत् । समुत्पन्नेऽपि तत्कार्ये जने वा सापराधिनि ॥१९२
संग्रामसविधिकी चिन्तां न कुर्यान्नैष्ठिको व्रती । अव्रती पाक्षिकी कुर्याद्दैवयोगात्कदाचन ॥१९३
नैष्ठिकोऽपि यदा क्रोधान्मोहाद्वा सङ्गरक्रियाम् । कुर्यात्तावति काले स भवेदात्मव्रताच्च्युतः ॥१९४
त्रसहिंसाक्रियायां वा नाऽपि व्यापारयेन्मनः । मोहाद्वापि प्रमादाद्वा स्वामिकार्ये कृतेऽपि वा ॥१९५
वीतरागोक्तधर्मेषु हिंसावद्यं न वर्तते । रूढिधर्मादिकार्येषु न कुर्यात्त्रसहिंसनम् ॥१९६
रूढिधर्मे निषिद्धा चेत्कामार्थयोस्तु का कथा । मज्जन्ति द्विरदा यत्र मशकास्तत्र किं पुनः ॥१९७
हृषीकार्तविदुर्ध्यानं वञ्चनार्थं स नैष्ठिकः । चिन्तयेत्परमात्मानं स्वं शुद्धं चिन्मयं महः ॥१९८
यद्वा पञ्चपरमेष्ठिस्वरूपं चिन्तयेन्मुहुः । यद्वा त्रैलोक्यसंस्थानं जीवांस्तद्वर्तिनोऽथवा ॥१९९
जगत्कायस्वभावो वा चिन्तयेत्तन्मुहुर्मुहुः । द्वादशाख्याप्यनुप्रेक्षा धारयेन्मनसि ध्रुवम् ॥२००
यद्वा दृष्टिचरानत्र जिनबिम्बांश्च चिन्तयेत् । मुनीन् देवालयांश्चापि तत्पूजाविधिमपि ॥२०१

एकदेश मनोगुप्तिका स्वरूप बतलाते है। यदि किसी त्रस जीवके छेदन भेदन करनेका कार्य आ पड़े अथवा कोई अपराधी जीव सामने आ जाय तो भी अणुव्रती श्रावकको त्रस जीवोंके छेदन भेदन करनेके लिए कभी चिन्तवन नही करना चाहिये ॥१९२॥ व्रतोको धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकको युद्ध आदिका चिन्तवन कभी नहीं करना चाहिये। जो अव्रती पाक्षिक श्रावक हैं वे दैवयोगसे कभी कभी युद्धादिकका चिन्तवन करते हैं ॥१९३॥ यदि कोई व्रतोको करनेवाला नैष्ठिक श्रावक तीव्र क्रोधके उदयसे अथवा मोहनीय कर्मके उदयसे युद्ध करनेमे लग जाय तो वह जितने कालतक युद्ध करता है उतने कालतक अपने व्रतोसे रहित हो जाता है ॥१९४॥ इसी प्रकार अणुव्रती श्रावकको मोहसे अथवा प्रमादसे त्रस जीवोकी हिंसा करनेवाली क्रियाओमे अपना मन कभी नहीं लगाना चाहिये। यदि ऐसा कोई कार्य अपना न हो किन्तु अपने स्वामीका हो तो उस अपने स्वामीके ऐसे त्रस जीवोकी हिंसा करनेवाले कार्योंमे भी व्रती श्रावकको अपना मन नहीं लगाना चाहिये ॥१९५॥ यह निश्चित सिद्धान्त है कि वीतराग सर्वज्ञदेव भगवान् अरहन्तदेवके कहे हुए धर्ममे तो हिंसा करनेवाले पाप कार्य हैं ही नहीं तथा जो रूढिसे माने हुए धार्मिक कार्य हैं उनके लिए भी अणुव्रती श्रावकोको कभी भी त्रस जीवोकी हिंसा नही करनी चाहिये ॥१९६॥ अणुव्रती श्रावकोको यह स्वय ही समझ लेना चाहिये कि जब रूढिसे माने गये धार्मिक कार्योंमे ही त्रस जीवोकी हिंसाका निषेध किया गया है तो फिर अर्थ और काम पुरुषार्थके लिए तो कहना ही क्या है क्योकि जहाँपर बडे बडे हाथी डूब जाते हैं वहाँपर मच्छरोकी तो बात ही क्या है ॥१९७॥ इन्द्रियोके विषयोंसे उत्पन्न हुए आर्तध्यान या रौद्रध्यानोसे बचनेके लिए, अथवा किसी भी प्रकारके अशुभ ध्यानसे बचनेके लिए व्रतोको धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकको सदा परमात्माका चिन्तवन करते रहना चाहिये अथवा शुद्ध चैतन्यस्वरूप और देदीप्यमान अपने आत्माका चिन्तवन करना चाहिये ॥१९८॥ अथवा अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व-साधु इन पाँचो परमेष्ठियोके स्वरूपका बार बार चिन्तवन करते रहना चाहिये, अथवा तीनो लोकोंके आकारका तथा तीनो लोकोमे भरे हुए जीवोके स्वरूपका चिन्तवन करते रहना चाहिये ॥१९९॥ अथवा जगत् और कायके स्वभावका चिन्तवन बार बार करते रहना चाहिये। तथा अणुव्रती श्रावकको अपने मनमे बारह अनुप्रेक्षाओका चिन्तवन करते रहना चाहिये ॥२००॥ अथवा जहाँ जहाँ पर भगवान् जिनेन्द्रदेवकी प्रतिमाओके दर्शन किये हो उन सबका चिन्तवन

इत्याद्यालम्बनानि चित्ते भावयेद् भावशुद्धये । न भावयेत्कदाचिद्वै त्रसहिंसां क्रियां प्रति ॥२०२
उक्ता वाग्गुप्तिरत्रैव मनोगुप्तिस्तथैव च । अधुना कायगुप्तेश्च भेदान् गृह्णाति सूत्रवित् ॥२०३
तत्रेर्यादाननिक्षेपभावना कायसंश्रिता । भावनीया सदाचारैराजवंजवविच्छिदे ॥२०४
अत्रेर्यावचनं तावद्धर्मोपकरणं मतम् । तस्याऽऽदानं च निक्षेपः समासात्तत्तथा स्मृतः ॥२०५
अस्यार्थो मुनिसापेक्षः पिच्छिका च कमण्डलुः । त्रसरक्षाव्रतापेक्षः पूजोपकरणानि च ॥२०६
घण्टाचामरदीपाम्भश्छत्रध्वजादिकान् । स्नानार्थं जलादींश्च धौतवस्त्रादिकानपि ॥२०७
देशनावसरे शास्त्रं दानकाले तु भोजनम् । काष्ठपट्टादिकं शुद्धं काले सामायिकेऽपि च ॥२०८
इत्याद्यनेकभेदानि धर्मोपकरणानि च । निष्प्रमादतया तत्र कार्यो यत्नो बुधैर्यथा ॥२०९
दृग्भ्यां सम्यग्निरीक्ष्यादौ यत्नतः प्रतिलेखयेत् । समादाय ततस्तत्र कार्ये व्यापारयत्यपि ॥२१०

करना चाहिये, अथवा जिन जिन मुनियोके दर्शन किये हुए हो उनका चिन्तवन करना चाहिये, जिन जिन जिनालयोके दर्शन किये हो उन जिनालयोका चिन्तवन करना चाहिये तथा भगवान् जिनेन्द्रदेवके अभिषेककी विधि या पूजाकी विधि आदिका चिन्तवन करना चाहिये ॥२०१॥ अपने परिणामोको शुद्ध रखनेके लिए इस प्रकार ऊपर लिखे हुए परिणामोको निर्मल रखनेके जितने साधन हैं उन सबका चिन्तवन करते रहना चाहिये, परन्तु जिनमे त्रस जीवोकी हिंसा होती हो ऐसी क्रियाओका चिन्तवन कभी नही करना चाहिये ॥२०२॥ इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार वचनगुप्ति और मनोगुप्तिका स्वरूप बतलाया, अब आगे जैनसूत्रोके जाननेवाले विद्वान् कायगुप्तिके भेदोको इस प्रकार ग्रहण करते हैं ॥२०३॥ ईर्या आदाननिक्षेपण भावनाए शरीरके आश्रित हैं अतएव ससारके दु खोको नाश करनेके लिए अणुव्रत आदि सदाचरणोको पालन करनेवाले श्रावकोको इन भावनाओका पालन अवश्य करना चाहिये ॥२०४॥ यहाँपर ईर्या शब्दका अर्थ धर्मोपकरण है तथा आदान शब्दका अर्थ ग्रहण करना और निक्षेप शब्दका अर्थ रखना है । उन धर्मोपकरणोंका ग्रहण करना तथा रखना सो सक्षेपसे ईर्यादान निक्षेप भावना कहलाती है ॥२०५॥ इसका भी अर्थ यह है कि मुनियोके धर्मोपकरण पीछी और कमण्डलु हैं तथा त्रस जीवोकी रक्षा करने रूप अणुव्रतोको धारण करनेवाले श्रावकोके धर्मोपकरण पूजाके उपकरण हैं अर्थात् पूजाकी सामग्री, बर्तन, स्थान, पुस्तक आदि पूजा करनेमे जो जो पदार्थ काममे आते हैं वे सब पूजाके उपकरण कहलाते हैं ॥२०६॥ इनके सिवाय घंटा, चमर, दीपक, जल, छत्र, ध्वजा, स्नान करनेका जल और धुले हुए वस्त्र आदि भी सब पूजामे काम आते हैं इसलिए ये सब भी पूजाके उपकरण कहलाते है ॥२०७॥ जो श्रावक धर्मोपदेश देता है उस समय उसका उपकरण शास्त्र है, जिस समय वह दान देता है उस समय बना हुआ तैयार भोजन भी उसका धर्मोपकरण है तथा सामायिकके समय बैठनेका आसन वा काठका पाटा आदि धर्मोपकरण है । अभिप्राय यह है कि धार्मिक क्रियाओमे जो जो पदार्थ काम आते हैं वे सब धर्मोपकरण कहलाते हैं ॥२०८॥ इस प्रकार श्रावकोंके धर्मोपकरणोके अनेक भेद हैं । बुद्धिमानोको इन सब कार्योंमे सब तरहका प्रमाद छोड कर यत्न वा यत्नाचार करना चाहिये । वह यत्नाचार किस प्रकारका करना चाहिये इसी बातको आगे दिखलाते हैं ॥२०९॥ सबसे पहले उन पदार्थोंको नेत्रोसे अच्छी तरह देख लेना चाहिये, फिर यत्नाचारपूर्वक उसको कोमल वस्त्रसे झाड पोछ लेना चाहिये और फिर उसको वहाँसे उठाना चाहिये । इस प्रकार उस धर्मोपकरणको उठाकर फिर उसको जिस कार्यमे लगाना हो उस कार्यमें लगाना चाहिये । उस धर्मोपकरणसे कार्य लेते समय भी किसी जीवका घात न हो जाय, इस

दृष्टिपूतं यथाऽऽदानं निक्षेपोऽपि यथा स्मृतः । दृष्ट्वा स्थानादिकं शुद्धं तत्र तानि विनिक्षिपेत् ॥२११
इतः समितयः पञ्च वक्ष्यन्ते नातिविस्तरात् । अणुव्रतोरक्षतोऽप्यत्र नोक्तास्ताः संयतोचिताः ॥२१२
संयतासंयतस्यास्य प्रोक्तस्य गृहमेधिनः । समितयो या योग्याः स्युर्वक्ष्यन्ते ताः क्रमादपि ॥२१३
ईर्यासमितिरप्यस्ति कर्तव्या गृहमेधिना । अत्रेर्याशब्दो वाच्योऽस्ति मार्गोऽयं गतिगोचरः ॥२१४
दृष्ट्वा दृष्ट्वा शनैः सम्यग्युगदघ्नां धरां पुरः । निष्प्रमादो गृही गच्छेदीर्यासमितिरुच्यते ॥२१५
किञ्च तत्र विवेकोऽस्ति विधेयस्त्रसरक्षके । बहुत्रसाकुले मार्गे न गन्तव्यं कदाचन ॥२१६
तत्र विचार्यः प्रागेव देशकालगतिर्यथा । प्रष्टव्याः साधवो यद्वा तत्तन्मार्गावलोकिनः ॥२१७
निश्चित्य प्रासुकं मार्गं बहुत्रसैरनाश्रितम् । ईर्यासमितिसंशुद्धस्तत्र गच्छेन्न चान्यथा ॥२१८
गच्छंस्तत्रापि दैवाच्चेत्पुरोमार्गस्त्रसाकुलः । तदा व्याघुट्टनं कुर्यात्कुर्याद्वा वीरकर्म तत् ॥२१९
वीरकर्म यथा तत्र पर्यङ्काद्यासनेन वा । कायोत्सर्गेण वा तिष्ठेद्योगिवद्योगमार्गवित् ॥२२०

बातका ध्यान रखना चाहिये ॥२१०॥ जिस प्रकार उस पदार्थको नेत्रोंसे देखकर उठाया था उसी प्रकार नेत्रोंसे देखकर तथा कोमल वस्त्रसे झाड़कर शोधकर उस पदार्थको रखना चाहिये, तथा रखते समय जिस स्थानपर रखना हो उस स्थानको भी नेत्रोंसे देख लेना चाहिये, तथा कोमल वस्त्रसे झाड़कर शुद्ध कर लेना चाहिये। इस प्रकार स्थान और पदार्थ दोनोंको देख-शोधकर तब उस पदार्थको रखना चाहिये, इस प्रकार संक्षेपसे श्रावकोंके पालन करने योग्य कायगुप्तिका स्वरूप कहा ॥२११॥ अब आगे संक्षेपसे पाँचों समितियोंका स्वरूप कहते हैं। यहाँपर केवल अणुव्रती श्रावकोंके पालन करने योग्य समितियोंका स्वरूप कहते हैं। ग्रन्थ बढ़ जानेके डरसे मुनियोंके पालन करने योग्य समितियोंका स्वरूप इस ग्रन्थमें नहीं कहा है ॥२१२॥ ऊपर जिस अणुव्रती श्रावककी क्रियाओंका वर्णन करते चले आ रहे हैं ऐसे संयतासंयत गृहस्थके पालन करने योग्य जो समितियाँ हैं उन्हींको यहाँपर क्रमसे कहते हैं ॥२१३॥ पाँचों समितियोंमें पहली ईर्यासमिति है वह भी अणुव्रती श्रावकको पालन करनी चाहिये। यहाँपर ईर्या शब्दका अर्थ मार्गमें गमन करना है ॥२१४॥ गृहस्थोंको आगेकी चार हाथ जमीन देखकर तथा प्रमादको छोड़कर धीरे-धीरे अच्छी तरह बार-बार देखते हुए गमन करना चाहिये, इसीको ईर्यासमिति कहते हैं ॥२१५॥ इसमें भी त्रस जीवोंकी रक्षा करनेवाले श्रावकोंको बहुत-सा विचार करना चाहिये और वह विचार यह है कि श्रावकोंको ऐसे मार्गमें कभी भी गमन नहीं करना चाहिये जिसमें बहुत-से त्रसजीव भरे हों ॥२१६॥ देश और कालकी गतिके अनुसार उसका विचार पहलेसे ही कर लेना चाहिये अथवा उस मार्गको देखनेवाले सज्जन लोगोंसे पूछ लेना चाहिये ॥२१७॥ गमन करनेके पहले यह निश्चय कर लेना चाहिये कि जिस मार्गसे जाना है वह प्रासुक है या नहीं, अथवा वह अनेक त्रस जीवोंसे रहित है या नहीं जब वह मार्ग प्रासुक वा जीव जन्तुओंसे रहित हो तथा उसमें त्रस जीवोंका आश्रय न हो तब ईर्यासमितिसे उस मार्गको शोधते हुए गमन करना चाहिए। यदि ऐसा मार्ग न हो तो उस मार्गसे कभी गमन नहीं करना चाहिये ॥२१८॥ जिस मार्गका प्रासुक होने तथा त्रस जीवोंसे रहित होनेका निश्चय हो चुका है उस मार्गमें गमन करते हुए यदि दैवयोगसे आगेका मार्ग त्रस जीवोंसे भरा हुआ हो तो वहाँसे लौट आना चाहिये, अथवा वहींपर बैठकर वीरकर्म करना चाहिये ॥२१९॥ आगे वीरकर्मका स्वरूप कहते हैं—योगकी विधिको जाननेवाला जो श्रावक योगियोंके समान पर्यंकासनसे अथवा कायोत्सर्गसे एक स्थानपर विराजमान होता है उसको

यावत्तस्योपसर्गस्य निवृत्तिर्वा वपुः क्षतिः । यद्वावधि यथाकालं नीत्वाऽतीतस्ततो गतिः ॥२२१
सर्वारम्भेण तात्पर्यं प्रत्यक्षात्त्रससङ्कुले । मार्गे पादौ न क्षेप्तव्यौ व्रतिना मरणावधि ॥२२२
किञ्च रजन्यां गमनं न कर्तव्यं दीर्घेऽध्वनि । दृष्टिचरे शुद्धे स्वल्पे न निषिद्धा मार्गे गतिः ॥२२३
अश्वाद्यारोहणं मार्गे न कार्यं व्रतधारिणा । ईर्यासमितिसंशुद्धिः कुतः स्यात्तत्र कर्मणि ॥२२४
इतीर्यासमितिः प्रोक्ता सक्षेपाद् व्रतधारिणः । यद्वोपासकाध्ययनात् ज्ञातव्यातीतविस्तरात् ॥२२५
अप्यस्ति भाषासमितिः कर्तव्या सद्मवासिभिः । अवश्यं देशमात्रत्वात्सर्वथा मुनिकुञ्जरे ॥२२६
वचो धर्माश्रितं वाच्यं वरं मौनमथाऽऽश्रयेत् । हिंसाश्रितं न तद्वाच्यं भाषासमितिरिष्यते ॥२२७
इति सक्षेपतस्तस्या लक्षणं चात्र सूचितम् । मृषात्यागव्रताख्याने वक्ष्यामीषत्सविस्तरात् ॥२२८
एषणासमितिः कार्या श्रावकैर्धर्मवेदिभिः । यथा सागारधर्मस्य स्थितिर्मुनिव्रतस्य च ॥२२९
यतो व्रतसमूहस्य शरीरं मूलसाधनम् । आहारस्तस्य मूलं स्यादेषणासमितावसौ ॥२३०

वीरकर्म कहते हैं। इस वीरकर्ममे उस श्रावकको जबतक वह उपसर्ग दूर न हो जाय, अथवा जबतक अपना शरीर नाश न हो जाय तबतक वहीपर विराजमान रहना पडता है, अथवा जबतक उसकी मर्यादाका समय पूरा हो जाय अथवा इधर-उधरसे जानेका मार्ग हो जाय, तबतक उसको वही रहना पडता है ॥२२०–२२१॥ इस समस्त कथन कहनेका अभिप्राय यह है कि जो मार्ग प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले त्रस जीवोसे भरा हो उस मार्गमे अणुव्रती श्रावकको मरनेका समय आनेपर भी अपने पैर नही रखने चाहिये ॥२२२॥ इसी प्रकार अणुव्रती श्रावकको किसी लम्बे मार्गमे रातको नही चलना चाहिये परन्तु जो माग नेत्रोसे देखा हुआ है, शुद्ध है और छोटा है उस मार्गमे रातमे चलनेका निषेध नही है ॥२२३॥ अणुव्रती श्रावकको घोडे गाडी आदिकी सवारीपर चढ़कर भी मार्गमे नही चलना चाहिये, क्योकि घोडे आदिको सवारीपर चढ़कर चलनेमे उसके ईर्यासमितिकी शुद्धि किस प्रकार हो सकती है ॥२२४॥ इस प्रकार अणुव्रती श्रावकोके पालन करने योग्य ईर्यासमितिका स्वरूप अत्यन्त सक्षेपसे बतलाया। इसका विशेष स्वरूप या विस्तारपूर्वक स्वरूप उपासकाध्ययनोसे या श्रावकाचारोसे जान लेना चाहिये ॥२२५॥ दूसरी समितिका नाम भाषासमिति है। उस भाषासमितिका एकदेश पालन गृहस्थोको अवश्य करना चाहिये, क्योकि इसका पूर्ण पालन मुनिराज ही करते हैं ॥२२६॥ अणुव्रती श्रावकोको धर्मरूप ही वचन कहने चाहिये। यदि धर्मरूप वचन कहते न बने तो फिर मौन धारण करना चाहिए। जिन वचनोसे हिंसा होना सम्भव हो, अथवा जो वचन हिंसात्मक हो ऐसे वचन श्रावकोको कभी नही कहने चाहिये। हिंसात्मक वचन कहनेका त्याग करना और धर्मरूप वचन कहना ही श्रावकोके लिये भाषासमिति कही जाती है ॥२२७॥ इस प्रकार यहाँपर सक्षेपसे भाषासमितिका स्वरूप कहा है। इसका थोडा-सा विशेष स्वरूप अथवा थोडे-से विस्तारके साथ इसका स्वरूप आगे सत्याणुव्रतका स्वरूप करते समय कहेगे ॥२२८॥

तीसरी समितिका नाम एषणासमिति है। धर्मके स्वरूपको जाननेवाले श्रावकोको इस एषणासमितिका पालन भी अवश्य करना चाहिये क्योकि गृहस्थ धर्मकी स्थिति और मुनियोके व्रतोकी स्थिति इस एषणा समितिपर ही निर्भर है ॥२२९॥ गृहस्थोको एषणासमितिका पालन करना अत्यावश्यक है, क्योकि व्रतोंके समूहको पालन करनेका मूल साधन शरीर है। यदि शरीर न हो तो कोई किसी प्रकारका तप वा व्रत पालन नही हो सकता तथा शरीरका मूल साधन आहार

एषणासमितिर्नाम्ना संक्षेपाल्लक्षणादपि । आहारशुद्धिराख्याता सर्वव्रतविशुद्धये ॥२३१
उक्तमांसाद्यतीचारैर्वर्जितो योऽशनादिकः । स एव शुद्धो नान्यस्तु मांसातीचारसंयुतः ॥२३२
सोऽपि शुद्धो यथाभक्तं यथाकालं यथाविधि । अन्यथा सर्वशुद्धोऽपि स्यादशुद्धश्चैनसकृत् ॥२३३
काले पूर्वाह्णके यावत्परतो पराह्णकेऽपि च । यामस्यार्द्धे न भोक्तव्यं निशायां चापि दुर्दिने ॥२३४
याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लङ्घयेत् । आहारस्यास्त्ययं कालो नौषधादेर्जलस्य वा ॥२३५
संग्रामादिदिने हिंस्रे चन्द्रसूर्याद्युपग्रहे । अन्यत्राप्यपयोगेषु भोजनं नैव कारयेत् ॥२३६
उच्यते विधिरत्रापि भोजयेन्नाशुचिगृहे । तमश्छन्नेऽथ त्रसादिबहुजन्तुसमाश्रिते ॥२३७
जैमनीयादिजीवानां हिंस्राणां दृष्टिगोचरे । अश्वादिपशुसंकीर्णे स्थाने भोज्यं न जातुचित् ॥२३८

है क्योंकि विना आहारके यह शरीर टिक नहीं सकता और उस आहारका प्राप्त होना एषणा समितिके पालनसे ही होता है ॥२३०॥ समस्त व्रतोको शुद्ध पालन करनेके लिए आहारकी शुद्धि रखना ही एषणासमिति है तथा संक्षेपसे यही एषणासमितिका लक्षण है ॥२३१॥ पहले जो मांस मद्य मधु उदम्बर आदिके अतिचार बतलाए हैं उनसे रहित भोजन करना शुद्ध आहार कहलाता है। जिस भोजनमे मांसादिकके अतिचार लगें वह भोजन कभी शुद्ध नही कहला सकता ॥२३२॥ अणुव्रती श्रावकोको वह शुद्ध और यथायोग्य भोजन भी समयके अनुसार और विधिके अनुसार ग्रहण करना चाहिए। यदि वह भोजन समय और तिथिके अनुसार ग्रहण न किया गया हो तो सब प्रकारसे शुद्ध होनेपर भी वह अशुद्ध और पाप उत्पन्न करनेवाला कहलाता है ॥२३३॥ भोजनका समय दोपहरसे पहले पहले है अथवा दोपहरके बाद दिन ढलेका समय भी भोजनका समय है, अणुव्रती श्रावकोको सूर्य निकलनेके बाद आधे पहरतक भोजन नहीं करना चाहिये, इसी प्रकार सूर्य अस्त होनेके आधे पहर पहले भोजन कर लेना चाहिये। इसी प्रकार अणुव्रती श्रावकको रातमे सर्वथा भोजन नही करना चाहिये तथा जिस दिन पानी बरस रहा हो, काली घटा छायी हो और उस घटाके कारण अन्धेरा-सा हो गया हो उस समय भी भोजन नही करना चाहिये ॥२३४॥ अणुव्रती श्रावकोको प्राय पहले पहरमे भोजन नही करना चाहिये। (क्योकि वह समय मुनियोके भोजनका समय नही है। मुनिलोग प्राय दूसरे पहरमे भोजनके लिए निकलते हैं तथा मुनियोको आहार देकर या उस समयतक पात्रकी प्रतीक्षा कर भोजन करना श्रावकका कर्तव्य है अतएव श्रावकोको पहले पहरमे भोजन नही करना चाहिये।) इसी प्रकार अणुव्रती श्रावकोको दोपहरका समय उल्लंघन भी नही करना चाहिये। यह भोजनका समय बतलाया है, औषधि और जलका समय नही बतलाया। अत वह उन्हे ले सकता है ॥२३५॥ जिस दिन कोई भारी युद्ध हो रहा हो, अथवा जिस दिन अनेक जीवोकी हिंसा हो रही हो, जिस दिन सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण पड रहा हो तथा इनके सिवाय और भी अशुभयोग जिस दिन हो उस दिन अणुव्रती श्रावकको उचित है कि वह भोजन न करे ॥२३६॥ आगे भोजनकी विधि बतलाते हैं। अपवित्र घरमे कभी भोजन नहीं करना चाहिए। जिस घरमे अन्धेरा हो वहांपर कभी भोजन नहीं करना चाहिए तथा जिस घरमे या जिस स्थानमें त्रस और स्थावर आदि अनेक प्रकारके बहुतसे जीवोंका समुदाय हो, जहाँपर बहुतसे त्रस या स्थावर जीव भरे हों वहाँपर कभी भोजन नहीं करना चाहिये ॥२३७॥ जहाँपर घोड़े, गाय, बैल आदि पशु बाँधे जाते हो ऐसे संकीर्ण या छोटे स्थानमें भी कभी भोजन नही करना चाहिये, इसी प्रकार जहाँपर यज्ञ आदिमें मारे

अन्तरायाश्च सन्त्यत्र श्रावकाचारगोचराः । अवश्यं पालनीयास्ते त्रसहिंसानिवृत्तये ॥२३९
दर्शनात्स्पर्शनाच्चैव मनसि स्मरणादपि । श्रवणाद् गन्धनाच्चापि रसनादन्तरायकाः ॥२४०
दर्शनात्सपूया सार्द्रं मांसमद्यं वसाऽजिनम् । अस्थ्यादि भोजनस्यादौ सद्यो दृष्ट्वा न भोजयेत् ॥२४१
शुष्कचर्मास्थिरोमादिस्पर्शनान्नैव भोजयेत् । मूषकादिपशुस्पर्शात्त्यजेदाहारमञ्जसा ॥२४२
गन्धनान्मद्यगन्धस्य पूतिगन्धस्य तत्समे । आगते घ्राणमार्गे च नान्नं भुञ्जीत दोषवित् ॥२४३

प्राक् परिसंख्यया त्यक्तं वस्तुजातं रसादिकम् ।
भ्रान्त्या विस्मृतमादाय त्यजेद् भोज्यमसंशयम् ॥२४४

आमगोरससंपृक्तं द्विदलान्नं परित्यजेत् । लालायाः स्पर्शमात्रेण त्वरितं बहुमूर्च्छनात् ॥२४५
भोज्यमध्यावशेषांश्च दृष्ट्वा त्रसकलेवरान् । यद्वा समूलतो रोम दृष्ट्वा सद्यो न भोजयेत् ॥२४६
चर्मतोयादिसम्मिश्रात्सदोषमशनादिकम् । परिज्ञायेङ्गिते सूक्ष्मे कुर्यादाहारवर्जनम् ॥२४७

आनेवाले जीव दृष्टिगोचर हो रहे हो वहाँपर भी भोजन नही करना चाहिये ॥२३८॥ अणुव्रती श्रावकोंके लिए श्रावकाचारोंमे भोजनके अन्तराय बतलाये हैं। श्रावकोको त्रस जीवोकी हिंसाका त्याग करनेके लिए उन अन्तरायोको भी सदा बचाते रहना चाहिये ॥२३९॥ श्रावकोंके लिए भोजनके अन्तराय कई प्रकारके होते हैं। कितने ही अन्तराय देखनेसे होते हैं, कितने ही छूनेसे वा स्पर्श कर लेनेसे होते हैं, कितने ही मनमे स्मरण कर लेने मात्रसे होते हैं, कितने ही सुननेसे होते हैं, कितने ही सूँघनेसे होते हैं और कितने ही अन्तराय चखने वा स्वाद लेनेसे अथवा खाने मात्रसे होते हैं ॥२४०॥ सबसे पहले देखनेके अन्तराय दिखलाते हैं। गीला मास, मद्य, चर्बी, गीला चमड़ा, गीली हड्डी, रुधिर, पीव आदि पदार्थ यदि भोजन करनेसे पहले दिखाई पड जाय तो उसी समय भोजन नही करना चाहिये। यदि भोजन करते समय ये पदार्थ दिखाई पड जायें तो उसी समय भोजन नहीं करना चाहिए। यदि भोजन करते समय ये पदार्थ दिखाई पड जायें तो भोजन छोड देना चाहिये। मुख शुद्धि कर उठ आना चाहिये। ये देखनेके अन्तराय हैं ॥२४१॥ सूखी हड्डी, सूखा चमड़ा, बाल आदिका स्पर्श हो जानेपर भोजन नही करना चाहिये। इसी प्रकार चूहा, कुत्ता, बिल्ली आदि घातक पशुओका स्पर्श हो जानेपर शीघ्र ही भोजनका त्याग कर देना चाहिये। ये स्पर्श करनेके अन्तराय हैं ॥२४२॥ भोजनके अन्तराय और दोषोको जानने-वाले श्रावकोको मद्यकी दुर्गन्ध आनेपर वा मद्यकी दुर्गन्धके समान दुर्गन्ध आनेपर अथवा और भी अनेक प्रकारकी दुर्गन्धोंके आनेपर भोजनका त्याग कर देना चाहिये। ये सूँघनेके अन्तराय हैं ॥२४३॥ भोगोपभोग पदार्थोंका परिमाण करते समय जिन पदार्थोंका त्याग कर दिया है अथवा जिन रसो का त्याग कर दिया है उनको भूल जानेके कारण अथवा किसी अन्य पदार्थका भ्रम हो जानेके कारण ग्रहण कर ले तथा फिर उसी समय स्मरण आ जाय, अथवा किसी भी तरह मालूम हो जाय तो बिना किसी सन्देहके उस समय भोजन छोड देना चाहिये ॥२४४॥ कच्चे दूध दही आदि गोरसमे मिले हुए चना, उड़द, मूँग, रमास आदि जिनके बराबर दो भाग हो जाते हैं (जिनकी दाल बन जाती है) ऐसे अन्नका त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि कच्चे गोरसमे मिले हुए चना, उड़द, मूग आदि अन्नोंके खानेसे मुँहकी लारका स्पर्श होते ही उसमे उसी समय अनेक सम्मूर्च्छन जीव उत्पन्न हो जाते हैं ॥२४५॥ यदि बने हुए भोजनमे किसी भी प्रकारके त्रस जीवोका कलेवर दिखाई पडे तो उसे देखते ही भोजन छोड देना चाहिये, इसी प्रकार यदि भोजनमे जड सहित बाल दिखाई दे तो भी भोजन छोड़ देना चाहिये ॥२४६॥ "यह भोजन चमडेके पानीसे बना है

अथवा हिंसकं शब्दं मारयामीति शब्दवत् । दग्धो मृतः स इत्यादि श्रुत्वा भोज्यं परित्यजेत् ॥२४८
शोकाश्रितं वचः श्रुत्वा मोहाद्वा परिदेवनम् । दीनं भयानकं श्रुत्वा भोजनं त्वरितं त्यजेत् ॥२४९
उपमानोपमेयाभ्यां तदिदं पिशितादिवत् । मनःस्मरणमात्रत्वात्कृत्स्नमन्नादिकं त्यजेत् ॥२५०
सूतकं पातकं चापि यथोक्तं जैनशासने । एषणाशुद्धिसिद्ध्यर्थं वर्जयेच्छ्रावकाग्रणीः ॥२५१
एषणासमितिः ख्याता संक्षेपात्सारसंग्रहात् । तत्रान्तराद्विशेषोऽर्थस्त्यास्ति सुविस्तरात् ॥२५२
अस्ति चादाननिक्षेपस्वरूपा समितिः स्फुटम् । वस्त्राभरणपात्रादिनिक्षिप्तोपक्षिगोचरा २५३
यावन्त्युपकरणानि गृहकर्मोचितानि च । तेषामादाननिक्षेपौ कर्तव्यौ प्रतिलेख्य च ॥२५४
प्रतिष्ठापननाम्नी च विख्याता समितिर्यथा । स्रवद्युर्दशद्वारा मलमूत्रादिगोचरा ॥२५५
निश्छिद्रं प्रासुकं स्थानं सर्वदोषविवर्जितम् । दृष्ट्वा प्रमार्ज्य सागारो वर्चोमूत्रादि निक्षिपेत् ॥२५६

या इसमें चमडेके बर्तनमे रक्खे हुए घी, दूध, तेल, पानी आदि पदार्थ मिले हुए हैं और इसीलिए वह भोजन अशुद्ध या सदोष हो गया है" ऐसा किसी भी सूक्ष्म इशारेसे या किसी भी सूक्ष्म चेष्टा से मालूम हो जाय तो उसी समय आहार छोड देना चाहिये । ये सब चखनेके अन्तराय हैं ॥२४७॥ मैं इसको मारता हूँ इस प्रकारके हिंसक शब्दोको सुनकर अथवा वह जल गया, मर गया इस प्रकारके हिंसक शब्दोको सुनकर भोजनका परित्याग कर देना चाहिये । ये सुननेके अन्तराय हैं ॥२४८॥ अथवा शोकसे उत्पन्न होनेवाले वचनोको सुनकर या किसीके मोहसे अत्यन्त रोनेके शब्द सुनकर अथवा अत्यन्त दीनताके वचन सुनकर या अत्यन्त भयंकर शब्द सुनकर शीघ्र ही भोजन छोड देना चाहिये । ये सुननेके अन्तराय हैं ॥२४९॥

"यह भोजन मासके समान है या रुधिरके समान है अथवा विष्ठाके समान है" इस प्रकार किसी भी उपमेय या उपमानके द्वारा मनमे स्मरण हो आवे तो भी उसी समय समस्त जलपानादिका त्याग कर देना चाहिए । ("यह भोजन मासके समान है" इस प्रकारका स्मरण हो आना उपमेयके द्वारा होनेवाला स्मरण कहलाता है तथा "मांस भी ऐसा ही होता है" इस प्रकारका स्मरण होना उपमानके द्वारा होनेवाला स्मरण कहलाता है) ॥२५०॥ अणुव्रतोंको पालन करनेवाले श्रावकोको अपने भोजनोकी शुद्धि बनाए रखनेके लिए अथवा एषणासमितिको शुद्ध रीतिसे पालन करनेके लिए जैनशास्त्रोमे बतलाए हुए सूतक पातकोका भी त्याग कर देना चाहिये ॥२५१॥ इस प्रकार अत्यन्त संक्षेपसे तथा सबका थोडा थोडा सार कहकर एषणासमितिका स्वरूप बतलाया । विशेष विद्वानोको यदि विस्तारके साथ इसका स्वरूप जानना हो तो अन्य शास्त्रोंसे जान लेना चाहिये ॥२५२॥ चौथी समितिका नाम आदाननिक्षेपण समिति है । अणुव्रती श्रावकोंको इसका भी पालन करना चाहिए । वस्त्र, आभरण, बर्तन आदि घरके जितने पदार्थ हैं या जितने पदार्थ घरके काममे आते हैं उन सबको देख-शोध कर उठाना या रखना चाहिये जिससे किसी जीवका घात न हो जाय, इसीको आदाननिक्षेपण समिति कहते हैं ॥२५३–२५४॥ पाँचवीं समितिका नाम प्रतिष्ठान समिति या उत्सर्ग समिति है । वह भी अणुव्रती श्रावकोको पालन करनी चाहिए । इस शरीरके दश द्वार हैं—दो नेत्र, दो कान, दो नाक, एक मुँह, एक गुदा, एक गुह्येन्द्रिय और एक ब्रह्मांड द्वार इस प्रकार दश द्वार हैं । इन दश द्वारोंसे मल मूत्र कफ मैल आदि पदार्थ सदा बहते रहते हैं । उन सब मलोंको तथा विशेषकर मल मूत्रको ऐसे स्थानपर छोडना चाहिये जो छिद्र रहित हो, प्रासुक या निर्जीव हो और समस्त दोषोंसे रहित हो ऐसे स्थानको देख कर और शोध कर अणुव्रती श्रावकोंको मल आदि छोडना चाहिये जिससे किसी जीवका घात न हो ॥२५५–२५६॥

अस्ति चालोकितपानभोजनाख्याथ पञ्च ता. । भावना भावनीया स्यादहिंसाव्रतहेतवे ॥२५७
शुद्धं शोधितं चापि सिद्धं भक्तादिभोजनम् । सावधानतया भूयो दृष्टिपूतं च भोजयेत् ॥२५८
न चात्मध्यवसायेन दोषेणाप्यवधानत । मया दृष्टचरं चैतन्मत्वा भोज्यं न भोजयेत् ॥२५९
तत्र यद्यपि भक्त्यादि शुद्धमस्तीति निश्चितम् । तथापि दोष एव स्यात्प्रमादाद्विकृतो महान् ॥२६०
सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्च सूत्रेऽपि लक्षिता । त्रसहिंसापरित्यागलक्षणेऽणुव्रताह्वये ॥२६१

तत्सूत्रं यथा—

बन्धवधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ॥४१

अत्रोक्तं वधशब्देन ताडनं यष्टिकादिभि । प्रागेव प्रतिषिद्धत्वात्प्राणिहत्या न श्रेयसी ॥२६२
पशूनां गोमहिष्यादिच्छागवारणवाजिनाम् । तन्मात्रातिरिक्तां बाधां न कुर्याद्वा कशादिभि ॥२६३
बन्धो मात्राधिको गाढ दुःखद शृङ्खलकादिभि । आततायया (?) प्रमादाद्वा न कुर्याच्छ्रावकोत्तम ॥२६४

इस प्रकार चार भावनाओका स्वरूप कहा। पाँचवी भावनाका नाम आलोकितपानभोजन है। आलोकितपानभोजन दिनमे सूर्यके प्रकाशमे देख-शोध कर भोजन करनेको कहते हैं। इसका पालन भी गृहस्थोको अवश्य करना चाहिये। इस प्रकार पाँचो भावनाओका स्वरूप कहा। अणुव्रती श्रावकोंको अहिंसाव्रत पालन करनेके लिए इन पाँचों भावनाओको अच्छी तरह पालन करना चाहिए तथा अच्छी तरह चिंतवन करना चाहिये ॥२५७॥ जो दाल भात आदि भोजन तैयार किया हुआ है वह चाहे शुद्ध हो और खूब अच्छी तरह शोध लिया हो तथापि उसे फिर भी अच्छी तरह देख कर बड़ी सावधानीके साथ भोजन करना चाहिये ॥२५८॥ अपने अज्ञानसे या किसी अन्य दोषसे अथवा असावधानीसे ऐसा कभी नही मानना चाहिये कि यह भोजन मेरा देखा हुआ है अथवा मेरा शुद्ध किया है तथा ऐसा मान कर बिना देखे शोधे कभी भोजन नही करना चाहिये ॥२५९॥ यद्यपि उस भोजनमे यह निश्चित है कि यह भोजन शुद्ध है, इसमे किसी प्रकारका संदेह नहीं है तथापि यदि बिना देखे-शोधे भोजन किया जायगा तो प्रमाद या अज्ञानसे उत्पन्न हुआ महा दोष लगेगा ॥२६०॥ तत्त्वार्थसूत्रमे त्रस जीवोकी हिंसाका त्याग करने रूप अहिंसा अणुव्रतके पाँच अतिचार बतलाये हैं ॥२६१॥

मारना, बाँधना, छेदना, अधिक बोझा लादना तथा अन्नपानका रोक देना ये पाँच अहिंसा अणुव्रतके अतिचार हैं ॥४१॥

आगे इन्हींका स्वरूप यथाक्रमसे दिखलाते हैं। यहाँपर वध शब्दसे या मारना शब्दसे लकड़ी आदिसे मारना लेना चाहिये। प्राणोका नाश करना नही लेना चाहिये क्योकि प्राणोकी हत्या करना तो पहले ही छोड़ा जा चुका है, उसका त्याग पहले ही किया जा चुका है, प्राणोकी हत्या करना कभी कल्याण करनेवाली नही है इसलिये उसका तो सर्वथा त्याग करना बतलाया है और सबसे पहले उसका त्याग बतलाया है। प्राणोकी हत्याका त्याग करके किसी भी पुरुष या पशुको लकड़ी बेत थप्पड़ घूँसा आदिसे मारना अतिचार कहलाता है ॥२६२॥ गाय भैंस बकरी हाथी घोड़ा आदि पशुओको कोड़ा, पैना, लकड़ी आदिसे उनकी शक्तिसे अधिक बाधा नही पहुँचाना चाहिये ॥२६३॥ अणुव्रत धारण करनेवाले उत्तम श्रावकोको अपने क्रूर परिणामोंसे अथवा प्रमादसे गाय भैंस आदि पशुओको साँकल रस्सी आदिसे इस प्रकार कसकर नही बाँधना चाहिये जिससे उनको दु ख पहुँचे अथवा जिस बन्धनको वह सहन न कर सके। उसको दुखदायी

छेदो नासादिविद्धार्थं काष्ठसूच्यादिभिः कृत । तावन्मात्रातिरिक्तं तन्न विधेयं प्रतिमान्वितैः ॥२६५
सापराधे मनुष्यादौ कर्णनासादि छेदनम् । न कुर्याद् भूपकल्पोऽपि व्रतवानपि कश्चन ॥२६६
भार काष्ठादिलोष्ठान्नघृततैलजलादिकम् । नेतुं देशान्तरे क्षिप्त मनुजाश्वगिकादिषु ॥२६७
यावत्तस्यास्ति सामर्थ्यं तावत्तत्रैव निक्षिपेत् । नातिरिक्तं तत क्वापि निक्षिपेद् व्रतधारकः ॥२६८
दासी-दासादिभृत्यानां बन्धु-मित्रादिप्राणिनाम् । सामर्थ्यातिक्रम क्वापि कर्तव्यो न विचक्षणै. ॥२६९
अन्नपाननिरोधाख्यो व्रतदोषोऽस्ति पञ्चम । तिरश्चां वा नराणां वा गोचर स स्मृतो यथा ॥२७०
नराणां गोमहिष्यादितिरश्चां वा प्रमादत । तृणाद्यन्नादिपानानां निरोधो व्रतदोषकृत् ॥२७१
बहुप्रलपितेनालं ज्ञेयं तात्पर्यमात्रत । सा क्रिया नैव कर्तव्या यया त्रसवधो भवेत् ॥२७२
इत्युक्तमात्रविन्मात्रं सागारार्हमणुव्रतम् । त्रसहिंसापरित्यागलक्षण विश्वसाक्षिभि ॥२७३

इति श्रावकाचारापरनामलाटीसहिताया त्रसहिंमापरित्यागप्रथमाणुव्रतवर्णनो नाम चतुर्थ सर्ग ॥४॥

कस कर बाँधना अतिचार है ॥२६४॥ प्रतिमा रूप अहिंसा अणुव्रतको पालन करनेवाले श्रावकोंको नाक छेदनेके लिए सुई सूजा या लकडी आदिसे जो छेद करना पडता है वह भी उतना ही करना चाहिए जितनेसे काम चल जाय, उससे अधिक छेद नहीं करना चाहिये। दुःख देनेवाला अधिक छेद करना अतिचार है ॥२६५॥ यदि कोई राजाके समान व्रती मनुष्य हो तथा उसे अपराधी मनुष्योंको दण्ड देनेका पूर्ण अधिकार हो तो भी उसे अपराधी मनुष्योंके भी नाक कान आदि नहीं काटने चाहिए ॥२६६॥ इसी प्रकार किसी मनुष्य या पशुपर उसकी सामर्थ्यसे अधिक बोझा लादना भी अतिचार है। यदि किसी व्रती श्रावकको काठ, पत्थर, लोहा, अन्न, घी, तेल, जल आदि पदार्थ एक स्थानसे दूसरे स्थानमे ले जाना हो अथवा किसी मनुष्य या स्त्रीको डोलीमें बिठाकर दूसरे किसी स्थानमे ले जाना हो तो जिस मनुष्य या पशुकी जितनी सामर्थ्य है उसपर उतना ही बोझ रखना चाहिये, अणुव्रती श्रावकोंको उनकी शक्तिसे अधिक बोझा कभी नहीं रखना चाहिये। अधिक बोझा लादना अहिंसाणुव्रतका चौथा अतिचार है ॥२६७-२६८॥ चतुर श्रावकोंको उचित है कि वे दास दासी आदि नौकर चाकरोसे अथवा भाई मित्र आदि कुटुम्बीजनोसे काम लेवें तो उनकी शक्तिसे अधिक काम नहीं लेना चाहिये। उनकी शक्तिका अतिक्रम कभी नहीं करना चाहिये। शक्तिसे अधिक काम लेना या शक्तिसे अधिक बोझा लादना या शक्तिसे अधिक चलाना आदि सब अहिंसाणुव्रतका अतिचार है ॥२६९॥ इस अहिंसाणुव्रतका पाँचवाँ अतिचार अन्न-पान निरोध है वह भी मनुष्य और पशु दोनोंके लिए होता है। भावार्थ—दासी दास भाई बन्धु पुत्र स्त्री आदि अपने आश्रित मनुष्योंको या पशुओंको समयपर भोजन न देना अथवा उनको भूखे प्यासे रखना या कम भोजन देना आदि अहिंसाणुव्रतका पाँचवाँ अतिचार है ॥२७०॥ प्रमादसे दासी दासादिक मनुष्योंको या गाय भैंस आदि पशुओंको भोजन या घास जल आदि खानेपीनेकी सामग्रीको उनको देनेसे रोक देना, न देने देना अहिंसाणुव्रतका अतिचार है ॥२७१॥ बहुत कहनेसे क्या, सबका अभिप्राय यह समझ लेना चाहिये कि अणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोको ऐसी कोई भी क्रिया नहीं करनी चाहिये जिसमे त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो ॥२७२॥ इस प्रकार ऊपर जो कुछ कहा गया है, जो जो त्याग बतलाया है, जिन जिन क्रियाओंका निषेध किया है, जिन जिन व्यापारोंका निषेध किया है वह सब गृहस्थोंके द्वारा पालन करने योग्य त्रस जीवोंकी हिंसाका त्याग करने रूप अहिंसाणुव्रत है ऐसा भगवान् सर्वज्ञदेवने कहा है ॥२७३॥

इस प्रकार लाटीसंहितामें त्रसहिंसाके त्याग करने रूप अहिंसाणुव्रत नामके प्रथम अणुव्रतको वर्णन करनेवाला यह चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥४॥

पंचम सर्ग

अथ मृषापरित्यागलक्षणं व्रतमुच्यते । सर्वतस्तन्मुनीनां स्याद्देशतो वेश्मवासिनाम् ॥१
ग्राह्या तत्रानुवृत्तिः सा प्राग्वदत्रापि धीधनैः । प्रोक्तमसदभिधानमनृतं सूत्रकारकैः ॥२
असदिति हिंसाकरमभिधानं स्याद्भाषणम् । शब्दानामनेकार्थत्वाद्गतिश्चार्थानुसारिणी ॥३
नात्रासदिति शब्देन मृषामात्रं समस्यते । साकारमन्त्रभेदादौ सूनृतस्यानुषङ्गतः ॥४
देशतो विरतिस्तत्र सूत्रमित्यनुवर्तते । त्रसबाधाकरं तस्माद्वचो वाच्यं न धीमता ॥५
सत्यमप्यसत्यतां याति क्वचिद्धिंसानुबन्धतः । सर्वतस्तन्न वक्तव्यं यथा चौरादिदर्शनम् ॥६
असत्यं सत्यतां याति क्वचिज्जीवस्य रक्षणात् । अचक्षुषा मया चोरो न दृष्टोऽस्ति यथाध्वनि ॥७
तत्रासत्यवचस्त्यागव्रतरक्षार्थमेव या । भावनाः पञ्च सूत्रोक्ता भावनीया व्रतार्थिभिः ॥८

अब आगे असत्य वचनोका त्याग कर देना ही जिसका लक्षण है ऐसे सत्याणुव्रतका स्वरूप कहते हैं, यह सत्यव्रत पूर्ण रूपसे तो मुनियोके होता है तथा एकदेश रूपसे गृहस्थोंके होता है ।।१।। बुद्धिमानोको अहिंसाणुव्रतमे कहे हुए समस्त कथनकी अनुवृत्ति इस सत्याणुव्रतमे भी ग्रहण करनी चाहिये । सूत्रकारने कहा है "असदभिधानमनृतम्" अर्थात् प्रमादके योगसे असत्य वचन कहना अनृत या झूठ है ।।२।। आगे असत् और अभिधान दोनोका अलग अलग अर्थ कहते हुए दिखलाते हैं । हिंसा करनेवालेको असत् कहते हैं तथा भाषण करने, कहने या बोलनेको अभिधान कहते हैं । इन दोनो शब्दोका मिलाकर अर्थ करनेसे यही अर्थ निकलता है कि जो जो वचन हिंसा करनेवाले हैं उन सबको अनृत कहते हैं । यद्यपि असत् शब्दके अनेक अर्थ होते हैं तथापि उनका अर्थ वही लिया जाता है जो प्रकरणके अनुसार ठीक बैठता है ।।३।। यहाँ पर असत् शब्दका अर्थ केवल झूठ बोलना मात्र नही लेना चाहिये, क्योकि यदि असत् शब्दका अर्थ केवल झूठ बोलना लिया जायगा तो साकार मन्त्र भेद आदि जो झूठके भेद हैं उनमे कुछ बोलना नही पड़ता इसलिये ऐसे झूठको सत्यमे ही शामिल करना पड़ेगा ।।४।। सूत्रमे जो 'असदभिधानमनृतम्' लिखा है उसमे "एकदेश रूपसे त्याग करना" इस वाक्यकी अनुवृत्ति चली आ रही है । इस अनुवृत्तिको मिलानेसे इस सबका यही अर्थ होता है जो हिंसा करनेवाले वचन हैं उनका एकदेश त्याग करना सत्याणुव्रत है अतएव बुद्धिमान् श्रावकोको ऐसे वचन कभी नही कहना चाहिये जिनके कहनेसे त्रस जीवोकी हिंसा होना सम्भव हो ।।५।। जिस सत्य वचनके कहनेसे त्रस जीवोकी हिंसा होना सम्भव हो ऐसे सत्यवचन भी कभी कभी असत्य ही कहलाते हैं "जैसे इस चोरको चोरी करते हुए मैंने देखा था" ऐसा कहनेसे उसको दंड दिया जा सकता है अतएव ऐसे सत्यवचन कहना भी हिंसा करनेवाले वचन हैं, ऐसे सत्यवचन भी असत्य वचन कहलाते हैं ऐसे वचन अणुव्रती श्रावकोको कभी नही बोलने चाहिये ।।६।। इसी प्रकार कही कही पर जीवोंकी रक्षा होनेसे असत्य वचन भी सत्य कहलाते हैं । जैसे मुझे दिखाई नही देता इसलिये मार्गमें मैंने किसी चोरको नही देखा ।।७।। इस असत्यवचनोके त्याग करने रूप सत्याणुव्रतकी रक्षा करनेके लिए सूत्रकारने पाँच भावनाएँ बतलाई हैं । अणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको उन भावनाओका पालन भी अच्छी तरह करते रहना चाहिये ।।८।।

तत्सूत्रं यथा—

क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं पञ्च ॥४२

यत्र क्रोधप्रत्याख्यानं वचो वाच्यं मनीषिभिः । स्वपराश्रितभेदेन तद्वचश्च द्विधोच्यते ॥९
स्वयं क्रोधेन सत्यं वा न वक्तव्यं कदाचन । न च वाच्यं वचस्तादृक्परेषां क्रोधकारणम् ॥१०
यथा क्रोधस्तथा मानं माया लोभस्तथैव च । तेषामनर्थहेतुत्वे मृषावादाविशेषतः ॥११
हास्योज्झितं च वक्तव्यं न च हास्याश्रितं क्वचित् । तदपि द्विविधं ज्ञेयं स्वपरोभयभेदतः ॥१२
स्वयं हास्यवता भूत्वा न वक्तव्यं प्रमादतः । न च वाच्यं परेषां वा हास्यहेतुर्विचक्षणैः ॥१३
हास्योपलक्षणेनैव नोकषाया नवेति ये । तेऽपि त्याज्या मृषात्यागव्रतसंरक्षणार्थिभिः ॥१४
भीरुत्वोत्पादकं रौद्रं वचो वाच्यं न श्रावकैः । अवश्यं बन्धहेतुत्वात्तीव्रासातादिकर्मणाम् ॥१५

वह सूत्र यह है—क्रोधका त्याग, लोभका त्याग, डर या भयका त्याग, हँसीका त्याग और अनुवीचिभाषण या निर्दोष अनिन्द्य भाषण ये पाँच सत्याणुव्रतकी भावनाएँ हैं ॥४२॥

आगे इन्ही पाँचो भावनाओंका स्वरूप बतलाते हैं बुद्धिमानोको ऐसे वचन कहने चाहिये जिसमे क्रोध उत्पन्न न हो, यही क्रोधका त्याग नामकी पहली भावना है। क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले वचन दो प्रकारके हैं—एक अपने क्रोधसे कहे जानेवाले वचन और दूसरे दूसरेको क्रोध उत्पन्न करनेवाले वचन ॥९॥ अणुव्रती श्रावकको स्वय क्रोध कर सत्य वचन भी कभी नही कहने चाहिये तथा इसी प्रकार ऐसे वचन भी कभी नही कहने चाहिये जो दूसरे लोगोको क्रोध उत्पन्न करनेवाले हो ॥१०॥ जिस प्रकार क्रोधसे कहे जानेवाले वचनोका त्याग करना बतलाया है उसी प्रकार मान माया और लोभका त्याग भी समझ लेना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि क्रोध मान माया वा लोभसे उत्पन्न हुए वचन पापके कारण होते हैं अतएव असत्य वचनोसे उनमे किसी प्रकारकी विशेषता नहीं होती अर्थात् जो जो वचन कषायोके वशीभूत होकर कहे जाते हैं अथवा कषायोको उत्पन्न करनेवाले वचन कहे जाते है वे सब प्राणोको पीडा उत्पन्न करनेवाले या पाप उत्पन्न करनेवाले होते हैं इसलिये ऐसे वचन असत्य ही कहे जाते हैं ॥११॥ अणुव्रती श्रावकको सदा हास्य रहित वचन कहना चाहिये। हँसीसे मिले हुए वचन श्रावकोको कभी नहीं कहने चाहिये। क्रोध रूप वचनोके समान हास्य रूप वचन भी दो प्रकार हैं—एक स्वय हँसीसे कहे जानेवाले वचन और दूसरे दूसरोको या दोनोको हँसी उत्पन्न करनेवाले वचन ॥१२॥ अणुव्रती श्रावकको प्रमादके वशीभूत होकर स्वय हँसकर वचन कभी नही कहने चाहिये। इसी प्रकार चतुर श्रावकोको ऐसे वचन भी कभी नही कहने चाहिये जो दूसरोको हँसी उत्पन्न करनेवाले हो ॥१३॥ यहाँपर हास्यशब्द उपलक्षण है इसीलिये हास्य शब्दसे नौ नोकषाय लेने चाहिये। असत्य वचनोके त्याग करने रूप सत्याणुव्रतको धारण करनेवाले श्रावकोको उस सत्याणुव्रतकी रक्षा करनेके लिए हास्यके समान हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुंवेद और नपुंसकवेद इन नौ नोकषायोंका भी त्याग कर देना चाहिये। अभिप्राय यह है कि कषाय या नोकषायोंसे कहे जानेवाले वचन अथवा कषाय या नोकषायोको उत्पन्न करनेवाले वचन किसी न किसीको दुःख पहुँचानेवाले या प्राणोंको पीडा पहुँचानेवाले होते हैं अतएव ऐसे वचन असत्य ही कहे जाते हैं इसीलिए श्रावकोको ऐसे वचन नही कहने चाहिये ॥१४॥ अणुव्रती श्रावकोको डर उत्पन्न करनेवाले भयानक शब्द कभी नहीं कहने चाहिये क्योंकि दूसरोको डरानेवाले भयानक

आलोचितं च वक्तव्यं न वाच्यमनालोचितम् । चौर्यादिविकथाख्यानं न वाच्यं पापभीरुणा ॥१६
असत्यपरित्यागव्रतेऽतीचारपञ्चकम् । प्रामाणिकं प्रसिद्धं स्यात्सूत्रेऽप्युक्तं महर्षिभिः ॥१७

तत्सूत्रं यथा—

मिथ्योपदेश-रहोऽभ्याख्यान-कूटलेखक्रिया-न्यासापहार-साकारमन्त्रभेदाः ॥४३

तत्र मिथ्योपदेशाख्य: परेषां प्रेरणं यथा । अहमेवं न वक्ष्यामि वद त्वं मम मन्मनात् ॥१८
रहोऽभ्याख्यानमेकान्ते गुह्यवार्ताप्रकाशनम् । परेषां शङ्कया किञ्चिद्धेतोरस्त्यत्र कारणम् ॥१९
कूटलेखक्रिया सा स्याद्वञ्चनार्थं लिपिर्मृषा । सा न साक्षात्तथा तस्या मृषानाचारसम्भवात् ॥२०
किन्तु स्वल्पा यथा कश्चित्किञ्चित्प्रत्यूहनिस्पृहः । इदं मदीयपत्रेषु मदर्थं न लिपीकृतम् ॥२१
न्यासस्याप्यपहारो यो न्यासापहार उच्यते । सोऽपि परस्य सर्वस्वहरो नैव स्वलक्षणात् ॥२२

शब्दोके कहनेसे आसातावेदनीय आदि अशुभ कर्मोंका बन्ध अवश्य होता है ॥१५॥ अणुव्रती श्रावकोको जो कुछ कहना चाहिये वह सब समझकर शास्त्रोके अनुकूल वचन कहने चाहिये। बिना सोचे-समझे शास्त्रोके विरुद्ध वचन कभी नही कहने चाहिये, इसी प्रकार पापोसे डरनेवाले अणुव्रती श्रावकोको चोर कथा, राष्ट्रकथा, भोजनकथा, युद्धकथा आदि विकथाएँ कभी नही कहनी चाहिये ॥१६॥ अणुव्रती श्रावकोको इस प्रकार ऊपर लिखी हुई सत्यव्रतकी पाँचो भावनाओका पालन अवश्य करना चाहिये। इसके पालन करनेसे व्रतोकी रक्षा होती है। इस असत्य वचनोंके त्याग करने रूप सत्याणुव्रतके पाँच अतिचार हैं। वे पाँचो ही अतिचार प्रसिद्ध हैं और उनको सब मानते हैं। बड़े बड़े महर्षियोने भी सूत्रोमे उनका वर्णन किया है ॥१७॥ वह सूत्र इस प्रकार है—

मिथ्या उपदेश देना, किसी एकातमे की हुई क्रियाओको या कही हुई बातको प्रकट कर देना, झूठे लेख लिखना, किसीका धरोहर मार लेना और किसी भी चेष्टासे किसीके मनकी बात को जानकर प्रकट कर देना ये पाँच सत्याणुव्रतके अतिचार हैं ॥४३॥ आगे अनुक्रमसे इन्हींका स्वरूप दिखलाते हैं—

"इस बातको मैं नही कहूँगा मेरे मनके अनुसार तू ही कह" इस प्रकार मिथ्यावचन कहनेके लिए दूसरोको प्रेरणा करना मिथ्योपदेश नामका पहला अतिचार कहलाता है ॥१८॥ "यहाँ पर कुछ कारण अवश्य है बिना कारणके एकान्तमे कोई बातचीत नही करता" इस हेतुसे शका उत्पन्न कराकर एकान्तमे किसी पुरुषके द्वारा या स्त्री पुरुषोके द्वारा कही हुई बातोको या की हुई क्रियाओको प्रकाशित करना रहोभ्याख्यान कहलता है ॥१९॥ दूसरोको ठगनेके लिए झूठा लेख लिखना या लिखाना कूटलेखक्रिया है। इसमे इतना और समझ लेना चाहिये कि यह झूठा लेख साक्षात् नही लिखा जाता, न साक्षात् झूठा लेख लिखाया जाता है क्योकि यदि साक्षात् झूठा लेख लिखा जाय या लिखाया जाय तब तो वह असत्य वचन रूप अनाचार ही हो जाता है क्योंकि ऐसा करनेसे किसी भी अशमे सत्यव्रतको रक्षा नही होती है किन्तु उसमे थोडे थोडे झूठे शब्द मिलाये जाते हैं। जैसे कोई पुरुष अपने ऊपर आई हुई आपत्तिको दूर करनेके लिये कहता है कि "मैंने जो यह अपने पत्रमें लेख लिखा है वह अपने लिये नही लिखा है।" सत्याणुव्रतीको ऐसे अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिये ॥२०–२१॥ दूसरेकी धरोहरको अपहरण कर लेना, मार लेना, न देना न्यासापहार कहलाता है। उसमे भी इतना विशेष है कि वह दूसरेके समस्त धनका हरण करता है क्योकि रक्खी हुई धरोहरके कुछ भागको हरण कर लेना ही न्यासापहार कहलाता है।

किञ्च कश्चिद्यथा सार्थं कस्यचिद्धनिनो गृहे । स्थापयित्वा धनादीनि स्वयं स्थानान्तरं गतः ॥२३
यावत्येवं स कोशस्थं पुरस्तादिह निह्नुयात् । भूतं न मे गृहे किञ्चित्तेनाऽस्माऽऽर्येन यच्छता ॥२४
उक्तो न्यासापहारः स प्रसिद्धोऽनर्थसूचकः । मृषात्यागव्रतस्योच्चैर्दोषः स्यात्सर्वतो महान् ॥२५
साकारमन्त्रभेदोऽपि दोषोऽतीचारसंज्ञकः । न वक्तव्यः कदाचिद्वै नैष्ठिकैः श्रावकोत्तमैः ॥२६
दुर्लक्ष्यमर्थं गुह्यं वा परेषां मनसि स्थितम् । कथञ्चिदिङ्गितैर्ज्ञात्वा न प्रकाश्यं व्रतार्थिभिः ॥२७
ननु चैवं मदीयोऽयं ग्रामो देशोऽथवा नरः । इत्येवं यज्जगत्सर्वं वदत्येतन्मृषा वचः ॥२८
नैवं प्रमत्तयोगाद्वै सूत्रादित्यनुवर्तते । तस्याभावान्न दोषोऽस्ति तद्भावे दोष एव हि ॥२९
एवं संव्यवहाराय स्याद्वचो वा नयात्मके । नाम्नि च स्थापनायां च द्रव्ये भावे जगत्त्रये ॥३०

न्यासापहारका यही लक्षण है, जैसे किसी पुरुषके पास कुछ धन था वह अपना सब धन किसी अन्य धनीके यहाँ जमा कराकर या रख कर स्वयं परदेशको चला गया। उस धनको छिपानेके लिए या प्रगट न होने देनेके लिए वह धनी दूसरे लोगोके सामने यह कहता है कि वह पुरुष मेरे घर तो कुछ नही रख गया, वह तो परदेश जाते समय सब धन अपने साथ ले गया है ॥२३-२४॥ ऊपर जो न्यासापहारका स्वरूप बतलाया है वह प्रसिद्ध है और अनेक अनर्थोंको उत्पन्न करनेवाला है। असत्य वचनोंके त्याग करने रूप सत्य अणुव्रतको पालन करनेवाले श्रावकके लिए यह सबसे बडा और बहुत बडा दोष है। इसका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥२५॥ साकारमन्त्रभेद भी सत्याणुव्रतका अतिचार और दोष कहलाता है। नैष्ठिक उत्तम श्रावकको यह साकारमन्त्रभेद भी कभी नही कहना चाहिये ॥२६॥ दूसरेके मनमे जो छिपी हुई बात है अथवा कोई ऐसी बात है जो दूसरोको मालूम नही है उस बातको किसी चेष्टासे या किसी इशारे आदिसे जानकर प्रकाशित कर देना साकारमन्त्रभेद कहलाता है। व्रती श्रावकोको ऐसी किसी दूसरेके मनकी बात कभी प्रकाशित नही करनी चाहिये ॥२७॥ कोई शका करता है कि "यह गाँव मेरा है, यह देश मेरा है अथवा यह मनुष्य मेरा है" इस प्रकार जो यह समस्त संसार कहता है वह भी सब मिथ्या वचन हैं। व्रती भी ऐसा बोलते हैं इसलिये असत्यका त्याग व्रतियोंसे भी नहीं हो सकता ॥२८॥ इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि शकाकारकी यह शंका ठीक नही है क्योकि तत्त्वार्थसूत्रमे जो असत्यका लक्षण "असदभिधानमनृतम्" लिखा है उसमे ऊपरके सूत्रसे "प्रमत्तयोगात्" पदकी अनुवृत्ति चली आ रही है। इस अनुवृत्तिके अर्थको मिला देनेसे असत्यका लक्षण "प्रमाद या कषायके निमित्तसे दूसरेकी अनुवृत्तिसे दूसरेकी हिंसा उत्पन्न करनेवाले वचन कहना असत्य है" ऐसा बन जाता है। जहाँ जहाँ प्रमाद या कषाय होते हैं वही असत्य होता है। जहाँ प्रमाद या कषाय नही होता वहाँ असत्य भी नही होता। ससारमे जो "यह गाँव मेरा है या यह देश मेरा है" ऐसा वचन कहा जाता है उसमे प्रमाद या कषाय नहीं हैं केवल अपना निवासस्थान बतलानेके लिए ऐसा कहता है परन्तु जहाँपर उस गाँव या उस देशको अपनानेके लिए, उसपर अपना अधिकार जमानेके लिए कषायकी प्रवृत्ति होती है वहाँपर वही वाक्य असत्य हो जाता है अतएव उक्त शका सर्वथा निर्मूल है ॥२९॥ "जहाँ जहाँपर कषाय होता है वही पर असत्यता होती है" ऐसा मान लेनेसे नयोंके अनुसार जो एक ही पदार्थका स्वरूप भिन्न-भिन्न रीतिसे कहा जाता है, अथवा संसारमे अपना व्यवहार चलानेके लिए जो नाम स्थापना द्रव्य भाव चार निक्षेप बतलाये हैं उनसे भी पदार्थोंका स्वरूप भिन्न भिन्न रीतिसे

अस्ति स्तेयपरित्यागो व्रतं चाणु तथा महत् । देशतः सर्वतश्चापि त्यागद्वैविध्यसम्भवात् ॥३१
तल्लक्षणं तथा सूत्रे सूक्तं सूत्रविशारदैः । अदत्तादानं स्तेयं स्यात्तदर्थं कथ्यतेऽधुना ॥३२
अदत्तस्य यदादानं चौर्यमित्युच्यते बुधैः । अर्थात्स्वामिगृहीतार्थे सद्द्रव्ये नेतरे पुन ॥३३
अन्यथा सर्वलोकेऽस्मिन्नतिव्याप्ति पदे पदे । श्वसनाद्यैश्च दुर्वारा किञ्च द्वारगोपुरादिषु ॥३४
सर्वतः सर्वविषयं देशतस्त्रसगोचरम् । यतः सागारिणां न स्याज्जलादिपरिवर्जनम् ॥३५
देशतः स्तेयसंत्यागलक्षणं गृहिणां व्रतम् । अदत्तं वस्तु नादेयं यस्मिन्नस्ति त्रसाश्रयः ॥३६
रक्षार्थं तस्य कर्तव्या भावना पञ्च नित्यशः । सर्वतो मुनिनाथेन देशतः श्रावकैरपि ॥३७

समझा जाता है। उसमे भी कोई दोष नही आता ॥३०॥ चोरीका त्याग करने रूप अचौर्यव्रत भी दो प्रकार है—एक अणुव्रत और दूसरा महाव्रत। एकदेश चोरीका त्याग करना अचौर्याणुव्रत है और पूर्ण रूपसे चोरीका त्याग कर देना अचौर्य महाव्रत है, इस प्रकार चोरीका त्याग दो प्रकारसे सम्भव हो सकता है ॥३१॥ सूत्र बनानेमे अत्यन्त चतुर ऐसे आचार्यवर्य श्री उमास्वामी ने उस चोरीका लक्षण कहते हुए सूत्र लिखा है वह सूत्र "अदत्तादान स्तेयम्" है अर्थात् बिना दिये हुए पदार्थका ग्रहण करना चोरी है। अब आगे इस सूत्रका अर्थ बतलाते हैं ॥३२॥ किसी भी बिना दिये हुए पदार्थका ग्रहण करना चोरी है ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। इसका भी अर्थ यह है कि जिन पदार्थोंका कोई स्वामी है तथा जो पदार्थ कुछ मूल्यवाले हैं ऐसे पदार्थोंको बिना दिये हुए ग्रहण करना चोरी है। जिन पदार्थोंका कुछ मूल्य नही है अथवा जिन पदार्थोंका कोई स्वामी नही है ऐसे पदार्थोंको बिना दिये हुए ग्रहण कर लेना गृहस्थोके लिए चोरी नही है ॥३३॥ यदि चोरीका लक्षण यह माना जायगा तो इस समस्त ससारमे पद-पदपर अतिव्याप्ति दोष मानना पडेगा क्योकि सासके द्वारा वायुका ग्रहण करना, कर्म नोकर्म वर्गणाओका ग्रहण करना आदि सब बिना दिये हुए होता है इसलिये वहाँ भी चोरी समझी जायगी परन्तु वहाँ पर चोरी नही कही जाती इसलिये चोरीका ऊपर लिखा हुआ लक्षण ही ठीक है। दूसरी बात यह है कि मुनिराज नगरमे जानेके लिए नगरके बडे दरवाजेमे प्रवेश करते हैं वह भी बिना पूछे ही प्रवेश करते हैं इसलिये उसको भी चोरी ही मानना पडेगा तथा इस प्रकार माननेसे अचौर्यव्रतका पालना कठिन ही नही किन्तु असम्भव हो जायगा। इसलिये चोरीका लक्षण वही मानना चाहिये जो ऊपर कहा जा चुका है ॥३४॥ उस चोरीका पूर्ण रूपसे त्याग करना महाव्रत है अर्थात् त्रस और स्थावर दोनो प्रकारके जीवोको दु ख पहुँचानेवाली चोरीके त्याग करनेको पूर्ण त्याग या अचौर्य महाव्रत कहते हैं, तथा केवल त्रस जीवोको पीडा पहुँचानेवाली चोरीके त्याग करनेको एकदेश अथवा अचौर्याणुव्रत कहते हैं। गृहस्थ लोग अचौर्याणुव्रत ही पालन कर सकते हैं क्योकि वे गृहस्थ जल मिट्टी आदि सर्वसाधारणके ग्रहण करने योग्य पदार्थोंको बिना दिये ग्रहण करनेका त्याग नही कर सकते ॥३५॥ एकदेश चोरीका त्याग करना गृहस्थ श्रावकोका व्रत है। अणुव्रती श्रावकोको जिनमे त्रस जीवोका आश्रय हो ऐसे कोई भी पदार्थ बिना दिये हुए कभी ग्रहण नही करने चाहिये। यही उनका अचौर्याणुव्रत है ॥३६॥ इस अचौर्यव्रतकी रक्षा करनेके लिए पाँच भावनाएँ हैं वे भी नित्य पालन करनी चाहिये। उन भावनाओका पालन मुनियोको पूर्ण रूपसे करना चाहिये और श्रावकोको एकदेश करना चाहिये ॥३७॥ इस अचौर्यव्रतकी रक्षाके लिए जो भावनाएँ सूत्रकारने बतलाई हैं वे ये हैं—

तत्सूत्रं यथा—

शून्यागारविमोचितावासपरोपरोधाकरणभैक्ष्यशुद्धिसद्धर्माविसंवादाः पञ्च ॥४४

शून्यागारेषु वास्तव्यं भूभृतां गह्वरादिषु । तदिन्द्रादिविरोधेन न वास्तव्यमिहामुना ॥३८
किन्तु प्राक् प्रार्थनामित्थं कृत्वा तत्रापि संविशेत् । प्रसीदात्रस्थ भो देव पञ्चरात्रं वसाम्यहम् ॥३९
निःस्वामित्वेन संत्यक्ता गृहा सन्त्युद्वसाह्वया । प्राग्वत्तत्रापि वसतिं न कुर्यात्कुर्याद्वा तथा ॥४०
स्वामित्वेन वसत्यादि परैः स्यादुपरुन्धितम् । परोपरोधाकरणमाहुः सूत्रविशारदाः ॥४१
तत्स्वामिनमनापृच्छ्य स्थातव्यं न गृहिव्रते । स्थातव्यं च तमापृच्छ्य दीयमाने तदाज्ञया ॥४२
भैक्ष्यशुद्ध्यविसंवादौ भावनीयौ व्रतार्थिना । सर्वतो मुनिनाथेन देशतो गृहमेधिना ॥४३
नादेयं केनचिद्दत्तमन्येनातत्स्वामिना । तत्स्वामिनश्च प्रच्छन्नवृत्त्या तत्स्याददत्तवत् ॥४४
आत्मधर्मं सधर्मा स्याद्धर्माज्जैनो व्रतान्वितः । तेन कारापितं यावज्जिनचैत्यगृहादि यत् ॥४५

सूने मकानमें रहना, छोडे हुए मकानमे रहना, किसीको रोकना नहीं, भोजनकी शुद्धि रखना और धर्मात्माओंके साथ यह तेरा है यह मेरा है, इस प्रकार धर्मोपकरणोमे विवाद नही करना ये पाँच अचौर्यव्रतकी भावनाएँ हैं ॥४४॥

आगे इन्हीका स्वरूप बतलाते हैं—व्रतियोको पर्वतोकी गुफा आदि सूने मकानोमे ठहरना चाहिये तथा वहाँ पर भी उस स्थानके इन्द्रसे या स्वामीसे विरोध कर नहीं रहना चाहिये। यदि व्रतीको किसी भी स्थानपर ठहरना हो तो उसे आज्ञा इस प्रकार लेनी चाहिये कि "यहाँ इस स्थानपर रहनेवाले या इस स्थानके स्वामी हैं देव प्रसन्न होओ, मैं यहाँपर पाँच दिनतक ठहरूँगा या तीन दिनतक ठहरूँगा" इस प्रकार पहले प्रार्थना कर फिर उस स्थानमे प्रवेश करना चाहिये ॥३८–३९॥ अपना अधिकार न होनेके कारण जो घर छोड दिया गया है उसको छोडा हुआ घर कहते हैं। इस छोडे हुए घरमे भी पर्वतकी गुफा आदि सूने मकानके समान बिना उसके स्वामीकी आज्ञा लिये कभी निवास नही करना चाहिये। यदि वहाँ निवास करना हो तो वहाँके इन्द्रकी या वहाँपर रहनेवाले व्यंतरदेवकी ऊपर लिखे अनुसार आज्ञा लेकर निवास करना चाहिये ॥४०॥ जिस वसतिका आदि स्थानको अन्य लोगोने स्वामी बनकर रोक रक्खा है उसको शास्त्रोके जानकार पुरुष परोपरोधाकरण कहते हैं। गृहस्थोको ऐसे स्थानमे उसके स्वामीको बिना पूछे कभी नही रहना चाहिये। उसको पूछकर और उसकी आज्ञा मिल जानेपर रहना चाहिये। यदि किसी गुफा आदिमे स्वय रह रहा हो और अन्य कोई व्रती उसमे आना चाहे तो उसे रोकना नही चाहिये, इसीको परोपरोधाकरण कहते है ॥४१–४२॥ चौथी भावनाका नाम भैक्ष्यशुद्धि और पाँचवी भावनाका नाम तद्धर्म अविसवाद है। व्रती श्रावकोको इन दोनो भावनाओका पालन भी करना चाहिये। मुनिराज इन दोनो भावनाओका पालन पूर्ण रीतिसे करते हैं और गृहस्थ श्रावक इनका पालन एकदेश रूपसे करते हैं ॥४३॥ यदि कोई श्रावक भोजन देवे और वह भोजन उसका न हो किसी अन्यका हो तो उस व्रती श्रावकको नही लेना चाहिये। यदि वह भोजन उसीका हो और वह उसे छिपा कर देता हो तो भी उसे विना दिये हुएके समान ही समझना चाहिये। यही श्रावककी भैक्ष्यशुद्धि है ॥४४॥ जो आत्मके धर्मको पालन करता हो, अथवा जो अपने धर्मको पालन करता हो उसको सधर्मी कहते हैं। इसका भी अभिप्राय यह है कि जो जैन धर्मको धारण करनेवाला व्रती श्रावक है उसको सधर्मी कहते हैं। उसने जो कुछ जिनेन्द्र भवन, चैत्यालय आदि

तत्रापि निवसेद्धीमान् क्षणं यावत्तदाज्ञया । तदाज्ञामन्तरेणेह न स्थातव्यमुपेक्षया ॥४६
भावनापञ्चकं यावदत्रोक्तं चांशमात्रतः । स्वर्णाद्यपि च नादेयमदत्तं वसनादि वा ॥४७
अत्रापि सन्त्यतीचाराः पञ्चेति सूत्रसम्मताः । त्याज्या स्तेयपरित्यागव्रतसंशुद्धिहेतवे ॥४८

उक्तं च—

स्तेनप्रयोगतदाहृतादानविरुद्धराज्यातिक्रमहीनाधिकमानोन्मानप्रतिरूपकव्यवहाराः ॥४५

परस्य प्रेरणं लोभात्स्तेयं प्रति मनीषिणा । स्तेनप्रयोग इत्युक्तः स्तेयातीचारसंज्ञकः ॥४९
अप्रेरितेन केनापि वस्तुना स्वयमाहृतम् । गृह्यते धन-धान्यादि तदाहृतादानं स्मृतम् ॥५०
नादेयं दीयमानं वा पुण्यदानेन चापि तत् । स्तेयत्यागव्रतस्यास्य स्वामिनात्महितैषिणा ॥५१
राजाज्ञापितमात्मेत्थं युक्तं वाऽयुक्तमेव वा । क्रियते न यदा स स्याद्विरुद्धराज्यातिक्रमः ॥५२
कर्तव्यो न कदाचित्स प्रकृतव्रतधारिणा । आस्तामुत्र तेनार्तिरिहानर्थपरम्परा ॥५३
क्रेतुं मानाधिकं मानं विक्रेतुं न्यूनमानकम् । हीनाधिकमानोन्माननामातीचारसंज्ञकः ॥५४

बनवाया है उसमे भी यदि कोई श्रावक क्षण भर भी ठहरना चाहे तो उसकी आज्ञा लेकर ठहरना चाहिये, उसकी आज्ञाके बिना उपेक्षापूर्वक उसे वहाँपर कभी नहीं रहना चाहिये। अथवा अपने भी बनवाये हुए धर्मस्थानपर यदि कोई सधर्मी आकर ठहरना चाहता है, तो उसे बिना किसी विसंवादके ठहरने देना चाहिये। इसको सद्धर्माविसंवाद नामकी पाँचवी भावना कहते हैं ॥४५-४६॥ इस प्रकार यहाँपर पाँचो भावनाओका स्वरूप बहुत ही संक्षेपसे अंशमात्र कहा है। व्रती श्रावकको सोना चाँदी वस्त्र आदि कुछ भी बिना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥४७॥ इस अचौर्याणुव्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो सूत्रकारने भी अपने सूत्रमे कहे हैं। चोरीके त्याग करने रूप अचौर्य अणुव्रतको शुद्ध रखनेके लिए व्रती श्रावकको इन पाँचो अतिचारोका त्याग कर देना चाहिये ॥४८॥ सूत्रकारने अतिचारोको कहनेवाला जो सूत्र कहा है वह यह है—

चोरीको भेजना, चोरीका माल लेना, राजाकी आज्ञाके विरुद्ध चलना, तौलने या नापनेके बाँट गज आदि कमती-बढ़ती रखना या और अधिक मूल्यके पदार्थमे कम मूल्यके पदार्थ मिलाकर चलाना, ये पाँच अचौर्याणुव्रतके अतिचार है। आगे इसीका स्पष्टीकरण करते हैं ॥४५॥

किसी लोभके वश होकर अन्य मनुष्योको चोरी करनेकी प्रेरणा करनेको बुद्धिमान लोग स्तेन प्रयोग कहते हैं। अचौर्याणुव्रतका यह पहला अतिचार है ॥४९॥ जिस किसी चोरको चोरी करनेकी प्रेरणा नही की है, बिना प्रेरणा किये ही वह स्वय चुराकर जो धन-धान्य आदि पदार्थ लाया है उसको ग्रहण करना तदाहृतादाननामका अतिचार कहलाता है ॥५०॥ अपने आत्माका कल्याण करनेवाले और अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाले व्रती श्रावकोको ऐसा चोरीका धन यदि कोई दे भी तो नही लेना चाहिए। यदि कोई पुण्य समझ कर दान देता हो तो भी नही लेना चाहिए ॥५१॥ राजा ने कुछ आज्ञा दी है चाहे वह योग्य हो और चाहे वह अयोग्य हो, उसका पालन न करना विरुद्धराज्यातिक्रम नामका अतिचार कहलाता है ॥५२॥ अचौर्याणुव्रत धारण करनेवाले श्रावकोको राजाकी आज्ञाके विरुद्ध कार्य कभी नही करना चाहिए क्योकि राज्यविरुद्ध कार्य करनेसे परलोकमे दुःख होता है और इस लोकमे अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं। अतएव व्रती श्रावकको इस अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिए ॥५३॥ खरीदनेके लिए तौलनेके बाँट या नापनेके गज पायली आदि अधिक या बढ़ती रखना और बेचनेके लिए कमती रखना हीनाधिक-

सर्वात्मनैव त्याज्योऽयं गृहस्थेन व्रतार्थिना । इहैवाकीर्तिसन्तान.स्यादमुत्र च दु:खद ॥५५
मिश्रणं समवर्णस्य महार्घे कल्पनाशया । प्रतिरूपकनाम्ना स्याद् व्यवहारो व्रतक्षती ॥५६
स्तेयत्यागव्रतारूढैर्नादेय श्रावकोत्तमै । अस्त्यतीचारसंज्ञोऽपि सर्वदोषाधिपो महान् ॥५७
उक्तातिचारनिर्मुक्तं तृतीयव्रतमुत्तमम् । अवश्यं प्रतिपाल्यं स्यात्परलोकसुखाप्तये ॥५८
चतुर्थं ब्रह्मचर्यं स्याद्व्रतं देवेन्द्रवन्दितम् । देशत श्रावकैर्ग्राह्यं सर्वतो मुनिनायकै: ॥५९
देशतस्तद्व्रतं धाम्नि स्थितस्यास्य सरागिण । उढिता धर्मपत्नी या सैव सेव्या न चेतरा ॥६०
ब्रह्मव्रतस्य रक्षार्थं कर्तव्या पञ्च भावना । तल्लक्षणं यथा सूत्रे प्रोक्तमत्रापि चाहृति ॥६१

तत्सूत्रं यथा—

स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागा पञ्च ॥४६
प्रसिद्धं विटचर्यादि दम्पत्योर्वा मिथो रति । अनुरागस्तद्वार्तायां योषिद्रागकथाश्रुति ॥६२

मानोन्मान नामका अतिचार है ॥५४॥ व्रती श्रावकको इस हीनाधिकमानोन्मान नामके अतिचारको पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिए क्योंकि जो गृहस्थ तौलनेके लिए बाँटोको कमती-बढती रखता है या नापनेके गजोको कमती-बढती रखता है उसकी अपकीर्ति इस समस्त लोकमें फैल जाती है तथा बाँट या गजोको कमती-बढती रखकर वह दूसरोको ठगता है इसलिए परलोकमे भी उसे नरकादिकके महादुःख भोगने पडते हैं इसलिए व्रती गृहस्थको इस अतिचारका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिए ॥५५॥ दूसरोको ठगनेकी इच्छासे अधिक मूल्यके पदार्थमे जो उसमे अच्छी तरह मिल सके ऐसा कम मूल्यका पदार्थ मिला देना प्रतिरूपक व्यवहार नामका पाँचवाँ अतिचार कहलाता है। इस अतिचारसे यह अचौर्याणुव्रत प्राय नष्ट हो जाता है ॥५६॥ चोरीके त्याग करने रूप अचौर्याणुव्रतको पालन करनेवाले उत्तम श्रावकोको यह अतिचार कभी नही लगाना चाहिए क्योंकि यह अतिचार यद्यपि अतिचार कहलाता है तथापि यह अतिचार सबसे बडा और सब दोषोका अधिपति है ॥५७॥ व्रती गृहस्थोको परलोकके सुख प्राप्त करनेके लिए ऊपर लिखे अतिचारोको छोडकर इस तीसरे उत्तम अचौर्याणुव्रतको अवश्य पालन करना चाहिए ॥५८॥ अब आगे ब्रह्मचर्याणुव्रतका स्वरूप बतलाते हैं। चौथे व्रतका नाम ब्रह्मचर्य व्रत है। सोलह स्वर्गोंके देवोके इन्द्र भी इस ब्रह्मचर्यव्रतकी वन्दना करते हैं, मुनिराज इसका पालन पूर्णरीतिसे करते हैं और श्रावक इसका पालन एकदेश रूपसे करते हैं ॥५९॥ घरमे रहनेवाले सरागी गृहस्थोको इस व्रतका पालन एकदेश रूपसे करना चाहिए। इसी ग्रन्थमे पहले जो धर्मपत्नीका स्वरूप कह आये हैं वह धर्मपत्नी ही गृहस्थोको सेवन करनी चाहिए। उसके सिवाय अन्य समस्त स्त्रियोंके सेवन करनेका त्याग कर देना चाहिए ॥६०॥ इस ब्रह्मचर्यव्रतकी रक्षा करने के लिए जो पाँच भावनाएँ बतलाई हैं उनका भी पालन करना चाहिए तथा उन पाँचो भावनाओका लक्षण जो सूत्रकारने अपने सूत्रमे कहा है वही ग्रहण कर लेना चाहिए ॥६१॥ सूत्रकारका वह सूत्र यह है—

स्त्रियोकी रागरूप कथा सुननेका त्याग, उनके मनोहर अगोके देखनेका त्याग, पहले भोगी हुई स्त्रियोंके स्मरण करनेका त्याग, पौष्टिक रसका त्याग और अपने शरीरके संस्कार करनेका त्याग ये पाँच ब्रह्मचर्यव्रतकी भावनाएँ हैं। इनके पालन करनेसे ब्रह्मचर्यकी रक्षा होती है ॥४६॥

आगे इन्हीका स्वरूप बतलाते हैं—व्यभिचारी लोग जो रागरूप कुचेष्टाएँ करते रहते हैं, अथवा कोई भी स्त्री-पुरुष जो परस्पर कामक्रीडा करते रहते हैं उनकी कथा सुननेमे प्रेम रखना

उक्तं च—

रतिरूपा तु या चेष्टा दम्पत्यो सानुरागयो । शृङ्गार स द्विधा प्रोक्त सयोगो विप्रलम्भक ॥४७

स त्याज्यो परदम्पत्योः सम्बन्धी बन्धकारणम् । प्रीति शृङ्गारशास्त्रादौ नादेया ब्रह्मचारिभि ।६३
चक्षुर्गण्डाधरग्रीवास्तनोदरनितम्बकान् । पश्येत्तन्मनोहराङ्गनिरीक्षणमत्यादरात् ॥६४
न कर्तव्यं तदङ्गनां श्रावणं वा निरीक्षणम् । कायेन मनसा वाचा ब्रह्माणुव्रतधारिणा ॥६५
रत मोहोदयात्पूर्वं सार्द्धमन्याङ्गनादिभि । तत्स्मरणमतीचार पूर्वरतानुस्मरणम् ॥६६
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य दोषोऽयं सर्वतो महान् । त्याज्यो ब्रह्मपयोजांशुमालिना ब्रह्मचारिणा ॥६७
वृषसत्त्वं यथा माषा पयश्चेष्टरस स्मृत । वीर्यवृद्धिकरं चान्यत्त्याज्यमित्यादि ब्रह्मणे ॥६८
स्नेहाभ्यङ्गादिस्नानानि माल्य स्रक्-चन्दनानि च । कुर्यादत्यर्थमात्रं चेद् ब्रह्मातीचारदोषकृत् ॥६९

स्त्रियोकी राग-रूप कथाका सुनना कहलाता है। यहाँ पर रागरूप कथाके कहनेसे शृ गारके कहनेका अभिप्राय है। शृ गाररसके सुननेमे प्रेम करना स्त्रीरागकथा श्रवण है ॥६२॥ कहा भी है–

परस्पर एक दूसरेको प्रेम करनेवाले स्त्री पुरुषोकी जो काम-क्रीडारूप चेष्टा है उसको शृंगार कहते हैं। वह शृगार दो प्रकारका बतलाया है—एक सयोगात्मक और दूसरा वियोगात्मक। स्त्री-पुरुषोके मिलनेसे जो शृंगार-रस प्रगट होता है वह सयोगात्मक शृगाररस है और स्त्री-पुरुषोके वियोग होनेपर जो परस्पर मिलनेकी उत्कट इच्छा होती है अथवा जो वियोगजन्य दु ख होता है उसको कहना या सुनना वियोगात्मक रस है ॥४७॥

व्रती श्रावकोको अन्य स्त्री पुरुषो से उत्पन्न होनेवाले दोनो प्रकारके शृङ्गाररसके सुननेका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि ऐसी कुचेष्टाओके सुननेसे अशुभ कर्मोंका तीव्र बन्ध होता है। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रतको धारण करनेवाले ब्रह्मचारियोको शृङ्गाररसको कहनेवाले शास्त्रोमे भी प्रेम नही करना चाहिए ॥६३॥ स्त्रियोके नेत्र, कपोल, अधर, ग्रीवा (गर्दन), स्तन, उदर, नितम्ब आदि मनोहर अगोको अत्यन्त आदरसे देखना तन्मनोहरागनिरीक्षण कहलाता है ॥६४॥ ब्रह्मचर्य अणुव्रतको धारण करनेवाले व्रती गृहस्थोको मनसे, वचनसे और कायसे स्त्रियोंके मनोहर अगोका न तो कभी वर्णन करना चाहिए और न कभी उनको देखना चाहिए। ब्रह्मचर्यव्रतकी रक्षा करनेके लिए यह दूसरी भावना है ॥६५॥ मोहनीयकर्मके उदयसे पहले जो अन्य स्त्रियोके साथ कामक्रीडा की थी उसका स्मरण करना पूर्वरतानुस्मरण कहलाता है। यह पूर्वरतानुस्मरण नामका दोष इस ब्रह्मचर्य व्रतका सबसे बडा दोष है। इसलिए इस ब्रह्मचर्यव्रतरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेके लिए सूर्यके समान ब्रह्मचारीको इस पूर्वरतानुस्मरण नामके दोषका त्याग अवश्य कर देना चाहिये। यह तीसरी भावना है ॥६६–६७॥ उडदकी दाल, दूध तथा अपनेको अच्छे लगने वाले जितने रस हैं वे सब पौष्टिक रस कहलाते हैं, अथवा वीर्यको बढ़ाने वाले जितने भी पदार्थ हैं वे सब पौष्टिक रस कहलाते हैं। अणुव्रती श्रावकोको अपना ब्रह्मचर्य सुदृढ बनानेके लिये ऐसे पौष्टिक रसोंके सेवन करनेका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। यह ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेके लिए चौथी भावना है ॥६८॥ तेल लगाकर नहाना, उबटन लगाकर नहाना, फूलोका शृगार करना, माला पहिनना, चन्दन लगाना तथा इनके सिवाय शरीरका सस्कार करनेवाले जितने भी पदार्थ हैं उनका अधिकताके साथ सेवन करना स्वशरीरसंस्कार कहलाता है। यह स्वशरीरसंस्कार ब्रह्मचर्यका घात करनेवाला, उसमे अनेक प्रकारके दोष उत्पन्न करनेवाला और

स्वशरीरसंस्काराख्यो दोषोऽयं ब्रह्मचारिण । सर्वतो मुनिना त्याज्यो देशतो गृहमेधिभि ॥७०
भावना पञ्च निर्दिष्टा सर्वतो मुनिगोचरा । तत्रासक्तिर्गृहस्थानां वर्जनीया स्वशक्तित ॥७१
कथ्यन्तेऽत्राऽप्यतीचारा ब्रह्मचर्यव्रतस्य ये । पञ्चैवेति यथा सूत्रे सूत्रिता प्रत्यक्षवादिभि ॥७२

तत्सूत्रं यथा—

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशा ॥४८

परविवाहकरणं दोषो ब्रह्मव्रतस्य य । व्यक्तो लोकप्रसिद्धत्वात्सुगमे प्रयासो वृथा ॥७३
अयं भाव स्वसम्बन्धिपुत्रादींश्च विवाहयेत् । परवर्गविवाहांश्च कारयेन्नानुमोदयेत् ॥७४
इत्वरिका स्यात्पुंश्चली सा द्विधा प्राग्यथोदिता । काचित्परिगृहीता स्यादपरिगृहीता परा ॥७५
ताभ्यां सरागवागादिवपु स्पर्शोऽथवा रतम् । दोषोऽतीचारसंज्ञोऽपि ब्रह्मचर्यस्य हानये ॥७६
दोषश्चानङ्गक्रीडाख्य स्वप्नादौ शुक्रविच्युति ।
विनापि कामिनीसङ्गात्क्रिया वा कुत्सितोदिता ॥७७

अनेक प्रकारके अतिचार उत्पन्न करनेवाला है ॥६९॥ ब्रह्मचर्य अणुव्रतको धारण करनेवाले ब्रह्मचारियोको यह स्वशरीरसस्कार नामका दोष भी एक प्रबल दोष है। मुनियोको इसका त्याग पूर्ण रूपसे कर देना चाहिये और गृहस्थोको इसका त्याग एकदेश रूपसे करना चाहिये। यह ब्रह्मचर्यकी रक्षा करनेवाली पाँचवी भावना है ॥७०॥ इस प्रकार ब्रह्मचर्यकी पाँचो भावनाओका निरूपण किया। इन भावनाओका पूर्ण रीतिसे पालन मुनियोसे ही होता है तथा गृहस्थोको अपनी शक्तिके अनुसार इन सबमे आसक्त या लीन रहनेका त्याग कर देना चाहिये। तथा अपनी शक्तिके अनुसार इनमेसे जितना त्याग बन सके उतना त्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार पाँचो भावनाओका स्वरूप बतलाया ॥७१॥ इस ब्रह्मचर्य व्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो सर्वज्ञदेवने बतलाये हैं तथा जो सूत्रकारने अपने सूत्रमे लिखे हैं ॥७२॥

वह सूत्र इस प्रकार है—दूसरेके पुत्र-पुत्रियोका विवाह करना, कुलटा विवाहिता स्त्रीके यहाँ आना जाना, अविवाहिता कुलटा स्त्रीके यहाँ आना जाना, अनंगक्रीडा करना और कामसेवनकी तीव्र लालसा रखना ये पाँच ब्रह्मचर्य अणुव्रतके अतिचार हैं ॥४८॥

आगे इन्हीका स्वरूप बतलाते हैं—दूसरेके पुत्र पुत्रियोका विवाह करना परविवाहकरण कहलाता है। यह भी ब्रह्मचर्यका एक अतिचार या दोष है। दूसरेके पुत्र पुत्रियोका विवाह करना ससारमे प्रसिद्ध है, सब कोई जानता है अतएव सुगम होनेसे इसके स्वरूपके कहनेमे परिश्रम करना व्यर्थ है ॥७३॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले पुत्र-पुत्रियोका तो विवाह कर देना चाहिए परन्तु जिनसे अपना कोई सम्बन्ध नही है ऐसे पुत्र-पुत्रियोका विवाह न तो कराना चाहिए और न उसकी अनुमोदना करनी चाहिए। यह परविवाहकरण ब्रह्मचर्य अणुव्रतका पहला अतिचार है ॥७४॥ इत्वरिका शब्दका अर्थ पुश्चली या व्यभिचारिणी स्त्री है इसीको कुलटा कहते हैं। वह दो प्रकारकी होती है—एक परिगृहीता और दूसरी अपरिगृहीता। इन दोनोका स्वरूप पहले अच्छी तरह कह चुके हैं ॥७५॥ परिगृहीता व्यभिचारिणी स्त्री और अपरिगृहीता व्यभिचारिणी स्त्री इन दोनोंके साथ रागपूर्वक बातचीत करना, शरीर स्पर्श करना, अथवा क्रीडा करना अतिचार है, यह अतिचार या दोष ब्रह्मचर्यको घात करनेवाला है ॥७६॥ स्वप्नमे वीर्यपात हो जाना, अथवा किसी भी स्त्रीके समागमके विना खोटी चेष्टा करना, खोटी

कामतीव्राभिनिवेशो दोषोऽतीचारसंज्ञकः । दुर्दान्तवेदनाक्रान्तस्मरसंस्कारपीडित ॥७८
ननु चास्ति स दुर्वारो दुस्त्याज्या मानसी क्रिया । ब्रह्मव्रतगृहीतस्य ततोऽत्र वद का गति ॥७९
उच्यते गतिरस्यास्ति वृद्धैः सूत्रे प्रमाणिता । यथा कथञ्चित् त्याज्या नीता ब्रह्मव्रतक्रिया ॥८०
उक्तं ब्रह्मव्रतं साङ्गमतिचारविवर्जितम् । पालनीयं सदाचारे स्वर्गमोक्षसुखप्रदम् ॥८१
उपाधिपरिमाणस्य सद्विधिश्चाधुनोच्यते । सति यत्रोदितानां स्याद्व्रतानां स्थितिसन्ततिः ॥८२
मुनिभिः सर्वतस्त्याज्यं तृणमात्रपरिग्रहम् । तत्संख्या गृहिभिः कार्या त्रसहिंसाविहानये ॥८३
अवश्यं द्रविणादीनां परिमाणं च परिग्रहे । गृहस्थेनापि कर्तव्यं हिंसातृष्णोपशान्तये ॥८४
परिमाणे कृते तस्मादर्वाङ्मूर्च्छा प्रवर्तते । अभावान्मूर्च्छायास्तूर्ध्वं मुनित्वमिव गीयते ॥८५
तस्मादात्मोचितादद्रव्याद् ह्रासनं तद्वरं स्मृतम् । अनात्मोचितसङ्कल्पाद् ह्रासनं तन्निरर्थकम् ॥८६
अनात्मोचितसङ्कल्पाद् ह्रासनं यन्मनीषया । कुर्युर्यद्वा न कुर्युर्वा तत्सर्वं व्योमचित्रवत् ॥८७

क्रिया करना अनंगक्रीडा नामका दोष कहलाता है ॥७७॥ काम सेवनकी तीव्र वेदनाके वशीभूत होकर कामके विकारसे अत्यन्त पीडित हुआ मनुष्य जो कामसेवनकी तीव्र लालसा रखता है उसको कामतीव्राभिनिवेश नामका अतिचार कहते हैं ॥७८॥ यहाँपर शंकाकार कहता है कि मनके विकारोका त्याग करना अत्यन्त कठिन है फिर भला जिसने ब्रह्मचर्य अणुव्रत धारण कर लिया है और मनके विकारोका त्याग कर नही सकता ऐसा मनुष्य उस व्रतका पालन किस प्रकार कर सकेगा, उसके व्रत पालन करनेका क्या उपाय है सो बतलाना चाहिए ॥७९॥ ग्रन्थकार इस शंकाका उत्तर देते हुए कहते हैं कि ऐसे मनुष्योके व्रत पालन करनेका उपाय भी है। जो कि वृद्ध पुरुषोने, बडे-बडे आचार्योंने सूत्रोमे बतलाया है। उसका अभिप्राय यही है कि जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया है उसको जिस प्रकार बने उसी प्रकार पालन करना चाहिए, उसको किसी भी प्रकार छोडना नहीं चाहिये ॥८०॥ इस प्रकार ब्रह्मचर्य अणुव्रतका स्वरूप कहा। अणुव्रतोको धारण करनेवाले श्रावकोको स्वर्ग और मोक्षके अनुपम सुख देनेवाला यह व्रत अतिचार रहित और भावनाओ सहित पालन करना चाहिए ॥८१॥ अब आगे परिग्रहके परिमाण करनेकी विधि कहते हैं। यह निश्चित है कि परिग्रहके परिमाण करनेसे ही ऊपर कहे हुए समस्त व्रत चिरकाल तक ठहर सकते हैं ॥८२॥ तृणमात्र भी परिग्रहका त्याग मुनियोको पूर्णरूपसे कर देना चाहिए। तथा अणुव्रती श्रावकोको त्रसजीवोकी हिंसाके त्यागका पालन करनेके लिए अथवा त्रसजीवोकी रक्षा करनेके लिए उस परिग्रहका परिमाण नियत कर लेना चाहिए ॥८३॥

हिंसा और तृष्णाको शान्त करनेके लिए गृहस्थोको धन धान्य आदि परिग्रहका परिमाण अवश्य कर लेना चाहिए ॥८४॥ जो मनुष्य जितने परिग्रहका परिमाण कर लेता है उसकी लालसा या मूर्च्छा उतने ही परिग्रहमे रहती है। उतने परिग्रहसे अधिक परिग्रहमे उसकी मूर्च्छा या लालसा नही रहती। किये हुए परिमाणसे अधिक परिग्रहमे उसकी मूर्च्छाका सर्वथा अभाव हो जाता है। अतएव किये हुए परिमाणके ऊपर वह परिमाण करनेवाला मुनिके समान समझा जाता है ॥८५॥ अतएव अपने योग्य जो परिग्रह है उसमेसे घटाना ही कल्याणकारी है। जो द्रव्य अपने योग्य नहीं है उसका घटाना या त्याग करना व्यर्थ है ॥८६॥ जो परिग्रह या जो द्रव्य अपने लिए कभी संभव नही हो सकते उनका त्याग या उनका कम करना केवल मनके संकल्पसे होता है अतएव उनका त्याग करना या न करना दोनो ही आकाशके चित्रके समान हैं। भावार्थ—जैसे

प्रत्ययवन्मनीहेमसत्यन्ताभावकल्पनम् । तत्त्यागोऽपि वरं कैश्चिदुच्यते सारवर्जितम् ॥८८
तत्रोत्सर्गो नृपर्यायस्थितिमात्रकृते धनम् । रक्षणीयं व्रतस्थैस्तैस्त्याज्यं शेषमशेषतः ॥८९
अपवादस्तु पालानां व्रतानां रक्षणं यथा । स्याद्वा न स्यात्तु तद्धानिः तत्त्यागस्तथोपधि ॥९०
रक्षार्थं तद्व्रतस्यापि भावना पञ्च सम्मता । भावनीयाश्च ता नित्यं तथा सूत्रेऽपि लक्षिता ॥९१

तत्सूत्रं यथा—

मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च ॥४९

इन्द्रियाणि स्फुटं पञ्च पञ्च तद्विषया स्मृता । यथास्वं तत्परित्यागभावनाः पञ्च नामतः ॥९२
पञ्चस्वेषु मनोज्ञेषु भावना रागवर्जनम् । अमनोज्ञेषु तेष्वेवं भावना द्वेषवर्जनम् ॥९३
अयमर्थो यदीष्टार्थसंयोगोऽस्ति शुभोदयात् । तदा रागो न कर्तव्यो हिरण्याद्यपकर्षता ॥९४

आकाशके चित्रोंका होना कल्पना मात्र होनेसे असंभव है। आकाशमे चित्र हो नहीं सकते उसी प्रकार जिन पदार्थोंका प्राप्त होना कभी संभव नहीं है उन पदार्थोंका त्याग करना या परिमाण करना व्यर्थ है। उनके त्याग करने या परिमाण करनेको व्रत नहीं कह सकते ॥८७॥ इस विषयमे कोई कोई लोग ऐसा भी कहते हैं कि इस जन्ममे जिस पदार्थका प्राप्त होना अत्यन्त असंभव है अथवा जो पदार्थ अत्यन्त सारहीन है व्यर्थके समान है उसका त्याग करना भी अच्छा है ॥८८॥ इस परिग्रहके त्याग करनेका उत्सर्ग मार्ग यह है कि इस मनुष्य पर्यायको स्थिर रखनेके लिए जितने धनकी आवश्यकता है उतना धन तो रख लेना चाहिए और बाकीका जितना धन है या जितना परिग्रह है उस सबका अणुव्रती श्रावकोको त्याग कर देना चाहिए ॥८९॥ इसका भी आवश्यक अपवाद यह है कि जो व्रत धारण कर लिये हैं उनकी रक्षा जिस प्रकार हो जाय जितने धन या परिग्रहसे हो जाय अथवा जितना धन या परिग्रह रखनेसे उन व्रतोमे किसी प्रकारकी हानि न हो उतने परिग्रहका परिमाण कर लेना चाहिए ॥९०॥ अन्य व्रतोके समान इस परिग्रहत्यागव्रतकी रक्षा करनेके लिए भी पाँच भावनाएँ हैं जो कि तत्त्वार्थसूत्रमे बतलाई हैं। अणुव्रती श्रावकोको उनका भी पालन करते रहना चाहिए ॥९१॥

उन भावनाओको कहनेवाला सूत्र यह है—मनोज्ञ और अमनोज्ञ जो इन्द्रियोके विषय हैं उनमे रागद्वेषका त्याग कर देना परिग्रहत्यागकी पाँच भावनाएँ हैं ॥४९॥

आगे उन्हीका विशेष वर्णन करते हैं—इन्द्रियाँ पाँच हैं और उनके विषय भी पाँच हैं। उनका यथायोग्य रीतिसे त्याग करना ही पाँच भावनाएँ हैं ॥९२॥ इसका भी अर्थ यह है कि पाँचो इन्द्रियोंके जो विषय हैं उनमे कुछ मनोज्ञ विषय रहते हैं और कुछ अमनोज्ञ विषय रहते हैं। उनमे से जो मनोज्ञ विषय हैं इन्द्रियोको अच्छे लगनेवाले विषय हैं उनमे राग नही करना चाहिए तथा जो अमनोज्ञ विषय है इन्द्रियोको बुरे लगनेवाले विषय हैं उनमे द्वेष नही करना चाहिए। पाँचों इन्द्रियोको अच्छे लगनेवाले विषयोमे रागका त्याग कर देना और बुरे लगनेवाले विषयोंमें द्वेषका त्याग कर देना ही इस व्रतकी भावनाएँ हैं ॥९३॥ इसका भी खुलासा यह है कि यदि शुभ कर्मोके उदयसे इष्ट पदार्थोंका संयोग हो जाय, सोना, चाँदी, भोजन, वस्त्र आदि उत्तम पदार्थ प्राप्त हो जायें तो सोना चाँदी आदि पदार्थोंको घटानेकी इच्छा करनेवाले श्रावकको उन पदार्थोंमें राग नहीं करना चाहिए। शांत और मध्यस्थ भावोंसे उसका उपभोग करना चाहिए ॥९४॥ यदि अशुभ

अथानिष्टार्थसंयोगो दुर्दैवाज्जायते नृणाम् । तथा द्वेषो न कर्तव्यो धनसंख्याकृतेप्सिना ॥९५
इष्टानिष्टादिलक्ष्मार्थं सुगमत्वान्न कथितं । रागद्वेषौ प्रसिद्धौ स्तः प्रयासः सुगमे वृथा ॥९६
अथातीचारसंज्ञाः स्युः दोषा संख्याव्रतस्य च । उक्ताः सूत्रकारेण त्याज्या व्रतविशुद्धये ॥९७

तत्सूत्रं यथा—

क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमा ॥५०

क्षेत्रं स्याद्वसतिस्थानं धान्याधिष्ठानमेव वा । गवाद्याधारमात्रं वा स्वीकृतं यावदात्मना ॥९८
ततोऽतिरिक्ते लोभान्मूर्च्छावृत्तिरतिक्रम । न कर्तव्यो व्रतस्थेन कुर्वतोपधितुच्छताम् ॥९९
वास्तु वस्त्रादिसामान्यं तत्संख्यां क्रियतां बुधै । अतीचारनिवृत्त्यर्थं कार्यो नातिक्रमस्तत ॥१००
हिरण्यध्वनिना प्रोक्तं वज्रमौक्तिकसत्फलम् । तेषां प्रमाणमात्रेण क्षणान्मूर्च्छा प्रलीयते ॥१०१
अत्र सुवर्णशब्देन ताम्रादिरजतादय । संख्या तेषां च कर्तव्या ध्येयान्नातिक्रमस्तत ॥१०२

कर्मके उदयसे मनुष्योको अनिष्ट पदार्थोका सयोग हो जाय, रोग या कुपुत्र या कलह करनेवाली स्त्रीका सयोग प्राप्त हो जाय तो धन-धान्यादिका परिमाण करनेवाले या घटानेकी इच्छा करनेवाले श्रावकोको उन अनिष्ट पदार्थोसे द्वेष नही करना चाहिए। उन अनिष्ट पदार्थोके सयोगको भी शांत और मध्यस्थ भावोसे भोगना चाहिए ॥९५॥ इष्ट और अनिष्ट शब्दोंका अर्थ सुगम है इसलिए उनका अलग लक्षण नही कहा है। इसी प्रकार राग और द्वेष शब्द भी प्रसिद्ध है अतएव उनका अर्थ भी नही बतलाया है क्योकि जिन शब्दोका अर्थ सुगमतासे मालूम हो जाय उनके अर्थ बतलानेमे परिश्रम करना व्यर्थ है ॥९६॥ इस परिग्रहपरिमाणव्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो सूत्रकारने भी *अपने सूत्रमे बतलाए हैं। अणुव्रती श्रावकोको अपने व्रत शुद्ध रखनेके लिये उन दोषोका भी त्याग कर देना चाहिए ॥९७॥

उन अतिचारोको कहने वाला जो सूत्र है वह यह है—क्षेत्र वास्तु हिरण्य सुवर्ण धन धान्य दासी दास और कुप्य पदार्थोका जितना परिणाम किया है उसको उल्लङ्घन करना परिग्रहपरिमाण-व्रतके अतिचार हैं ॥५०॥

आगे इन्हीका विशेष करते हैं। क्षेत्र शब्दका अर्थ रहनेका स्थान है अथवा जिसमे गेहूँ, जौ, चावल आदि धान्य उत्पन्न होते हैं ऐसे खेतोको भी क्षेत्र कहते हैं अथवा जिनमे गाय भैंस आदि पशु बाँधे जाते है ऐसे स्थानको भी क्षेत्र कहते हैं। ऐसे क्षेत्रका जितना परिमाण कर लिया है उससे अधिक क्षेत्रमे किसी लोभके कारण मूर्च्छा रखना, मोह रखना, ममत्व रखना अतिक्रम या अतिचार कहलाता है। अणुव्रतोको धारण करनेवाले और परिग्रहको घटानेकी इच्छा करनेवाले श्रावकको ऐसे अतिचारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥९८-९९॥ वस्त्र आदि सामानको वास्तु कहते हैं। बुद्धिमान श्रावकोको अतिचार या दोषोका त्याग करनेके लिये वस्त्रादिकोका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जो परिमाण नियत कर लिया है उसका उल्लङ्घन कभी नही करना चाहिये ॥१००॥ हिरण्य शब्दका अर्थ हीरा मोती मानिक आदि जवाहरात हैं ऐसे पदार्थोका परिमाण कर लेनेसे अणुव्रती श्रावकका ममत्व क्षणभरमे नष्ट हो जाता है ॥१०१॥ यहाँ सुवर्ण शब्दका अर्थ सोना, चाँदी, तावा, पीतल आदि धातु समझना चाहिये। अणुव्रती श्रावकको ऐसी धातुओंका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जितना परिमाण नियत किया है उसका

धनशब्दो गवाद्यर्थः स्याच्चतुष्पदवाचकः । विधेयं तत्परिमाणं ततो नातिक्रमो वरः ॥१०३
धान्यशब्देन मुद्गादि धान्यधान्यकमन्नकम् । व्रतं तत्परिमाणेन व्रतहानिरतिक्रमात् ॥१०४
दासकर्मरता दासी क्रीता वा स्वीकृता सती । तत्संख्या व्रतशुद्ध्यर्थं कर्तव्या सानतिक्रमात् ॥१०५
यथा दासी तथा दासः संख्या तस्यापि वेधसी । श्रेयाननतिक्रमो नैव हिंसातृष्णोपबृंहणात् ॥१०६
कुप्यशब्दो घृताद्यर्थं तद्भाण्डं भाजनानि वा । तेषामप्यल्पीकरणं श्रेयसे स्याद्व्रतार्थिनाम् ॥१०७
उक्ताः संख्याव्रतस्यास्य दोषाः संक्षेपतो मया । परिहार्याः प्रयत्नेन संख्याणुव्रतधारिणा ॥१०८
प्रोक्तं सूत्रानुसारेण यथाणुव्रतपञ्चकम् । गुणव्रतत्रयं वक्तुमुत्सहेऽधुना कवि ॥१०९
दिग्देशानर्थदण्डानां विरतिः स्याद्गुणव्रतम् । एकत्वाद्विरतेश्चापि त्रेधा विषयभेदतः ॥११०
दिग्विरतिर्यथानाम दिक्षु प्राच्यादिकासु च । गमनं प्रतिजानीते कृत्वा सीमानमार्हतः ॥१११

उल्लङ्घन कभी नहीं करना चाहिये ॥१०२॥ धन शब्दका अर्थ गाय भैंस घोड़ा आदि चार पैर वाले पशु हैं। अणुव्रती श्रावकको गाय भैंस आदि पशुओंका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जितने पशुओंका परिमाण नियत किया है उससे कभी बढ़ाना नहीं चाहिये ॥१०३॥ गेहूँ, जौ, उड़द, मूंग आदि सब प्रकारके अन्नोंको धान्य कहते हैं। परिग्रहका परिमाण करनेवाले श्रावकको इन धान्योंका परिमाण भी नियत कर लेना चाहिये तथा जितना परिमाण नियत किया है उसका उल्लङ्घन कभी नहीं करना चाहिये क्योंकि नियत किये हुए परिमाणका उल्लङ्घन करनेसे व्रतकी हानि होती है, व्रतमे दोष लगता है ॥१०४॥ घरका काम काज करनेवाली स्त्रीको दासी कहते हैं, चाहे वह खरीदी हो, नोकर रक्खी हुई हो अथवा और किसी तरहसे काम काजके लिये घरमें रख ली हो। अणुव्रती श्रावकोको अपना परिग्रह परिमाणव्रत शुद्ध रखनेके लिये दासियोंकी सख्या भी नियत कर लेनी चाहिये तथा जितनी सख्या नियत की है उसका उल्लङ्घन नहीं करना चाहिये ॥१०५॥ जिस प्रकार टहल चाकरी करनेवाली दासियाँ होती हैं उसी प्रकार दास होते हैं। अणुव्रती श्रावकको दासोकी संख्या भी नियत कर लेनी चाहिये और फिर नियत की हुई संख्याको कभी नही बढाना चाहिये क्योंकि नियत की हुई संख्याको बढा लेनेसे हिंसा और तृष्णाकी वृद्धि होती है ॥१०६॥ कुप्य शब्दका अर्थ घी तेल आदि रखनेके बर्तन अथवा रोटी पानी आदिके बर्तन हैं। व्रतोको धारण करनेवाले श्रावकोको उन बर्तनोकी सख्या भी घटा लेनी चाहिये क्योंकि ममत्व या परिग्रह जितना कम होता है उतना ही पाप कम लगता है तथा उतना ही आत्माका कल्याण अधिक होता है ॥१०७॥ इस प्रकार संक्षेपसे परिग्रह परिमाणके अतिचार या दोष बतलाये। परिग्रहपरिमाण नामके अणुव्रतको धारण करनेवाले श्रावकको प्रयत्न पूर्वक इनका त्याग कर देना चाहिये ॥१०८॥ जिस प्रकार पाँचो अणुव्रतोका स्वरूप सूत्रके अनुसार निरूपण किया है उसी प्रकार अब तीनों गुणव्रतोंका स्वरूप कहते हैं ॥१०९॥ दिशाओका त्याग करना (दिशाओंकी मर्यादा नियत कर उससे आगे आने जानेका त्याग करना) देशका त्याग (कुत्सित देशमे आनेका त्याग अथवा जो त्याग किया है उसको किसी कालकी मर्यादासे और घटाना) तथा अनर्थ दण्डोका त्याग (विना प्रयोजनके जिनमे पाप लगता है ऐसी क्रियाओका त्याग कर देना) इन तीनोंको गुणव्रत कहते हैं। यद्यपि त्यागकी अपेक्षासे ये तीनो ही एक हैं तथापि जिनका त्याग किया जाता है उन विषयोमे भेद होनेसे तीन प्रकारके कहलाते हैं ॥११०॥ भगवान् अरहन्तदेवकी आज्ञानुसार व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकको पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि सब दिशाओकी सीमा नियत कर

सरण्यत्र सिन्धवः शैला जनपदाश्च योजनाः । अनु तानवधिं कृत्वा गच्छेन्मर्यादितं न तद्बहिः ॥११२
पूर्वस्यां दिशि गच्छामि यावद्गङ्गानदी केवलम् । तद्बहिर्वपुषानेन न गच्छामि सचेतनः ॥११३
एवं कृतप्रतिज्ञस्य संवरः पापकर्मणः । तद्बहिः सर्वहिंसाया अभावात्तन्मुनेरिव ॥११४
परिमाणमथोदीच्यां पश्चिमायां दिशि स्मृता । मर्यादोर्ध्वमधश्चापि दक्षिणस्यां विदिक्षु च ॥११५
तत्करणे महच्छ्रेयो हिंसा तृष्णाद्वयात्ययात् । करणीयं ततोऽवश्यं श्रावकैर्व्रतधारिभिः ॥११६
सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्चेति सूत्रसाधिताः । सावधानतया त्याज्यास्तेऽपि तद्व्रतसिद्धये ॥११७

तत्सूत्रं यथा—

ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षेत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि ॥५१

उच्चैर्धात्रीधरारोहे भवेदूर्ध्वव्यतिक्रमः । अगाधभूधरादेशाद्विश्यातोऽधोव्यतिक्रमः ॥११८
क्वचिद्दिक्कोणदेशादौ क्षेत्रे दीर्घाध्ववर्तिनि । कारणाद् गमनं लोभाद् भवेत्तिर्यग्व्यतिक्रमः ॥११९

उससे आगे न जानेका नियम लेना दिग्व्रत अथवा दिग्विरतिव्रत कहलाता है ॥१११॥ वन, देश, पर्वत, नदी और बड़े बड़े देश इस दिग्व्रतकी सीमा कहलाते हैं। इनकी मर्यादा नियत करके उस मर्यादाके भीतर ही जाना चाहिये। मर्यादाके बाहर कभी नहीं जाना चाहिये ॥११२॥ जैसे मैं इस शरीरसे सचेतन अवस्थामे पूर्व दिशामे जहाँ तक गंगा नदी बहती है वहाँ तक जाऊँगा इससे आगे कभी नहीं जाऊँगा ॥११३॥ इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करनेवाले श्रावकको मर्यादाके बाहर मुनिके समान समस्त हिंसाका त्याग हो जाता है। अतएव उस श्रावकके मुनियोंके समान ही पापकर्मोंका संवर होता है ॥११४॥ जिस प्रकार यह पूर्व दिशाका उदाहरण दिया है उसी प्रकार उत्तर दिशामे, पश्चिम दिशामे, दक्षिण दिशामे, ईशान आग्नेय नैऋत्य वायव्यादिक चारो विदिशाओमे तथा ऊपरकी और नीचेकी ओर भी मर्यादा नियत कर उससे आगे न जानेकी प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये ॥११५॥ इस प्रकार दशो दिशाओमे मर्यादा नियत कर उससे आगे न जानेकी प्रतिज्ञा कर लेनेसे आत्माका बहुत भारी कल्याण होता है क्योंकि इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करनेसे हिंसा और तृष्णा दोनोंका त्याग हो जाता है। मर्यादा नियत कर लेने पर मर्यादाके बाहर फिर किसी भी प्रकारका सम्बन्ध रखनेकी तृष्णा नहीं रहती है और न किसी प्रकारकी हिंसा हो सकती है अतएव व्रत धारण करनेवाले श्रावकोको यह दिग्व्रत अवश्य धारण कर लेना चाहिये ॥११६॥ अन्य व्रतो-के समान इस दिग्व्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो कि सूत्रमे बतलाये हैं। इस दिग्व्रतको अच्छी तरह पालन करनेके लिये, निर्दोष या शुद्ध पालन करनेके लिये इन सब अतिचारोका त्याग भी बड़ी सावधानी के साथ कर देना चाहिये ॥११७॥

उन अतिचारोके कहनेवाला वह सूत्र यह है—ऊर्ध्वव्यतिक्रम अर्थात् ऊपरकी मर्यादाका उल्लङ्घन करना, अधोव्यतिक्रम अर्थात् नीचेकी मर्यादाका उल्लङ्घन करना, तिर्यग्व्यतिक्रम अर्थात् आठो दिशाओकी मर्यादाका उल्लङ्घन करना, क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ा लेना और नियत की हुई मर्यादाको भूल जाना ये पाँच दिग्व्रतके अतिचार हैं ॥५१॥

आगे इन्हीका विशेष वर्णन करते हैं। ऊँची पृथ्वी पर चढ़नेसे अथवा किसी पर्वत पर चढ़नेसे ऊर्ध्वव्यतिक्रम होता है। इस प्रकार किसी पर्वतकी बहुत नीची गुफामे जानेसे अधो-व्यतिक्रम होता है। भावार्थ—ऊपर और नीचेकी जितनी मर्यादा नियत कर ली है उसका उल्लङ्घन करना अतिचार है ॥११८॥ कोई कोई देश ऐसे हैं जो दिशाओके कोनोमे हैं और बहुत लम्बे हैं

यथा सत्यमितः क्रोशं शतं यावद् गतिर्मम । क्रोशा मालवदेशीया क्षेत्रवृद्धिश्च दूषणम् ॥१२०
स्मृतं स्मृत्यन्तराधानं विस्मृतं च पुनः स्मृतम् । दूषणं दिग्विरतेः स्यादनिर्णीतमियत्तया ॥१२१
प्रोक्तिता देशविरतिर्यावत्कालात्मवर्तिनी । तत्पर्यायाः क्षणं यामदिनमासर्तुवत्सरा ॥१२२
तद्विषयो गतित्यागस्तथा चाशनवर्जनम् । मैथुनस्य परित्यागो यद्वा मौनादिधारणम् ॥१२३
यथाद्य यदि गच्छामि प्राच्यामेवेति केवलम् । कारणान्नापि गच्छामि शेषदिक्त्रितये वशात् ॥१२४

अथवा उनका जो मार्ग है वह बहुत ही लम्बा है। मर्यादासे बाहर ऐसे किसी देश या क्षेत्रमें किसी लोभके कारणसे जाना तिर्यग्व्यतिक्रम नामका अतिचार कहलाता है। व्रती श्रावकोंको ऐसा अतिचार नहीं लगाना चाहिये ॥११९॥ यह ठीक है कि वह नगर यहाँसे सौ कोश है तथा यहाँसे सौ कोश तक जानेकी ही मेरी मर्यादा है परन्तु ये कोश मालव देशके कोश हैं इसको क्षेत्र वृद्धि नामका दोष कहते हैं। भावार्थ—देशके भेदसे कोशमें भी भेद होता है। जैसे उत्तरकी ओर (मेरठ सहारनपुरकी ओर) सोलह मीलके बारह कोश गिने जाते हैं परन्तु आगरेकी ओर सोलह मीलके आठ ही कोश होते हैं। कहीं कहीं पर तीन तीन मीलका भी एक कोश माना जाता है। जिस श्रावकने पहले सौ कोशकी मर्यादा नियत कर ली है वह श्रावक यदि काम पड़ने पर यह कहे कि कोश मालवदेशके कोशसे सम्भाले जायेंगे अथवा अन्य किसी देशके कोश मालवदेशके कोशसे भी बड़े हो और वह श्रावक वहाँके कोशोंसे अपनी मर्यादाके सौ कोश सम्भाले तो उसके क्षेत्र वृद्धि नामका दोष होता है क्योंकि पहले उसने साधारण या उस देशमें प्रचलित कोशोंसे मर्यादा नियत की थी और अब वह अपनी सौ कोशकी संख्याको तो नियत रखता है उसको तो नहीं बढ़ाता किन्तु कोशोंको बड़ा मानकर क्षेत्रकी मर्यादा बढ़ा लेता है अतएव व्रतका एक देश भंग होनेके कारण वह अतिचार या दोष कहलाता है। ऐसा दोष व्रती श्रावकको कभी नहीं लगाना चाहिए ॥१२०॥ जो मर्यादा नियत की थी वह पहले तो स्मरण थी, फिर कुछ दिन बाद उसे भूल गया अथवा नियत संख्याको भूल कर कोई और संख्या स्मरण हो आई ऐसे दोषको स्मृत्यन्तराधान कहते हैं। निश्चय न होनेके कारण व्रतका निश्चय भी नहीं हो सकता इसलिए यह दोष व्रतका एक देशभंग करनेवाला है। ऐसा अतिचार व्रती श्रावकको कभी नहीं लगाना चाहिए ॥१२१॥ अब आगे देशव्रतका निरूपण करते हैं। किसी नियत समय तक त्याग करनेको देशविरति या देशव्रत कहते हैं। नियत समय तक अथवा थोड़े कालतकका अर्थ एक पहर, एक दिन, एक महीना, एक ऋतु या दो महीना अथवा एक वर्ष लेना चाहिए। भावार्थ—एक पहर, एक दिन, एक महीना, एक वर्ष आदि कालकी मर्यादा नियत कर किसी भी पाप रूप क्रियाका त्याग करना देशविरति नामका व्रत कहलाता है ॥१२२॥ इस व्रतका विषय गमन करनेका त्याग, भोजन करनेका त्याग, मैथुन करनेका त्याग अथवा मौन धारण करना आदि है। भावार्थ—यहाँ पर देश शब्दका अर्थ एकदेश है, व्रती श्रावकने जो जो व्रत धारण कर रक्खे हैं उनमें जन्म भरके लिए जिन जिन पापरूप क्रियाओंका त्याग कर रक्खा है उन पापरूप क्रियाओंको किसी कालकी मर्यादा नियत कर और अधिक त्याग कर देना देशव्रत है। यह व्रत समस्त व्रतोंकी मर्यादाका और संक्षेप करता है, परन्तु करता है कुछ कालके लिये, इसीलिये इसको देशव्रत कहते हैं ॥१२३॥ जैसे यदि आज मैं कहीं जाऊँगा तो केवल पूर्व दिशामें ही जाऊँगा। यदि आज मुझे जानेके लिये कोई विशेष कारण भी मिल जायगा तो भी मैं बाकीकी तीन दिशाओंमें नहीं जाऊँगा ॥१२४॥

यथा वा यावदद्याह्नि भूयान्मेऽनशनं महत् । यद्वा तत्रापि रात्रौ च ब्रह्मचर्यं ममास्तु तत् ॥१२५
यथा वा वर्षासमये चातुर्मास्येऽत्र योगिवत् । इत स्थानान्न गच्छामि क्वापि देशान्तरे अवधात् ॥१२६
परिपाट्यानया योज्या वृत्ति स्याद्बहुविस्तरा । कर्तव्या च यथाशक्ति मातेव हितकारिणी ॥१२७
पञ्चातिचारसंज्ञा स्युर्दोषा सूत्रोदिता बुधै. । देशविरतिरूपस्य व्रतस्यापि मलप्रदा ॥१२८

तत्सूत्रं यथा—

आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपा ॥५२

आत्मसङ्कल्पिताद्देशाद्बहि स्थितस्य वस्तुन । आनयेतीङ्गिते किञ्चिद् ज्ञापनानयन मतम् १२९
उक्तं केनाप्यनुक्तेन स्वयं तच्चानयाम्यहम् । एव कुर्विति नियोगो प्रेष्यप्रयोग उच्यते ॥१३०
शब्दानुपातनामापि दोषोऽतीचारसंज्ञकः । सदेशकारणं दूरे तद्व्यापारकरान् प्रति ॥१३१
दोषो रूपानुपाताख्यो व्रतस्यामुष्य विद्यते । स्वाङ्गाङ्गदर्शनं यद्वा समस्या चक्षुरादिना ॥१३२

अथवा आज अबसे लेकर दिन भर तक मेरे चारो प्रकारके आहारका त्याग है और आजकी रात्रिमे अपना पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करूँगा ॥१२५॥ अथवा वर्षा होनेके समयमे अथवा वर्षा ऋतुके चार महीनेमे मैं मुनिराजके समान इसी स्थान पर रहूँगा इतने दिन तक इस स्थानसे अन्य किसी भी देश या गाँवमें कभी नही आऊँगा ॥१२६॥ इस क्रमके अनुसार, इस परिपाटीके अनुसार इस देशव्रतका पालन करना चाहिये। इस परिपाटीके अनुसार इसका विस्तार बहुत कुछ बढ सकता है। व्रती श्रावकोको अपनी शक्तिके अनुसार इस व्रतका पालन अवश्य करना चाहिये क्योकि यह व्रत माताके समान आत्माका कल्याण करनेवाला है ॥१२७॥ इस देश विरति नामके व्रतको दूषित करनेवाले पाँच अतिचार हैं जो सूत्रमे बतलाये हैं। व्रती श्रावकोको उनका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१२८॥

वह सूत्र यह है—नियत की हुई मर्यादाके बाहरसे किसीको बुलाना या कोई पदार्थ मँगाना, मर्यादाके बाहर किसीको भेजना या किसीके द्वारा काम कराना, मर्यादाके भीतर रहते हुए मर्यादाके बाहर अपने शब्दसे ही काम निकालना अथवा अपना रूप दिखाकर अथवा शरीरके किसी इशारेसे मर्यादाके बाहर काम निकालना तथा ढेले पत्थर फेंक कर मर्यादाके बाहर रहनेवालोंके लिये कुछ इशारा करना या काम निकालना ये पाँच देशव्रतके अतिचार हैं। आगे इन्हीका विशेष वर्णन करते हैं ॥५२॥

देशव्रतको धारणा करनेवाले व्रती पुरुषने उस देशव्रतकी जितनी मर्यादा नियत कर ली है उसके बाहर रक्खे हुए पदार्थको मँगानेके लिये किसी पुरुषको किसी भी इशारेसे बतला देना आनयननामका अतिचार है ॥१२९॥ इसी प्रकार जिस किसी पुरुषको उस पदार्थको लानेके लिये आज्ञा नहीं दी है या कुछ भी इशारा नही किया है वह पुरुष यदि यह कहे कि मैं उस पदार्थको लाता हूँ उस पुरुषको 'तू ऐसा करना इस प्रकार करना' इस प्रकारकी आज्ञा न देनेको प्रेष्यप्रयोग कहते हैं ॥१३०॥ अपनी नियत की हुई मर्यादाके बाहर जो कोई व्यापार करनेवाले हैं या अपना काम करनेवाले मुनीम गुमास्ते नौकर चाकर हैं उनको अपने शब्दके द्वारा कोई भी सन्देश पहुँचाना, कोई भी कार्य बता देना अथवा वे अपने काममे लगे रहे इसलिए खकार मठार कर अपनी देखरेख या उपस्थिति बतला देना शब्दानुपात नामका अतिचार है। यह भी व्रतको दूषित करनेवाला है इसलिये व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१३१॥ मर्यादाके बाहर काम

अस्ति पुद्गलविक्षेपनामा दोषोऽत्र संयमे । इतो वा प्रेषणं तत्र पत्रिकाहेमवाससाम् ॥१३३
उक्तातीचारनिर्मुक्तं स्याद्देशविरतिव्रतम् । कर्तव्यं व्रतिनाऽवश्यं हिंसातृष्णाविहानये ॥१३४
व्रतं चानर्थदण्डस्य विरतिर्गृहमेधिनाम् । द्वादशव्रतवृक्षाणामेतन्मूलमिवाद्वयम् ॥१३५
एकस्यानर्थदण्डस्य परित्यागो न देहिनाम् । अस्तित्वं स्यादनायासात्सान्यथायासकोटिभि ॥१३६

स्वार्थं चान्यस्य संन्यासं विना कुर्यान्न कर्म तत् ।
स्वार्थस्त्वावश्यमात्मास्वार्थं सर्वो न सर्वत ॥१३७

यथाम्नाम विनोदार्थं जलादि-वनक्रीडनम् । कायेन मनसा वाचा तद्भेदा बहव स्मृता ॥१३८
कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवच काये । परिहृत्य कर्मसकल परम नैष्कर्म्यमवलम्बेत १३९
दोषा सूत्रोदिता पञ्च सन्त्यतीचारसंज्ञका । अनर्थदण्डत्यागस्य व्रतस्यास्यापि दूषिका ॥१४०

करनेवाले नौकर चाकर अपना काम करते रहे इसके लिये अपनी उपस्थिति या देखरेख सूचित करनेके लिये अपना शरीर दिखलाना या और किसी प्रयोजनके लिये मर्यादाके बाहर वालोको अपना शरीर दिखलाकर अपना प्रयोजन सिद्ध कर लेना अथवा आँख आदि शरीरके अवयवोसे मर्यादाके बाहर वालोको कोई इशारा करना रूपानुपात नामका अतिचार कहलाता है। यह अतिचार भी इस देशव्रतमे दोष लगानेवाला है इसलिये व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१३२॥ अपनी मर्यादामे रहते हुए मर्यादाके बाहर सोना-चाँदी वस्त्र चिट्ठी-पत्री आदि कोई भी पदार्थ भेजना अथवा मर्यादाके बाहर वालोको ढेले पत्थर फेंककर अपना कुछ भी प्रयोजन सिद्ध कर लेना पुद्गलक्षेप नामका अतिचार है। इस अतिचारसे भी इस व्रतका एकदेश भग होता है इसलिये व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१३३॥ इस देशव्रतको धारण करने-वाले श्रावकोको उचित है कि वे हिंसा और तृष्णा, ममत्व, लालसा, इन्द्रियोंके विषयोकी लालसा-को दूर करनेके लिये ऊपर कहे हुए अतिचारोको छोडकर इस देशव्रतका पालन अवश्य करें ॥१३४॥ अब आगे अनर्थदण्डविरति नामके व्रतका स्वरूप बतलाते हैं। अनर्थदण्डोका त्याग करने रूप अनर्थदण्डविरति नामके व्रतका पालन भी गृहस्थोको अवश्य करना चाहिये क्योकि यह अनर्थ-दण्डविरति नामका व्रत बारह व्रतरूपी वृक्षकी अद्वितीय या सबसे मुख्य जड है ॥१३५॥ इन अनर्थदण्डोमेसे किसी एक अनर्थदण्डका त्याग कर देना व्रत नही है क्योकि एक-एक अनर्थदण्डका त्याग बहुत आसानीके या विना किसी परिश्रमके हो जाता है तथा समस्त अनर्थदण्डोका त्याग करोडो परिश्रमसे भी नही होता है ॥१३६॥ जिसमे दूसरेके स्वार्थकी सिद्धि हो ऐसा कार्य सिवाय समाधिमरणके और कुछ नही करना चाहिये। वास्तवमे देखा जाय तो आत्माको अवश्य करने योग्य ऐसा आत्माका कल्याण करना ही स्वार्थ है। संसार सम्बन्धी और समस्त कार्य स्वार्थ नही हैं तथा वे पूर्णरूपसे स्वार्थ कभी नही हो सकते ॥१३७॥ जैसे चित्त प्रसन्न करनेके लिये जलक्रीडा करना, वनक्रीडा करना आदि सब अनर्थदण्ड कहलाता है। उसको मनसे करना, वचनसे करना, कायसे करना आदि रूपसे उसके अनेक भेद हो जाते हैं ॥१३८॥ मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनासे भूत भविष्यत और वर्तमानकाल सम्बन्धी समस्त पाप रूप कार्योका त्याग कर सबसे उत्तम उदासीन अवस्था धारण करनी चाहिये ॥१३९॥ इस अनर्थदण्डत्याग व्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो कि सूत्रकारने अपने सूत्रमे बतलाए हैं। ये अतिचार भी व्रतमे दोष लगाने वाले हैं इसलिए व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिए ॥१४०॥

तत्सूत्रं यथा—

कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि ॥५३

अस्ति कन्दर्पनामापि दोषः प्रोक्तव्रतस्य च । रागोद्रेकात्प्रहासादिमिश्रो वाग्योग इत्यपि ॥१४१
दोषः कौत्कुच्यसंज्ञोऽस्ति दुष्टकायक्रियादियुक् । पराङ्गस्पर्शनं स्वाङ्गैरथवान्याङ्गनादिषु ॥१४२
मौखर्यदूषणं नाम रतप्रायं वचः शतम् । अतीव गर्हितं धाष्टर्याद्वाच्यस्यैवं प्रजल्पनम् ॥१४३
असमीक्ष्याधिकरणमनल्पीकरणं हि यत् । अर्थात्स्वार्थमसमीक्ष्य वस्तुनोऽनवधानतः ॥१४४
यथाऽऽहारकृते यावज्जलेनास्ति प्रयोजनम् । नेतव्यं तावदेवात्र दूषणं चान्यथोचितम् ॥१४५
भुज्यते सकृदेवात्र स्यादुपभोगसंज्ञकः । यथा स्रक्चन्दनं माल्यमन्नपानौषधादि वा ॥१४६
परिभोगः समाख्यातो भुज्यते यत्पुनः पुनः । यथा योषिदलङ्कारवस्त्रागारगजादिकम् ॥१४७
आनर्थक्यं तयोरेव स्यादसम्भविनोर्द्वयोः । अनात्मोचितसंख्याया करणादपि दूषणम् ॥१४८

उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगपरिभोगानर्थक्य ये पाँच अनर्थदण्डव्रतके अतिचार हैं ॥५३॥

आगे इनका स्वरूप कहते हैं—रागकी तीव्रतासे हँसीसे मिले हुए अशिष्ट वचन कहना कन्दर्प कहलाता है। यह कन्दर्प भी अनर्थदण्डत्याग व्रतका पहला अतिचार है। कन्दर्प शब्दका अर्थ काम है। कामको बढ़ानेवाले जितने हँसीके वचन हैं अथवा जितने अशिष्ट वचन हैं उनके कहनेको कन्दर्प कहते हैं। ऐसे वचन कहनेसे परिणाम मलिन होते हैं तथा व्यर्थ ही पाप कर्मोंका बन्ध होता है इसलिए व्रती श्रावकको इस अतिचारका त्याग कर देना चाहिए ॥१४१॥ रागकी तीव्रतासे शरीरकी दुष्ट क्रिया करना कौत्कुच्य है। जैसे अपने शरीरसे अन्य स्त्रियोंका शरीर स्पर्श करना, भौंह चलाना, आँखें मटकाना आदि सब कामको बढ़ानेवाली शरीरकी चेष्टाओंको, शरीरकी क्रियाओंको कौत्कुच्य कहते हैं। इससे भी व्यर्थ ही पाप कर्मोंका बन्ध होता है इसलिए व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१४२॥ कामको बढ़ानेवाले अत्यन्त निन्दनीय सैकड़ों वचन कहना, अथवा धृष्टतापूर्वक बहुत बकवाद करना मौखर्य नामका अतिचार है। इससे भी व्यर्थ ही पापकर्मोंका बन्ध होता है इसलिए व्रती श्रावकको इसका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१४३॥ अपने प्रयोजन या आवश्यकताका विचार किये बिना असावधानीके साथ पदार्थोंका अधिक संग्रह करना असमीक्ष्याधिकरण कहलाता है। व्रती श्रावकको इस अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिये ॥१४४॥ जैसे भोजनादि बनानेके लिए जितने जलकी आवश्यकता हो उतना ही जल भरना चाहिये, उससे अधिक जल भरना अनर्थदण्ड है, अधिक जल भरनेसे व्यर्थका पाप लगता है अतएव आवश्यकतासे अधिक पदार्थोंका संग्रह कभी नहीं करना चाहिये ॥१४५॥ जो पदार्थ एक बार भोगे जाते हैं, एक बार काममें आते हैं उनको उपभोग कहते हैं जैसे माला, चन्दन, फूल, भोजन, पानी, औषध आदि ॥१४६॥ जो पदार्थ बार-बार भोगनेमें आते हैं उनको परिभोग कहते हैं जैसे स्त्री, अलंकार, वस्त्र, घर, हाथी, घोड़े आदि ॥१४७॥ उपभोग और परिभोग इन दोनोंको आवश्यकतासे अधिक इकट्ठा करना अनर्थदंडका अतिचार है। अथवा जिन पदार्थोंकी सम्भावना ही नहीं है, जो पदार्थ असम्भव हैं उनका परिमाण करना, अथवा जो पदार्थ अपनी योग्यतासे बाहर हैं, अपनी योग्यताके अनुसार जिन पदार्थोंका प्राप्त होना असम्भव है ऐसे पदार्थोंका त्याग

यथा दैवाच्च दुर्विधो वस्तुसंख्यां चिकीर्षति । मृदून्यन्यथाप्यर्थं यावन्न मृदूनपि ततोऽधिकम् ॥१४९
निर्दिष्टलक्षणस्य विरतिर्नाम्ना गुणव्रतम् । अतीचारविनिर्मुक्तं नूनं निःश्रेयसे भवेत् ॥१५०
शिक्षाव्रतानि चत्वारि सन्ति स्यादगृहमेधिनाम् । इतस्तान्यपि वक्ष्यामि पूर्वसूत्रानतिक्रमात् ॥१५१

तत्सूत्रं यथा—

सामायिकप्रोषधोपवासोपभोगपरिभोगपरिमाणातिथिसंविभागव्रतसम्पन्नश्च ॥५४

तत्रादौ सामायिकं प्रोक्तं साक्षात्साम्यावलम्बनम् । तदर्थं व्यवहारत्वात्पाठ कालासनादिमान् ॥१५२

तत्सूत्रं यथा—

समता सर्वभूतेषु संयमे शुभभावना । आर्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकव्रतम् ॥५५

तत्रार्थात्प्रातरुत्थाय कुर्यादात्मादिचिन्तनम् । एकोऽहं शुद्धचिद्रूपो नाहं पौद्गलिकं वपुः ॥१५३
चिन्तनीयं ततश्चित्ते सूक्ष्मं षड्द्रव्यलक्षणम् । तत्र संसारिणो मुक्ता जीवाश्चिन्त्या द्विधा यतः ॥१५४

करना या परिमाण करना अनर्थदण्ड व्रतका अतिचार है ॥१४८॥ जैसे कोई अत्यन्त दरिद्र पुरुष है और उसके अशुभ कर्मका उदय अत्यन्त प्रबल हो रहा है, वह यदि ऐसा प्रमाण करना चाहे कि संसारमे जितने अनित्य पदार्थ हैं उनकोंही ग्रहण करनेकी मेरी प्रतिज्ञा है। अनित्य पदार्थोंके सिवाय नित्य पदार्थोंको मैं कभी ग्रहण नही करूँगा यह परिमाण असम्भव पदार्थोंका है क्योंकि संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो अनित्य न हो अथवा ऐसा पदार्थ होना सर्वथा असम्भव है जो सर्वथा नित्य हो अतएव ऐसा परिमाण करना उपभोगपरिभोगपरिमाणनामक व्रतका अतिचार है ॥१४९॥ इस प्रकार अनर्थदंडविरतिनामक गुणव्रतका स्वरूप बतलाया। इस व्रतको अतिचार रहित पालन करनेसे ही आत्माका कल्याण होता है अतएव व्रती श्रावकोको अतिचाररहित ही व्रतोको पालन करना चाहिये ॥१५०॥ गृहस्थोके पालन करने योग्य शिक्षाव्रत चार हैं। अब सूत्रोंके अनुसार उन्ही शिक्षाव्रतोका वर्णन करते हैं ॥१५१॥

उन शिक्षाव्रतोका वर्णन करनेवाला सूत्र यह है—सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोगपरिभोग-परिमाण और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। व्रती गृहस्थ इन व्रतोका भी पालन करता है ॥५४॥

आगे इन्हीका वर्णन करते हुए सबसे पहले सामायिकका स्वरूप वर्णन करते हैं। शुद्ध आत्माका साक्षात् चिन्तवन करना सामायिक है अथवा शुद्ध आत्माका चिन्तवन करनेके लिए योग्य समय मे योग्य आसन से बैठकर सामायिकका पाठ करना भी सामायिक कहलाता है ॥१५२॥

सो ही सामायिक पाठमे लिखा है—समस्त जीवोमे समताभाव धारण करना, संयम पालन करनेके लिए सदा शुभ भावना रखना और आर्तध्यान तथा रौद्रध्यानका सर्वथा त्याग कर देना सामायिकव्रत कहलाता है ॥५५॥

उस सामायिक व्रतको पालन करनेके लिए प्रातःकाल उठकर शुद्ध आत्माका चिन्तवन करना चाहिये। मैं अकेला हूँ, शुद्ध हूँ और चैतन्यस्वरूप हूँ, पुद्गलका बना हुआ शरीर मेरा स्वरूप नहीं है, पुद्गल जड़ है मैं चैतन्यरूप हूँ अतएव पुद्गलसे सर्वथा भिन्न हूँ। इस प्रकार चिन्तवन करना चाहिये ॥१५३॥ तदनन्तर अपने हृदयमें छहों द्रव्योका सूक्ष्म स्वरूप चिन्तवन

तत्र संसारिणो जीवाश्चतुर्गतिनिवासिनः । कर्मनोकर्मयुक्तत्वाद् भ्रमिणोऽतीवदुःखिताः ॥१५५
पूर्वकर्मोदयाद् भावस्तेषां रागादिसंयुतः । जायतेऽशुद्धरूपो यस्तस्माद्बन्धोऽस्ति कर्मणाम् ॥१५६
एवं पूर्वापरीभूतो भावबन्धोऽन्योन्यहेतुकः । जायते न पृथक् कर्तुं यावत्संसारसंज्ञकः ॥१५७
एवं काऽनादिसन्तानाद्भ्रमति स्म चतुर्गतौ । जन्ममृत्युजरातङ्कदुःखाक्रान्तः स प्राणभृत् ॥१५८
तत्र कश्चन भव्यात्मा काललब्धिवशादिह । कृत्स्नकर्मक्षयं कृत्वा संसाराद्धि प्रमुच्यते ॥१५९
अस्ति सद्दर्शनज्ञानचारित्राण्यत्र कारणम् । हेतुस्तेषां समुत्पत्तौ काललब्धिः परं स्वतः ॥१६०
इत्यादि जगत्सर्वं स्व चिन्तयेत्तन्मुहुर्मुहुः । नूनं संवेगवैराग्यवर्द्धनाय महामतिः ॥१६१

उक्तं च—

जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम् ॥५६

चिन्तनानन्तरं चेति चिन्तयेदात्मनो गतिम् । कोऽहं कुतः समायातः क्व यास्यामि अवाहितः ॥१६२

करना चाहिये । फिर उन छह द्रव्योंमेसे भी जीव दो प्रकार हैं—एक संसारी और दूसरे मुक्त । इस प्रकार जीवोंके भेद प्रभेदोंका तथा उनके स्वरूपका चिन्तवन करना चाहिये ॥१५४॥ उन दोनो प्रकारके जीवोमेंसे जो जीव चारों गतियोमे निवास करते हैं, कर्म नोकर्म सहित होनेसे जो सदा परिभ्रमण करते रहते हैं और अत्यन्त दुखी रहते हैं उनको ससारी जीव कहते हैं ॥१५५॥ इस ससारी जीवके पूर्व कर्मोंके उदय होनेसे रागद्वेष रूप अशुद्धभाव उत्पन्न होते हैं तथा उन्हीं राग-द्वेष रूप अशुद्ध भावोंसे फिर नवीन कर्मोंका बन्ध होता है ॥१५६॥ जिस प्रकार बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज होता है अर्थात् बीज वृक्ष दोनो एक दूसरेसे उत्पन्न होते रहते हैं उसी प्रकार पहले कर्मोंके उदयसे रागद्वेष और उन रागद्वेषसे नवीन कर्मोंका बन्ध, तथा उन कर्मोंके उदयसे फिर रागद्वेष और उन रागद्वेषसे फिर नवीन कर्मोंका बन्ध होता रहता है । जब तक यह जीव ससारमे परिभ्रमण करता रहता है, तब तक यह कार्य कारण सम्बन्ध कभी छूट नही सकता ॥१५७॥ इस प्रकार यह जीव अनादिकालसे नरक तिर्यंच देव मनुष्य इन चारो गतियोमे परिभ्रमण करता रहता है तथा जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग आदि अनेक दु खोसे दु खी बना रहता है ॥१५८॥ उन ससारी जीवोमेंसे कोई भव्य जीव काललब्धिके प्राप्त हो जानेपर समस्त कर्मोंको नाश करके इस ससारसे छूटकर मुक्त हो जाता है । इस प्रकार सामायिक करते समय जीवोंके इन भेदोंके स्वरूप को चिन्तवन करना चाहिये ॥१५९॥ इसके साथ यह भी चिन्तवन करना चाहिये कि उन कर्मोंसे छूटनेके लिए या मोक्ष प्राप्त करनेके लिए सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही कारण हैं तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र उत्पन्न होनेके लिए काललब्धि कारण है और काललब्धि अपने आप प्रगट होती है ॥१६०॥ इस प्रकार महा बुद्धिमान् श्रावकको आत्माका संवेग और वैराग्य गुण बढ़ानेके लिए अपने आत्माका चिन्तवन करना चाहिये तथा इसी सवेग और वैराग्य गुणको बढ़ानेके लिए इस समस्त जगत्का स्वरूप बार-बार चिन्तवन करना चाहिये ॥१६१॥

तत्त्वार्थसूत्रमे लिखा भी है—जगत्का स्वरूप या स्वभाव चिन्तवन करनेसे संवेग बढ़ता है और शरीरका स्वभाव चिन्तवन करनेसे वैराग्य बढ़ता है ॥५६॥

इस प्रकार चिन्तवन कर लेनेके अनन्तर सामायिक करनेवालेको अपने आत्माका स्वरूप चिन्तवन करना चाहिये तथा विचार करना चाहिये कि "मैं कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, किस गति से आकर इस गतिमें जन्म लिया है और अब यहाँसे जो मुझे शीघ्र जाना है सो कहाँ जाना होगा

हेयं किं किमुपादेयं मम शुद्धचिदात्मनः । कर्तव्यं किं मया त्याज्यमधुना जीवनावधि ॥१६३
इति चिन्तयतस्तस्य संवेगो जायते गुणः । संसारभवभोगेभ्यो वैराग्यं चोपबृंहति ॥१६४
ततः साधुसमाधिश्च सामायिकव्रतान्वितः । ततः सामायिकीं क्रियां कुर्याद्वा शल्यवर्जितः ॥१६५
तज्जिनेन्द्रगुणस्तोत्रं पठेत्पद्यादिकक्रमम् । सिद्धानामथ साधूनां कुर्यात्सोऽपि गुणस्तुतिम् ॥१६६
ततोऽर्हद्भारतीं स्तुत्वा जगच्छान्तिमथोप च । क्षणं ध्यानस्थितो भूत्वा चिन्तयेच्छुद्धचिन्मयम् ॥१६७
ततः सम्पूर्णतां नीत्वा ध्यानं कालानतिक्रमात् । संस्तुतानां यथाशक्ति तत्पूजां कर्तुमर्हति ॥१६८
स्नानं कुर्यात्प्रयत्नेन संशुद्धे प्रासुकोदके । गृह्णीयाद्धौतवस्त्राणि दृष्टिपूतानि प्रायशः ॥१६९
ततः शनैः शनैर्गत्वा स्वसद्मस्थजिनालये । द्रव्याण्यष्टौ जलादीनि सम्यगादाय भाजने ॥१७०
तत्रस्थान् जिनबिम्बांश्च सिद्धयन्त्रान् समर्चयेत् । दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं स्थाप्य समर्चयेत् ॥१७१
शेषानपि यथाशक्ति गुणानभ्यर्चयेद् व्रती । अत्र संक्षेपमात्रत्वादुक्तमुल्लेखतो मया ॥१७२
अस्त्यत्र पञ्चधा पूजा मुख्यमाह्वानमादिका । प्रतिष्ठापनमत्राऽथ सन्निधीकरणं तथा ॥१७३

॥१६२॥ मेरे इस शुद्ध आत्माके लिए ऐसे कौन-कौनसे कार्य हैं अथवा ऐसे कौन-कौनसे पदार्थ हैं जो त्याग करने योग्य हैं, तथा ऐसे कौनसे पदार्थ हैं जो ग्रहण करने योग्य हैं। मुझे अब इस जन्म पर्यन्त क्या-क्या कार्य करने चाहिये और किन-किन कार्योंका त्याग कर देना चाहिये ॥१६३॥ इस प्रकार चिन्तवन करनेसे सामायिक करनेवालेके आत्माका संवेग गुण बढ़ता है तथा संसार, शरीर और भोगोंसे अथवा संसारमें उत्पन्न हुए भोगोंसे वैराग्य बढ़ता है ॥१६४॥ तदनन्तर सामायिक करनेवाले व्रती श्रावकको साधु समाधि करनी चाहिये। अपने आत्माके शुद्ध स्वरूपका चिन्तवन करने अथवा पंचपरमेष्ठीके स्वरूपका चिन्तवन करनेको साधु समाधि कहते हैं। इस प्रकार चिन्तवन कर लेनेके अनन्तर उस व्रती श्रावकको माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्योंको छोड़कर सामायिककी क्रिया करनी चाहिये ॥१६५॥ आगे उसी सामायिककी क्रियाको बतलाते हैं। अनुष्टुप्, जाति, उपजाति, वसन्ततिलका आदि छन्दोंमें भगवान् जिनेन्द्रदेवके गुणोंकी स्तुति पढ़नी चाहिये, अथवा सिद्ध परमेष्ठीकी स्तुति करनी चाहिये या साधुओंके गुणोंकी स्तुति करनी चाहिये ॥१६६॥ तदनन्तर भगवान् अरहन्तदेवकी कही हुई वाणीकी अर्थात् सरस्वती देवीकी स्तुति करनी चाहिये और संसारकी शान्तिकी कामनाके लिए शान्ति पाठ पढ़ना चाहिये ॥१६७॥ तदनन्तर समय पूरा हो जानेपर उस ध्यानको समाप्त कर देना चाहिये और फिर जिनकी स्तुति की है उनकी पूजा अपनी शक्तिके अनुसार करनी चाहिये ॥१६८॥ भगवान् अरहन्तदेव आदिकी पूजा करनेके लिए यत्नाचारपूर्वक शुद्ध और प्रासुक जलसे स्नान करना चाहिये। फिर धुले हुए वस्त्रोंको आंखोंसे देखकर पहिनना चाहिये ॥१६९॥ तदनन्तर जल चन्दन आदि आठों द्रव्योंको किसी उत्तम थाल आदि पात्रमें लेकर धीरे धीरे अपने घरके चैत्यालयमें जाना चाहिये ॥१७०॥ उस चैत्यालयमें विराजमान अरहन्तदेवके प्रतिबिम्बोंकी पूजा करनी चाहिये, सिद्धयन्त्रकी पूजा करनी चाहिये और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रको स्थापन कर उनकी पूजा करनी चाहिये ॥१७१॥ व्रती श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार आत्माके शेष उत्तम क्षमा आदि गुणोंकी भी पूजा करनी चाहिये। यह पूजा करनेका विधान पहले आचार्योंके कहे अनुसार हमने अत्यन्त संक्षेपसे कहा है ॥१७२॥ पूजा पंचोपचारी होती है अर्थात् पाँच प्रकारसे की जाती है। सबसे पहले आह्वान करना चाहिये, फिर स्थापन करना चाहिये, फिर सन्निधापन या सन्निधिकरण

ततः पूजनमप्यस्ति ततो नाम विसर्जनम् । पञ्चधेयं समाख्याता पञ्चकल्याणदायिनी ॥१७४
तद्विधिस्तत्र निर्दिष्टमहत्त्वप्युपलक्षितः । स्मृतौ संक्षेपसङ्केतार्थित्वेऽज्ञातीव विस्तरात् ॥१७५
एवमित्यावश्यकं स्यात्कर्तव्यं व्रतधारिभिः । अस्ति चेदात्मसामर्थ्यं कुर्याच्चाप्यपरं विधिम् ॥१७६
अर्चयेच्चैत्यगेहस्थानर्हद्बिम्बादिकानपि । गुर्वुपाध्यायसाधूंश्च पूजयेद् भक्तितो व्रती ॥१७७
ततो मुनिमुखोद्भूतं प्रोक्तं वा गृहसूरिभिः । धर्मस्य श्रवणं कुर्यादादराद् ज्ञानचक्षुषे ॥१७८
गृहकार्यं ततः कुर्यादात्मनिन्दाविमानयम् । ततो मध्याह्निके प्राप्ते पुनः कुर्यादमुं विधिम् ॥१७९
अतिथिसंविभागस्य भावनां भावयेदपि । मध्याह्नादीषदर्वाचि मातः कालव्यतिक्रमे ॥१८०
भोजयित्वा स्वयं यावत्क्षणं शेते सुखाशया । धारयेद्धर्मसंश्रवणं पूर्वाह्ने यच्छ्रुतं स्मृतेः ॥१८१
ऊहापोहोऽपि कर्तव्यः सार्द्धं चापि सधर्मिभिः । अस्ति चेद् ज्ञानसामर्थ्यं कार्यं शास्त्रावलोकनम् ॥१८२
गृहकार्यं ततः कुर्याद् भूयः संध्यावधेरिह । ततः सायतने प्राप्ते कुर्यात्सामायिकीं क्रियाम् ॥१८३
किन्त्वापराह्णिके काले जिनबिम्बान् प्रागर्चयेत् । ततः सामायिकं कुर्यादुक्तेन विधिना व्रती ॥१८४
ततश्च शयनं कुर्यान्निद्रामात्रं यथोचितम् । निशीथे पुनरुत्थाय कुर्यात्सामायिकीं क्रियाम् ॥१८५

करना चाहिये तदनन्तर पूजा करनी चाहिये और फिर विसर्जन करना चाहिये। इस प्रकार यह पूजा पाँच प्रकारकी बतलायी है। यह पाँच प्रकारसे की हुई पूजा पचकल्याणक फलको देनेवाली है ॥१७३–१७४॥ पूजाकी विधि बहुत बडी है यद्यपि उसको पूर्ण रीतिसे मैं कह सकता हूँ तथापि मैंने उसका उपलक्षण मात्र कहा है क्योंकि पूजाकी विधि तो बहुत बडी है और यह स्मृतिशास्त्र अथवा श्रावकाचार अत्यन्त संक्षेपसे केवल सकेतमात्र कहा है ॥१७५॥ व्रती श्रावकोको ऊपर लिखे अनुसार कर्तव्य तो अवश्य पालन करना चाहिये। यदि उसकी अधिक सामर्थ्य हो तो अन्य शास्त्रो के अनुसार उसे और विधि भी करनी चाहिये ॥१७६॥ तदनन्तर उस व्रती श्रावकको जिनालयमे जा कर वहाँपर विराजमान भगवान् अरहन्तदेवके बिम्बोकी पूजा करनी चाहिये तथा आचार्य उपाध्याय और साधुओकी पूजा भी भक्तिके साथ करनी चाहिये ॥१७७॥ तदनन्तर मुनिराजके मुखारविन्दसे कहे हुए धर्मका श्रवण करना चाहिये अथवा अपने ज्ञानरूपी नेत्रोकी ज्योति बढानेके लिये अपने घरके आचार्यके (गृहस्थाचार्य के) द्वारा कहे हुए धर्मका श्रवण बडे आदरके साथ करना चाहिये ॥१७८॥

तदनन्तर अपनी निन्दा करते हुए उस व्रती श्रावकको अपने घरके व्यापार-धन्धे करने चाहिये और दोपहरका समय होनेपर फिर भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करनी चाहिये ॥१७९॥ दोपहरके कुछ समय पहले अतिथिसंविभागव्रतकी भावनाका भी चिन्तवन करना चाहिये ॥१८०॥ फिर भोजन कर थोडी देर तक आराम करनेके लिये सोना चाहिये। फिर प्रातःकाल मुनियोंसे या गृहस्थाचार्यसे जो धर्म श्रवण किया था उसका मनन करना चाहिये, चिन्तवन करना चाहिये और धारण करना चाहिये ॥१८१॥ इसी समय धर्मात्माओंके साथ बैठकर धर्म चर्चा करनी चाहिये। यदि अपनेमें ज्ञानकी सामर्थ्य अधिक हो तो शास्त्रोका अवलोकन करना चाहिये ॥१८२॥ तदनन्तर फिर शाम तक घरके व्यापार-धन्धे करने चाहिये तथा शाम हो जानेपर सामायिक करना चाहिये ॥१८३॥ इसमे भी इतना विशेष है कि शाम हो जानेपर पहले भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करनी चाहिये और फिर उस व्रती श्रावकको ऊपर लिखी विधिके अनुसार सामायिक करना चाहिये ॥१८४॥ फिर सोना चाहिये। अपनी नींदके अनुसार तथा जितना उचित समझा जाय उतना सोना

तत्रार्धरात्रके पूजां न कुर्यादर्हतामपि । हिंसाहेतोरवश्यं स्याद्रात्रौ पूजाविवर्जनम् ॥१८६
एवं प्रवर्तमानोऽयं सागारो व्रतवानिह । स्वर्गादिसम्पदो भुक्त्वा निर्वाणपदभाग्भवेत् ॥१८७
सामायिकव्रतस्यापि पञ्चातीचारसंज्ञकाः । दोषाः सन्ति प्रसिद्धास्ते त्याज्याः सूत्रोदिता यथा १८८

तत्सूत्रं यथा—

योगदुष्प्रणिधानानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥५७

सामायिकादितोऽन्यत्र मनोवृत्तिर्यदा भवेत् । मनोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोऽतीचारसंज्ञकः ॥१८९
वाग्योगोऽपि ततोऽन्यत्र हुंकारादिप्रवर्तते । वचोदुष्प्रणिधानाख्यो दोषोऽतीचारसंज्ञकः ॥१९०
काययोगस्ततोऽन्यत्र हस्तसंज्ञादिदर्शने । वर्तते तदतीचारः कायदुष्प्रणिधानकः ॥१९१
यदाऽऽलस्यतया मोहात्कारणाद्वा प्रमादतः । अनुत्साहतया कुर्यात्तदाऽनादरदूषणम् ॥१९२
अस्ति स्मृत्यनुपस्थानं दूषणं प्रकृतस्य यत् । न्यूनं वर्णैः पदैर्वाक्यैः पठ्यते यत्प्रमादतः ॥१९३

चाहिये। फिर आधी रातके समय उठकर सामायिक करना चाहिये ॥१८५॥ इसमे भी इतना विशेष है कि आधी रातके समय भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा नहीं करनी चाहिये क्योंकि आधी रातके समय पूजा करनेसे हिंसा अधिक होती है। रात्रिमें जीवोंका संचार अधिक होता है तथा यथोचित रीतिसे जीव दिखाई भी नही पडते इसलिये रात्रिमे पूजा करनेका निषेध किया है ॥१८६॥ इस संसारमे इस प्रकार ऊपर लिखी हुई क्रियाओंको करता हुआ व्रती गृहस्थ स्वर्गादिकके अनुपम सुखोंको भोगकर अनुक्रमसे मोक्ष प्राप्त करता है ॥१८७॥ अन्य व्रतोंके समान इस सामायिक व्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो दोषोंके नामसे प्रसिद्ध हैं और जिनका वर्णन सूत्रमे भी किया है। व्रती श्रावकोंको उन अतिचारोंका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये ॥१८८॥

उन अतिचारोंको कहनेवाला जो सूत्र है वह यह है—मनोदुष्प्रणिधान अर्थात् मनके द्वारा अशुभ चिन्तवन, वचनदुष्प्रणिधान अर्थात् वचनके द्वारा अशुभ प्रवृत्ति, काय दुष्प्रणिधान अर्थात् शरीरके द्वारा अशुभ क्रियाका होना, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् भूल जाना ये पाँच सामायिकके अतिचार हैं ॥५७॥

आगे इन्हींका स्वरूप दिखलाते हैं। सामायिक करते समय अपने मनकी प्रवृत्ति सामायिकके सिवाय अन्य कार्योंमें लगाना—अपने आत्माके स्वरूपके चिन्तवनके सिवाय या पच परमेष्ठीके स्वरूपके चिन्तवनके सिवाय अन्य किसी भी पदार्थका चिन्तवन करना मनोदुष्प्रणिधान नामका दोष है जो सामायिकका पहला अतिचार कहलाता है ॥१८९॥ सामायिक करते समय हुँ हुं, हैं, हाँ आदि रूपसे वचनोंकी प्रवृत्ति सामायिकके सिवाय अन्य कार्यमे लगाना वचनदुष्प्रणिधान नामका दोष है। उस समय किसी भी कार्यके इशारेके लिए हैं, हाँ करना सामायिकका दूसरा अतिचार है ॥१९०॥ इसी प्रकार सामायिक करते समय अपने शरीरकी प्रवृत्ति सामायिकके सिवाय अन्य किसी भी कार्यमे लगाना, हाथ, उँगली, माथा, आँख, भौंह आदिके इशारेसे किसी भी कार्यका इशारा करना, किसी पदार्थको इशारेसे दिखलाना कायदुष्प्रणिधान नामका अतिचार कहलाता है ॥१९१॥ यह व्रती श्रावक जब कभी आलससे, मोहसे या प्रमादसे या अन्य किसी कारणसे बिना उत्साहके सामायिक करता है तब उसके अनादर नामका चौथा अतिचार लगता है ॥१९२॥ जब कभी यह व्रती श्रावक प्रमादी होकर वर्णरहित (अक्षररहित) पदरहित या वाक्य-

एवमेतं सामायिकं नाम व्रतं चाणुव्रतात्मनाम् । अतीचारविनिर्मुक्तं भवेत्संसारविच्छिदे ॥१९४
स्यात्प्रोषधोपवासाख्यं व्रतं च परमौषधम् । जन्ममृत्युजरातङ्कविध्वंसनविचक्षणम् ॥१९५
चतुर्धाऽशनसन्त्यागो यावद् यामाश्च षोडश । स्थितिर्निरवद्यस्थाने व्रतं प्रोषधसंज्ञकम् ॥१९६
कर्तव्यं तदवश्यं स्यात्पर्वण्यां प्रोषधव्रतम् । अष्टम्यां च चतुर्दश्यां यथाशक्त्यापि चान्यथा ॥१९७
धारणाह्नि त्रयोदश्यां मध्याह्ने कृतभोजन । तिष्ठेत्स्थाने समासाद्य नीराग निरवद्यकम् ॥१७८
तत्रैव निवसेद् रात्रौ जागृतो यथाबलम् । प्रातरादिदिनं कृत्स्नं धर्मध्यानैर्नयेद् व्रती ॥१९९
जलपानं निषिद्धं स्यान्मुनिवत्तत्र प्रोषधे । न निषिद्धाऽनिषिद्धा स्यादर्हत्पूजा जलादिभि. ॥२००
यदा सा क्रियते पूजा न दोषोऽस्ति तदापि वै । न क्रियते सा तदाप्यत्र दोषो नास्तीह कश्चन ॥२०१
एवमित्यादि तत्रैव नीत्वा रात्रिं स धर्मधी । कृतक्रियोऽशन कुर्यान्मध्याह्ने पारणादिने ॥२०२

रहित सामायिकका पाठ पढ़ता है या शीघ्रताके साथ पढता है या पढते-पढते भूल जाता है या कुछ छोडकर आगे पढ़ने लगता है तब उसके स्मृत्यनुपस्थान नामका सामायिकका पाँचवाँ अतिचार होता है ॥१९३॥ इस प्रकार अणुव्रत धारण करनेवाले व्रती श्रावकोंके लिये सामायिक नामके शिक्षाव्रतका स्वरूप कहा। यदि इस व्रतको अतिचाररहित पालन किया जाय तो इस जीवके संसार परिभ्रमणका अवश्य ही नाश हो जाता है और मोक्षकी प्राप्ति अवश्य होती है ॥१९४॥

आगे प्रोषधोपवासव्रतका स्वरूप कहते हैं। जन्म, मरण, बुढ़ापा, रोग आदि ससार सम्बन्धी समस्त दु खो को, समस्त रोगोको नाश करनेके लिये यह प्रोषधोपवास नामका व्रत एक विलक्षण और सबसे उत्तम औषधि है ॥१९५॥ सोलह पहर तक चार प्रकारके आहारका त्याग कर देना और जिनालय आदि किसी भी निर्दोष स्थानमे रहना प्रोषधोपवासव्रत कहलाता है ॥१९६॥ यह प्रोषधोपवास नामका व्रत अष्टमी और चतुर्दशी इन दोनो पर्वोके दिनोमे अवश्य करना चाहिये ॥१९७॥ यदि चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करना हो तो इस व्रतको त्रयोदशीके दिन ही ग्रहण करना चाहिये। त्रयोदशीके दिन मध्याह्नमे या दोपहरके समय एक बार भोजन करना चाहिए तथा भोजनके बाद किसी निर्दोष और रागरहित स्थानमे जाकर रहना चाहिये ॥१९८॥ बाकी दिन उसे वही बिताना चाहिये, रात्रिमे भी वही निवास करना चाहिये। उस रातको अपनी शक्तिके अनुसार जगते रहना चाहिये। प्रात काल उठकर उस व्रती श्रावकको वह समस्त दिन धर्मध्यानसे बिताना चाहिये ॥१९९॥ प्रोषधोपवासके दिन उस व्रती श्रावकको जल नही पीना चाहिये। आचार्योंने प्रोषधोपवासके दिन मुनियोके समान ही जलपानका निषेध किया है। इसमे भी इतना और समझ लेना चाहिये कि उस व्रती श्रावकको जलके पीनेका निषेध है, जल चन्दन अक्षत आदि आठो द्रव्योसे भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करनेका निषेध नही है ॥२००॥ प्रोषधोपवासके दिन भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करनेके लिये आचार्योंकी ऐसी आज्ञा है कि व्रती श्रावक यदि प्रोषधोपवाससे दिन भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करे तो भी कोई दोष नही है। यदि उस दिन वह पूजा न करे तो भी कोई दोष नही है ॥२०१॥ उस धर्मात्मा व्रती श्रावकको वहीं पर उस दिनकी रात्रि व्यतीत करनी चाहिये तथा पारणाके दिन अर्थात् पूर्णिमाके दिन प्रात काल उठकर पूजा, स्वाध्याय, ध्यान आदि अपना नित्य कर्तव्य करना चाहिये और दोपहरके समय एक बार भोजन करना चाहिये ॥२०२॥ धारणाके दिनसे लेकर अर्थात् त्रयोदशीसे लेकर तीन दिन तक त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूर्णिमा इन तीनों दिन उसे ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिये। यह

ब्रह्मचर्यं च कर्तव्यं यावत्तावद्दिनत्रयम् । परस्त्रीविनिवृत्तिर्वा प्रागिवं स्यात्स्वकलत्रके ॥२०३
सन्तु प्रोषधोपवासस्य दोषाः पञ्चोदिताः स्मृतौ । निरस्यास्ते व्रतस्थैस्ते सागारैरपि यत्नतः ॥२०४

तत्सूत्रं यथा—

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ॥५८

जीवाः सन्ति न वा सन्ति कर्तव्यं प्रत्यवेक्षणम् । चक्षुर्व्यापारमात्रं स्यात्सूत्रात्तल्लक्षणं यथा ॥२०५
प्रमार्जनं च मृदुभिः यथोपकरणैः कृतम् । उत्सर्गादानसंस्तरविषयं चोपबृंहणम् ॥२०६
अप्रत्यवेक्षितं तत्र यथा स्यादप्रमार्जितम् । मूत्राद्युत्सर्ग एवास्ति दोषः प्रोषधसंयमे ॥२०७
यथोत्सर्गस्तथाऽऽदानं संस्तरोपक्रमस्तथा । तन्नामानो व्यतीचारा दोषाः प्रोक्ता व्रतस्य ते ॥२०८
ज्ञेयः पूर्वोक्तसद्धर्मोऽनुत्साहोऽप्यनादरः । प्रोषधोपोषितस्यास्य दोषोऽतीचारसंज्ञकः ॥२०९
स्यात्स्मृत्यनुपस्थानं सूचनं प्रोषधस्य तत् । अनेकार्थं तदेव स्याल्लक्षणादपि लक्षणम् ॥२१०

ध्यानमे रखना चाहिये कि ऐसे व्रती श्रावकके लिये परस्त्रीका निषेध या त्याग तो पहले ही कह चुके हैं। अब यहाँ पर जो तीन दिनके लिये ब्रह्मचर्यका पालन बतलाया है वह अपनी विवाहिता धर्मपत्नीके सेवन करनेका त्याग बतलाया है ॥२०३॥ अन्य व्रतोंके समान इस प्रोषधोपवासके भी श्रावकाचारोमे पाँच अतिचार बतलाये हैं। व्रती श्रावकोको इन पाँचो अतिचारोका त्याग बडे प्रयत्नसे कर देना चाहिये ॥२०४॥

वह सूत्र यह है—अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-उत्सर्ग अर्थात् बिना देखे बिना शोधे मलमूत्र करना या कोई वस्तु रखना, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-आदान अर्थात् बिना देखे बिना शोधे कोई वस्तु उठाना, अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण अर्थात् बिना देखे बिना शोधे साथरा या सोनेका बिछौना बिछाना, अनादर अर्थात् व्रतको उत्साहपूर्वक नही करना और स्मृत्यनुपस्थान अर्थात् उस दिन मनको स्थिर न रखकर चचल रखना ये पाँच प्रोषधोपवासके अतिचार हैं ॥५८॥

आगे इन्हीका विशेष वर्णन करते हैं। जीव हैं अथवा नही हैं इस बातको जाननेके लिये नेत्रोंसे खूब अच्छी तरह देखना प्रत्यवेक्षण कहलाता है। प्रत्यवेक्षणका लक्षण सूत्रोमे यही बतलाया है ॥२०५॥ कोमल वस्त्रोसे पोछना झाडना प्रमार्जन कहलाता है। किसी वस्तुको रखना हो, उठाना हो या बिछौना या सांथरा बिछाना हो तो उन सबको खूब अच्छी तरह देखकर या कोमल वस्त्रसे झाड-पोछ कर रखना या उठाना चाहिये तथा देख-शोध कर बिछौना या साथरा बिछाना चाहिये जिससे किसी जीवका घात न हो। ऐसा करनेसे व्रत निर्दोष पलता है, व्रतकी वृद्धि होती है ॥२०६॥ बिना देखे बिना शोधे मल मूत्र करना या अन्य कोई पदार्थ रखना प्रोषधोपवासका पहला अतिचार है ॥२०७॥ जिस प्रकार बिना देखे बिना शोधे किसी पदार्थको रखना पहला अतिचार है उसी प्रकार बिना देखे और बिना शोधे झाडे किसी भी पुस्तक आदि धर्मोपकरणको उठा लेना अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-आदान नामका प्रोषधोपवास व्रतका दूसरा अतिचार कहलाता है तथा बिना देखे बिना शोधे साथरा बिछाना या सोनेके लिये चटाई आदि बिछाना इस प्रोषधोपवासव्रतका अप्रत्यवेक्षित-अप्रमार्जित-संस्तरोपक्रमण नामका तीसरा अतिचार है ॥२०८॥ अनादरका लक्षण जो पहले कह चुके हैं वही ग्रहण करना चाहिये अर्थात् इस प्रोषधोपवास व्रतको उत्साहपूर्वक न करना, बिना उत्साहके, बिना मनके करना प्रोषधोपवासका अनादर नामका चौथा अतिचार या दोष कहलाता है ॥२०९॥ प्रोषधोपवासके दिन मनको स्थिर न रखना, चंचल या डावांडोल

प्रोषधोपवासस्यात्र लक्षणं कथितं मया । इतः संख्योपभोगस्य परिभोगस्य वोच्यते ॥२११
निर्दिष्टं लक्षणं पूर्वं परिभोगोपभोगयोः । तयोः संख्या प्रकर्तव्या सागारैर्व्रतधारिभिः ॥२१२
सन्ति तत्राप्यतीचाराः पञ्च सूत्रोदिता बुधैः । परिहार्याः प्रयत्नेन श्रावकैर्धर्मवेदिभिः ॥२१३

तत्सूत्रं यथा—

सचित्तसम्बन्धसम्मिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः ॥५९

चिकीर्षन्नपि तत्संख्यां सचित्तं यो न मुञ्चति । दोषः सचित्तसंज्ञोऽस्य भवेत्संख्याव्रतस्य सः ॥२१४
तथाचित्तोऽपि यः कश्चित्सचेतनाधिष्ठितं च यत् । वस्तुसंख्यामकुर्वाणो भवेत्सम्बन्धदूषणम् ॥२१५
मिश्रितं च सचित्तेन वस्तुजातं च वस्तुना । स्वीकुर्वाणोऽप्यतीचारं सम्मिश्राख्यं च न त्यजेत् ॥२१६
आहारं स्निग्धमाहित्य ? दुर्जरं जठराग्निना । असंख्यातव्रतस्तस्य दोषो दुष्पक्वसंज्ञकः ॥२१७
उक्तातिचारनिर्मुक्तं परिभोगोपभोगयोः । सख्याव्रतं गृहस्थानां श्रेयसे भवति ध्रुवम् ॥२१८

रखना स्मृत्यनुपस्थान नामका पाँचवाँ अतिचार कहलाता है। इस अतिचारका यह लक्षण उपलक्षण-रूपसे कहा है। मनके समान वचन और शरीरको भी चचल रखना प्रोषधोपवासका अतिचार समझना चाहिये। इस प्रकार प्रोषधोपवासके पाँचो अतिचारोका वर्णन किया। प्रोषधोपवासव्रत धारण करनेवाले व्रती श्रावकको इन पाँचो अतिचारोका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥२१०॥ इस प्रकार प्रोषधोपवास व्रतका लक्षण बतलाया। अब आगे भोगोपभोगपरिमाणका लक्षण कहते हैं ॥२११॥ उपभोग और परिभोग दोनोका लक्षण पहले इसी अध्यायमे कह चुके हैं। व्रत धारण करनेवाले गृहस्थोको उपभोग और परिभोग दोनो प्रकारके पदार्थोंकी संख्या नियत कर लेनी चाहिये ॥२१२॥ इस उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो सूत्रमे भी बतलाये हैं। धर्मके स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् श्रावकोको बडे प्रयत्नसे इन अतिचारोका त्याग कर देना चाहिये ॥२१३॥

उन अतिचारोको कहनेवाला सूत्र यह है—सचित्त पदार्थोंका सेवन करना, सचित्तसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थोंका सेवन करना, सचित्तसे मिले हुए पदार्थोंका सेवन करना, रसीले पौष्टिक आहारका सेवन करना और दुष्पक्व अर्थात् जो अच्छी तरह नही पका है अथवा जो आवश्यकतासे अधिक पक गया है ऐसे पदार्थोंका सेवन करना ये पाँच उपभोग परिभोगपरिमाणके अतिचार हैं ॥५९॥

आगे इन्हीका वर्णन करते हैं। उपभोगपरिभोगपदार्थोंका परिमाण करनेकी इच्छा करने-वाला अर्थात् उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतको धारण करनेवाला श्रावक यदि सचित्त पदार्थोंका त्याग न करे तो उसके उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रतका सचित्त नामका अतिचार होता है ॥२१४॥ जो पदार्थ अचित्त हैं परन्तु उनका सम्बन्ध सचित्त पदार्थोंसे हो तो उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत करनेवाले श्रावकोको ऐसे पदार्थोंका भी त्याग कर देना चाहिए। यदि व्रती श्रावक ऐसे पदार्थोंका त्याग न करें तो उनको सचित्तसम्बन्ध नामका दूसरा अतिचार लगता है ॥२१५॥ यदि उपभोग-परिभोगपरिमाणव्रत करनेवाला व्रती श्रावक सचित्तसे मिले हुए पदार्थोंका त्याग न करे, सचित्तसे मिले हुए अचित्त पदार्थोंका सेवन करे तो उसके सचित्तसम्मिश्र नामका तीसरा अतिचार या दोष लगता है ॥२१६॥ जो पदार्थ चिकने और रसीले हैं तथा जो पेटकी अग्निसे पच नहीं सकते ऐसे पदार्थोंका त्याग न करना अभिषव नामका अतिचार है ॥२१७॥ जो पदार्थ अग्निके द्वारा अच्छी

अतिथिसंविभागाख्यं व्रतमस्ति व्रतार्थिनाम् । सर्वव्रतशिरोरत्नमिहामुत्र सुखप्रदम् ॥२१९
ईषन्मूर्ते च मध्याह्ने कुर्याद् द्वारावलोकनम् । दातुकामः सुपात्राय दानीयाय महात्मने ॥२२०
तत्पात्रं त्रिविधं ज्ञेयं तत्राद्यमुत्कृष्टमादिमम् । द्वितीयं मध्यमं ज्ञेयं तृतीयं तु जघन्यकम् ॥२२१

उक्तं च—

उत्कृष्टपात्रमनगारमणुव्रताढ्यं मध्यं व्रतेन रहितं सुदृशं जघन्यम् ।
निर्दर्शनं व्रतनिकाययुतं कुपात्रं युग्मोज्झितं नरमपात्रमिदं हि विद्धि ॥६०

एतेष्वन्यतमं प्राप्य दानं देयं यथाविधि । प्रासुकं शुद्धमाहारं विनयेन समन्वितम् ॥२२२
पात्रालाभे यथाचित्ते पश्चात्तापपरो भवेत् । अधमे निष्फलं जन्म भूयोभूयश्च चिन्तयेत् ॥२२३
कुपात्रायाप्यपात्राय दानं देयं यथायथम् । केवलं तत्कृपादानं देयं पात्रधिया न हि ॥२२४

तरह पका नहीं है जैसे कच्ची रोटी, बिना गली हुई दाल या भात, अथवा जो पदार्थ आवश्यकतासे अधिक पक गया जैसे, रोटी जली, जला हुआ शाक आदि, ऐसे पदार्थोंको दुष्पक्व कहते हैं। ऐसे पदार्थोंके सेवन करनेसे लोलुपता अधिक प्रतीत होती है तथा अधपके कच्चे पदार्थ पचते भी नहीं हैं, कठिनतासे पचते हैं अतएव उपभोगपरिभोगपरिमाणव्रत करनेवालोंको ऐसे दुष्पक्व पदार्थोंका भी त्याग कर देना चाहिए। यदि इस व्रतको पालन करनेवाला ऐसे पदार्थोंका त्याग न करे तो उसके दुष्पक्व नामका पाँचवाँ अतिचार लगता है। इस प्रकार इस व्रतके पाँचो अतिचारोंका निरूपण किया। व्रती श्रावकोंको अपना व्रत शुद्ध और निर्दोष रखनेके लिए इन पाँचो अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकार अतिचार रहित पालन किया हुआ यह उपभोगपरिभोगपरिमाण नामका व्रत गृहस्थोंके लिए अवश्य ही कल्याणकारी होता है ॥२१८॥ व्रत पालन करनेवालोंके लिए अतिथिसंविभागव्रत नामका भी एक उत्तम व्रत है। यह व्रत समस्त व्रतोंके मस्तक का रत्न है तथा इस लोक और परलोक दोनों लोकोमे सुख देनेवाला है ॥२१९॥ जिस महात्माके लिए, जिस देने योग्य सुपात्रके लिए दान देनेकी इच्छा हो ऐसे श्रावकको दोपहरके कुछ समय पहले द्वारालोकन करना चाहिये ॥२२०॥ जिनको आहार देना चाहिये ऐसे पात्रोंके तीन भेद हैं पहले उत्तमपात्र, दूसरे मध्यमपात्र और तीसरे जघन्यपात्र ॥२२१॥

कहा भी है—मुनियोंको उत्तम पात्र कहते हैं, अणुव्रती श्रावक मध्यमपात्र हैं, व्रतरहित सम्यग्दृष्टि श्रावक जघन्यपात्र हैं। सम्यग्दर्शनसे रहित और व्रतोंको पालन करनेवाले मिथ्यादृष्टि कुपात्र हैं और जो सम्यग्दर्शनसे भी रहित हैं तथा व्रतोंसे भी रहित हैं ऐसे मनुष्योंको अपात्र कहते हैं ॥६०॥

उत्तम मध्यम जघन्य इन तीनो पात्रोंमेसे जो कोई मिल जाय उसीको विधिपूर्वक दान देना चाहिये। दानमे जो आहार दिया जाय वह प्रासुक होना चाहिये और शुद्ध होना चाहिये तथा विनयपूर्वक देना चाहिये ॥२२२॥ यदि दैवयोगसे किसी पात्रका लाभ न हो तो अपने हृदयमें पश्चात्ताप करना चाहिये और इस अधम समयमें मेरा जन्म व्यर्थ जा रहा है इस प्रकार उसे बार बार चिन्तवन करना चाहिये ॥२२३॥ कुपात्र और अपात्रोंको भी उनकी योग्यतानुसार दान देना चाहिये, परन्तु इसमें इतना विशेष है कि कुपात्र अपात्रोंको दिया हुआ दान केवल करुणादान कहलाता है तथा करुणाबुद्धिसे ही देना चाहिये। उनको पात्र समझकर या पात्रबुद्धिसे दान कभी

अस्ति सूत्रोदितं सुष्ठु वक्ष्यमाणातिचारपञ्चकम् । अतिथिसंविभागाख्यव्रतरक्षार्थं परित्यजेत् ॥२२५

तत्सूत्रं यथा—

सचित्तनिक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ॥६१

सचित्ते पद्मपत्रादौ निक्षेपोऽन्नादिवस्तुनः । दोषः सचित्तनिक्षेपो भवेदन्वर्थसंज्ञकः ॥२२६
अपिधानमावरणं सचित्तेन कृतं यदि । स्यात्सचित्तापिधानाख्यं दूषणं व्रतधारिणः ॥२२७
आत्मसात्कीर्तं सुसिद्धान्नं त्वं प्रयच्छेति योजनम् । दोषः परोपदेशाख्यः करणात्स्यो व्रतात्मनः ॥२२८
प्रयच्छन्नप्यन्नादि गर्वमुद्वहते यदि । दूषणं लभते सोऽपि महामात्सर्यसंज्ञकम् ॥२२९
ईषन्न्यूनाच्च मध्याह्नाद्दानकालादधोऽथवा । ऊर्ध्वं तद्भावनाहेतोर्दोषः कालव्यतिक्रमः ॥२३०
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तं पात्रेभ्यो दानमुत्तमम् । । अतिथिसंविभागाख्यव्रतं तस्य सुखाप्तये ॥२३१
यथात्मज्ञानमाख्यातं संख्याव्रतचतुष्टयम् । अस्ति सल्लेखना कार्या तद्वतो मारणान्तिकी ॥२३२

नहीं देना चाहिये ॥२२४॥ अन्य व्रतोंके समान इस व्रतके भी सूत्रमे कहे हुए पाँच अतिचार हैं अतएव इस अतिथिसंविभाग व्रतकी रक्षा करनेके लिए, इस व्रतको निर्दोष पालन करनेके लिए उन पाँचों अतिचारोंका भी त्याग कर देना चाहिये ॥२२५॥

उन अतिचारोको कहनेवाला सूत्र यह है—आहारदान देते हुए सचित्त वस्तुपर रक्खे हुए पदार्थको दानमें देना, सचित्त वस्तुसे ढके हुए पदार्थको दान देना, दान देनेके लिए दूसरेको आज्ञा देना, मात्सर्य या ईर्षा करना और समयको टालकर आहारका समय बीत जानेपर द्वारावलोकन करना ये पाँच अतिथिसंविभागव्रतके अतिचार हैं ॥६१॥

आगे इन्हींका वर्णन करते हैं। सचित्त (हरित) कमलके पत्तेपर या केलेके पत्तेपर रक्खे हुए पदार्थको आहार दानमे देना सचित्तनिक्षेप नामका अतिचार है। जिसमें चेतनाके अंश हो उसको सचित्त कहते हैं, ऐसे सचित्त पदार्थपर रक्खे हुए दाल भात आदि पदार्थोंका दान देना सचित्तनिक्षेप नामका पहला अतिचार है ॥२२६॥ अपिधान शब्दका अर्थ ढकना है। जो दाल, भात, रोटी आदि पदार्थ हरे कमलके पत्ते आदि सचित्त पदार्थोंसे ढके हुए हैं ऐसे पदार्थोंका दान देनेसे व्रती श्रावकके लिए सचित्तापिधान नामका दूसरा अतिचार लगता है ॥२२७॥ "यह हमारा बना बनाया तैयार भोजन है इसको तुम दान देना" इस प्रकार दान देनेके लिए दूसरेको कहना व्रती श्रावकके लिए परव्यपदेश नामका तीसरा अतिचार है ॥२२८॥ यदि कोई दान देनेवाला दाता दानमें किसी निर्दोष अन्नको देवे परन्तु उसको देते हुए वह यदि अभिमान करे और यह समझे कि निर्दोष अन्न मैंने ही दिया है इस प्रकारका समझना या अभिमान करना महामात्सर्य नामका अतिचार कहलाता है ॥२२९॥ दान देनेका समय दोपहरके समयसे कुछ पहलेका समय है, उस आहार दान देनेके समयसे पहले अथवा उसके बाद यदि आहार दानकी भावना करनेके लिए द्वारावलोकन करे तो उसके कालातिक्रम नामका पाँचवाँ अतिचार होता है ॥२३०॥ जो व्रती श्रावक समयानुसार प्राप्त हुए उत्तम मध्यम जघन्य पात्रोंको ऊपर लिखे पाँचो अतिचारोंसे रहित दान देता है और इस प्रकार इस अतिथिसंविभाग व्रतको निर्दोष पालन करता है उसको स्वर्ग मोक्षके अनुपम सुखोकी प्राप्ति अवश्य होती है ॥२३१॥ इस प्रकार अपने ज्ञानके अनुसार चारों संख्याव्रतोंका अथवा शिक्षाव्रतोका निरूपण किया। तथा इन चारो व्रतोमे पापोका त्याग किया जाता है तथा नियतकाल तक त्याग किया जाता है या परिमाण किया जाता है इसलिये इन व्रतो

सोऽस्ति सल्लेखनाकालो जीर्णे वयसि चाथवा । दैवाद्घोरोपसर्गेऽपि रोगे साध्यतरेऽपि च ॥२३३
क्रमेणाराधनाशास्त्रप्रोक्तेन विधिना व्रती । वपुषश्च कषाययोः क्षयं कृत्वा तनुं त्यजेत् ॥२३४
धन्यास्ते वीरकर्माणो ज्ञानिनस्ते व्रतावहाः । येषां सल्लेखनामृत्युर्निष्प्रत्यूहतया भवेत् ॥२३५
दोषाः सूत्रोदिताः पञ्च सन्त्यतीचारसंज्ञकाः । अन्त्यसल्लेखनायास्ते संत्याज्याः पारलौकिकैः ॥२३६

तत्सूत्रं यथा—

जीवितमरणाशंसामित्रानुरागसुखानुबन्धनिदानानि ॥६२

आशंसा जीविते मोहाद् यथेच्छेदपि जीवितम् । यदि जीव्ये वरं तावद्दोषोऽयं यत्समस्यते ॥२३७
आशंसा मरणे चापि यथेच्छेन्मरणं द्रुतम् । वरं मे मरणं तूर्णं मुक्तः स्यां दुःखसङ्कटात् ॥२३८
दोषो मित्रानुरागाख्यो यन्नेच्छेन्मरणं क्वचित् । पुरस्तान्मित्रतो मृत्युर्वरं पश्चान्न मे वरम् ॥२३९

को संख्याव्रत कहते हैं। यहाँपर संख्या शब्दका अर्थ नियत की हुई संख्या अथवा परिमाण है इसीलिये इसको संख्याव्रत कहते हैं। अब आगे सल्लेखना व्रतको कहते हैं। व्रती श्रावकको मरण समयमें होनेवाली सल्लेखना भी अवश्य करनी चाहिये ॥२३२॥ जब अपनी आयु अत्यन्त जीर्ण हो जाय अर्थात् सबसे अधिक बुढ़ापा आ जाय अथवा दैवयोगसे कोई घोर उपसर्ग आ जाय (जलमें डूब जाय अथवा अग्निमें जल मरनेका समय आ जाय) अथवा कोई प्रबल और असाध्य रोग हो जाय तो वही समय सल्लेखनाका समय समझना चाहिये ॥२३३॥ व्रती श्रावकको आराधना-शास्त्रोंमें कही हुई विधिके अनुसार अनुक्रमसे शरीर और कषायोंको जीतना चाहिये और फिर शरीरका त्याग करना चाहिये ॥२३४॥ इस संसारमें वे ही व्रती श्रावक धन्य हैं, वे ही शूरवीर या वीर कर्म करनेवाले हैं और वे ही ज्ञानी हैं जिनका समाधिमरण विना किसी विघ्नके पूर्ण हो जाता है ॥२३५॥ इस सल्लेखनाव्रतके भी पाँच अतिचार हैं जो सूत्रकारने भी अपने सूत्रमें बतलाये हैं। परलोकमें सुख चाहनेवाले व्रती श्रावकोंको इस मरण समयमें होनेवाले सल्लेखनाव्रतके उन पाँचों अतिचारोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥२३६॥

उन अतिचारोंको कहनेवाला सूत्र यह है—जीवित रहनेकी आशा रखना, शीघ्र मरनेकी आशा रखना, मित्रोंमें प्रेम रखना, भोगे हुए सुखोंका अनुभव करना अथवा आगामी सुखोंकी चाह करना और निदान करना ये पाँच सल्लेखनाव्रतके अतिचार हैं ॥६२॥

आगे इन्हींका वर्णन करते हैं। मोहनीयकर्मके उदयसे जीवित रहनेकी आशा करना अथवा अपने जीवित रहनेकी इच्छा करना अथवा 'मैं यदि तब तक जीता रहूँ तो अच्छा' इस प्रकार नियत काल तक जीवित रहनेकी इच्छा करे तो उसके जीविताशंसा नामका पहला अतिचार होता है ॥२३७॥ "मुझे इस समय बहुत दुःख हो रहा है, यदि मेरा मरण शीघ्र हो जाय तो मैं इस भारी दुःखसे छूट जाऊँ" इस प्रकार विचार कर शीघ्र ही मरनेकी इच्छा करना मरणाशंसा नामका दूसरा अतिचार है ॥२३८॥ "मेरा मरण यदि मेरे मित्रके सामने ही होता तो अच्छा, मित्रके पीछे मेरा मरण होना अच्छा नहीं" इस प्रकार मित्रके सामने ही अपने मरणकी इच्छा करना मित्रानुराग नामका अतिचार है। मित्रानुराग शब्दका अर्थ मित्रोंमें प्रेम रखना है। सो इस प्रकार मित्रके सामने मरनेकी इच्छा करना भी मित्रानुराग है। अथवा पहले जो मित्रोंके साथ बालकपनमें क्रीडा की थी उसका स्मरण करना भी मित्रानुराग है। ऐसा स्मरण करनेसे भी परिणामोंकी निर्मलतामें कमी आ जाती है इसलिये समाधिमरण धारण करनेवालोंको इस

दोषः सुखानुबन्धाख्यो यथाजन्मनीह दुःखवान् ।
मृत्वापि व्रतमाहात्म्याद् भविष्येऽहं सुखी क्वचित् ॥२४०

दोषो निदानबन्धाख्यो यदीच्छेन्मरणं कुधीः । भवेयं व्रतमाहात्म्यादस्य घाताय तत्परः ॥२४१
यदि वा मरणं चेच्छेन्मोहोद्रेकात्स मूढधीः । भवेयं चोपकाराय मित्रस्यास्य व्रतान्वितः ॥२४२
यदि वा मरणं चेच्छेदज्ञानाद्वा सुखाशया । भूयान्मे व्रतमाहात्म्यात्स्वर्गश्रीरद्वितीयिनी ॥२४३
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्तमन्त्यसल्लेखनाव्रतम् । स्वर्गापवर्गसौख्यानां सुधापानाय जायते ॥२४४
उक्ता सल्लेखनोपेता द्वादशव्रतभावना । एताभिर्व्रतप्रतिमा पूर्णतां याति सुस्थिता ॥२४५

इति श्रावकाचारापरनामलाटीसंहितायां मृषात्यागादिलक्षणचतुष्क-गुणव्रतत्रिक-
शिक्षाव्रतचतुष्टयप्रतिमाप्रतिपादकः पञ्चमः सर्गः ॥५॥

●

अतिचारका भी त्याग कर देना चाहिये ॥२३९॥ "मैं इस जन्ममे बहुत दुःखी हूँ, मैंने जो ये व्रत पालन किये इनके माहात्म्यसे मैं मर कर किसी दूसरे स्थानमे आकर सुखी हूँगा" इस प्रकार चिन्तवन करना सुखानुबन्ध नामका अतिचार है। अथवा इस जन्ममे जिन-जिन सुखोका अनुभव किया है उनका स्मरण करना भी सुखानुबन्ध नामका अतिचार है ॥२४०॥ यदि समाधिमरण धारण करनेवाला कोई श्रावक अपनी दुर्बुद्धिके दोषसे यह चिन्तवन करे कि "मैं इस व्रतके माहात्म्यसे मर कर ऐसे स्थानमें उत्पन्न होऊँ जो इस अपने शत्रुका घात करूँ" यही सोचकर मरनेकी इच्छा करना निदान नामका अतिचार है ॥२४१॥ अथवा कोई मूर्ख मोहनीयकर्मके उदयसे यह चिन्तवन करे कि "मैं मर कर इस व्रतके माहात्म्यसे ऐसे स्थानमे उत्पन्न होऊँ जो अपने इस मित्रका अच्छा उपकार करूँ" इस प्रकार चिन्तवन कर मरनेकी इच्छा करना निदानबन्ध नामका अतिचार है ॥२४२॥ अथवा अपने अज्ञानसे सुखकी इच्छा करता हुआ वह समाधिमरण धारण करनेवाला यह चिन्तवन करे कि "मैं शीघ्र मर जाऊँ जिससे मुझे इस व्रतके माहात्म्यसे स्वर्गकी अद्वितीय लक्ष्मी प्राप्त हो।" इस प्रकार चिन्तवन कर मरनेकी इच्छा करना निदान नामका अतिचार है ॥२४३॥ जो व्रती मनुष्य ऊपर लिखे समस्त दोषोसे रहित इस मरणसमयके सल्लेखना-व्रतको पालन करते हैं अर्थात् इस सल्लेखनाव्रतको अतिचाररहित पालन करते हैं उनको स्वर्ग और मोक्षके अनुपम सुखरूपी अमृत अवश्य पीनेको मिलता है ॥२४४॥ इस प्रकार सल्लेखनाव्रतके साथ बारह व्रतोका तथा उनकी भावनाओका निरूपण किया। जो व्रती श्रावक इन सम्पूर्ण व्रतोको पालन करता है उसके व्रतप्रतिमा पूर्णरीतिसे पालन होती है। भावार्थ—इन सब व्रतोको निर्दोष और निरतिचार पालन करना व्रतप्रतिमा कहलाती है ॥२४५॥

इस प्रकार व्रतप्रतिमाका स्वरूप कहा।

इस प्रकार सत्याणुव्रत आदि चार अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चारो शिक्षाव्रतोको निरूपण करने वाला अथवा दूसरी प्रतिमाके स्वरूपको पूर्ण कहनेवाला यह पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥५॥

●

षष्ठ सर्ग

द्वादशव्रतशुद्धस्य विशुद्धेर्वर्धितात्मनः । मुक्तमुक्त्याचरणमिच्छतस्तत्परं ध्रुवे ॥१
स्यात्सामायिकप्रतिमा नाम्ना चाप्यस्ति तत्क्रमात् । तृतीया व्रतरूपा स्यात्कर्तव्या वेश्मवासिभिः ॥२
व्रतानां द्वादशं चात्र प्रतिपाल्यं यथोदितम् । विशेषादपि कर्तव्यं सम्यक् सामायिकव्रतम् ॥३
ननु व्रतप्रतिमायामेतत्सामायिकव्रतम् । तदेवात्र तृतीयायां प्रतिमायां तु किं पुनः ॥४
सत्यं किन्तु विशेषोऽस्ति प्रसिद्धः परमागमे । सातिचारं तु तत्र स्यादत्रातीचारवर्जितम् ॥५
किञ्च तत्र त्रिकालस्य नियमो नास्ति देहिनाम् । अत्र त्रिकालनियमो मुनेर्मूलगुणादिवत् ॥६
तत्र हेतुवशात् क्वापि कुर्यात्कुर्याच्च वा क्वचित् । सातिचारव्रतत्वाद्वा तथापि न व्रतक्षति ॥७
अत्रावश्यं त्रिकालेऽपि कार्यं सामायिकं जगत् । अन्यथा व्रतहानिः स्यादतीचारस्य का कथा ॥८
अन्यत्राप्येवमित्यादि यावदेकादशस्थिति । व्रतान्येव विशिष्यन्ते नार्वाचीनान्तरं क्वचित् ॥९

जो श्रावक बारह व्रतोके पालन करनेसे शुद्ध है तथा निर्मल सम्यग्दर्शनके प्रभावसे जिसकी विशुद्धि, जिसके आत्माकी निर्मलता अत्यन्त बढ़ती आ रही है और जो अपनी आत्माका कल्याण करनेके लिए उत्तम मुनिपदको धारण करनेकी इच्छा करता है ऐसे श्रावकको उत्कृष्ट आचरण धारण करना चाहिये ॥१॥ तीसरी प्रतिमाका नाम सामायिक प्रतिमा है। व्रती श्रावकोको दूसरी प्रतिमाके पालन करनेमे निपुण हो जानेपर तीसरी प्रतिमा पालन करनी चाहिये ॥२॥ इस तीसरी प्रतिमामे ऊपर कहे हुए बारह व्रतोका तो पालन करना ही चाहिये किन्तु इतना और विशेष है कि इसमे सामायिक नामका व्रत बहुत अच्छी तरहसे विधिपूर्वक करना चाहिये ॥३॥ यहाँपर शंकाकार शका करता है कि यह सामायिक नामका व्रत व्रतप्रतिमामें कहा है तथा वही सामायिक नामका व्रत इस तीसरी प्रतिमामे बतलाया सो इसमे क्या विशेषता है ॥४॥ ग्रन्थकार उत्तर देते हुए कहते हैं कि आपका कहना सत्य है जो सामायिक व्रतप्रतिमामे है वही सामायिक तीसरी प्रतिमामे है परन्तु उन दोनोमें जो विशेषता है वह शास्त्रोमे प्रसिद्ध है और वह विशेषता यह है कि व्रतप्रतिमामे जो सामायिक है वह अतिचार सहित पालन किया जाता है तथा इस तीसरी प्रतिमामे जो सामायिक है वह अतिचार रहित पालन किया जाता है ॥५॥ इसके सिवाय भी इसमे इतनी और विशेषता है कि व्रतप्रतिमामे श्रावकोको तीनो समय सामायिक करनेका नियम नही है किन्तु इस तीसरी सामायिक प्रतिमामे मुनियोंके मूलगुण आदिके समान तीनो समय सामायिक करनेका नियम है ॥६॥ दूसरी प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक सामायिक करता है और कभी किसी स्थानपर कारणवश नहीं भी करता है क्योंकि वहाँपर वह सामायिक व्रतको अतिचारसहित पालन करता है इसीलिये कभी किसी स्थानपर कारणवश सामायिक न करनेपर भी उसके व्रतकी हानि नहीं होती ॥७॥ परन्तु इस तीसरी सामायिक प्रतिमामें यह बात नहीं है। सामायिक प्रतिमाको धारण करनेवाले व्रती श्रावकको तीनो समय अवश्य सामायिक करना पड़ता है। यदि वह तीनों समयमेंसे एक समयमें भी सामायिक न करे तो उसके व्रतोंकी हानि हो जाती है फिर भला अतिचारोंकी तो बात ही क्या है ॥८॥ जो यह नियम तथा दूसरी प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकोंके व्रतोंसे विशेषता इस सामायिकमें बतलायी है वही विशेषता

शोभतेऽतीव संस्कारात् सानावाकरजो मणि । संस्कृतानि व्रतान्येव निर्जराहेतवस्तथा ॥१०
स्यात्प्रोषधोपवासाख्या चतुर्थी प्रतिमा शुभा । कर्तव्या निर्जराहेतु संवरस्यापि कारणम् ॥११
अस्त्यत्रापि समाधानं वेदितव्यं तदुक्तवत् । सातिचारं च तत्र स्यादत्रातीचारवर्जितम् ॥१२
द्वादशव्रतमध्येऽपि विद्यते प्रोषधं व्रतम् । तदेवात्र समाख्यानं विशेषस्तु विवक्षित ॥१३
अवश्यमपि कर्तव्यं चतुर्थप्रतिमाव्रतम् । कर्मकाननकोटीनामस्ति दावानलोपमम् ॥१४
पञ्चमी प्रतिमा चास्ति व्रतं सागारिणामिह । तत्सचित्तपरित्यागलक्षणं भक्ष्यगोचरम् ॥१५
इत पूर्वं कदाचिद्वै सचित्त वस्तु भक्षयेत् । इत परं स नाश्नुयात्सचित्त तज्जलाद्यपि ॥१६

ग्यारह प्रतिमातक सब प्रतिमाओमे समझ लेना चाहिये क्योंकि आगेकी प्रतिमाओमे बारह व्रत ही विशेषताके साथ पालन किये जाते हैं। उन आगेकी प्रतिमाओमे उन्ही व्रतोकी विशेष विधिके सिवाय और कुछ नही है ॥९॥ जिस प्रकार खानिमेसे निकला हुआ मणि स्वभावसे ही शोभायमान होता है परन्तु यदि उसको शानपर रखकर उसका विशेष संस्कार कर दिया जाय, उसके पहल आदि कर दिये जायं तो वह और अधिक शोभायमान होने लगता है उसी प्रकार व्रत पालन करना स्वभावसे ही कर्मोंकी निर्जराका कारण है परन्तु वे ही व्रत यदि अतिचार-रहित पालन किये जायँ, तथा विशेष विधिके साथ पालन किये जायँ तो कर्मोंकी विशेष निर्जराके कारण होते हैं ॥१०॥ चौथी प्रतिमाका नाम प्रोषधोपवास प्रतिमा है। यह प्रतिमा सबमे शुभ है, कर्मोंकी निर्जराका कारण और संवरका भी कारण है अतएव व्रती श्रावकोको इसका पालन अवश्य करना चाहिये ॥११॥ व्रतप्रतिमामे भी प्रोषधोपवास व्रत कहा है तथा यहांपर चौथी प्रतिमामे भी प्रोषधोपवास व्रत बतलाया है। इसका समाधान वही है जो ऊपर बतलाया है अर्थात् व्रत प्रतिमामे अतिचार सहित पालन किया जाता है तथा यहांपर चौथी प्रतिमामे वही प्रोषधोपवास व्रत अतिचाररहित पालन किया जाता है ॥१२॥ जो प्रोषधोपवास व्रत बारह व्रतोमे वा व्रत प्रतिमामे बतलाया है वही प्रोषधोपवासव्रत यहांपर चौथी प्रतिमामें बतलाया है, यहांपर चौथी प्रतिमामे होनेवाले प्रोषधोपवासव्रतमे उससे कुछ विशेषता है और वह विशेषता यही है कि बारह व्रतोका पालन करनेवाला व्रतप्रतिमावाला श्रावक अष्टमी चतुर्दशीको प्रोषधोपवास करता है तथा कभी किसी स्थानपर कारण मिलनेपर नही भी करता है तो भी उसके व्रतकी हानि नही होती। किन्तु चौथी प्रतिमावालेको प्रत्येक पर्वके दिन प्रोषधोपवास अवश्य करना पडता है, यदि चौथी प्रतिमावाला किसी भी स्थानपर किसी भी कारणसे किसी भी समय प्रोषधोपवास न करे तो फिर उसके व्रतकी अर्थात् चौथी प्रतिमाकी हानि हो जाती है। यही व्रतप्रतिमा और चौथी प्रतिमाके प्रोषधोपवासमे अन्तर है इसलिये ऊपर कहा गया है कि व्रत प्रतिमावाला अतिचार सहित पालन करता है और चौथी प्रतिमावाला अतिचाररहित पालन करता है ॥१३॥ यह प्रोषधोपवासव्रत कर्मरूपी करोडो वनोको जलानेके लिये दावानल अग्निके समान है, जिस प्रकार दावानल अग्नि करोडो वनोको भस्म कर देती है उसी प्रकार इस प्रोषधोपवासव्रतके पालन करनेसे करोडो जन्मके अनन्तानन्त कर्म नष्ट हो जाते हैं अतएव व्रती श्रावकोको इस चौथी प्रतिमाका पालन अवश्य करना चाहिये ॥१४॥

गृहस्थ व्रतियोकी पाँचवी प्रतिमाका नाम सचित्तत्यागप्रतिमा है। यह प्रतिमा केवल खाने योग्य पदार्थोंसे सम्बन्ध रखती है ॥१५॥ इस पाँचवी प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक इससे

भक्षणेऽत्र सचित्तस्य नियमो न तु स्पर्शने । तत्स्वहस्तादिना कृत्वा प्रासुकं चात्र भोजयेत् ॥१७
रात्रिभक्तपरित्यागलक्षणा प्रतिमाऽस्ति सा । विख्याता संख्यया षष्ठी सम्यक्श्रावककोचिता ॥१८
इत: पूर्वं कदाचिद्वा पय-पानादि स्यान्निशि । इतः परं परित्यागः सर्वथा पयसोऽपि तत् ॥१९
यद्वा विद्यते नात्र गन्धमाल्यादिलेपनम् । नापि रोगोपशान्त्यर्थं तैलाभ्यङ्गादि कर्म तत् ॥२०
किञ्च रात्रौ यथा भुक्तं वर्जनीयं हि सर्वथा । दिवा योषिद्व्रतं चापि षष्ठस्थानं परित्यजेत् ॥२१
अस्ति तस्यापि जन्मार्धं ब्रह्मचर्याधिवासितम् । तदर्धंसर्वसंन्यासलक्षणं फलवन्महत् ॥२२
नहि कालकलैकाऽपि काचित्तस्यास्ति निष्फला । मन्ये साधु स एवास्ति कृती सोऽपीह बुद्धिमान् २३
सप्तमी प्रतिमा चास्ति ब्रह्मचर्याह्वया पुनः । यत्रात्मयोषितश्चापि त्यागो निःशल्यचेतसः ॥२४
कायेन मनसा वाचा त्रिकालं वनितारतम् । कृतानुमननं चापि कारितं तत्र वर्जयेत् ॥२५
अस्ति हेतुवशादेव गृहस्थो मुनिरर्थतः । ब्रह्मचर्यव्रतं यस्माद् दुर्धरं व्रतसन्तती ॥२६

पहले अर्थात् चौथी प्रतिमातक कभी-कभी सचित्त पदार्थोंका भी भक्षण कर लेता था परन्तु अब इस प्रतिमाको स्वीकार करनेके बाद वह कभी भी सचित्त पदार्थका भक्षण नहीं करता है। यहाँ तक कि कच्चा जल भी कभी काममें नहीं लाता है ॥१६॥ इसमें भी इतना और समझ लेना चाहिये कि पाँचवी प्रतिमाको पालन करनेवाले श्रावकके सचित्त पदार्थोंके खानेका त्याग होता है सचित्त पदार्थोंके स्पर्श करनेका त्याग नहीं होता। पाँचवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक जलादिक सचित्त पदार्थोंको अपने हाथसे प्रासुक करके खा-पी सकता है ॥१७॥ इस प्रकार पाँचवीं प्रतिमाका निरूपण किया। अब आगे छठी प्रतिमाका वर्णन करते हैं। गृहस्थ व्रतियोंको पालन करने योग्य छठी प्रतिमाका नाम रात्रिभक्तत्यागप्रतिमा है ॥१८॥ इस प्रतिमाको स्वीकार करनेसे पहले अर्थात् पाँचवीं प्रतिमातक पालन करनेवाला श्रावक कदाचित् रात्रिमें पानी आदि पीता था परन्तु अब इस छठी प्रतिमाको स्वीकार कर लेनेपर वह श्रावक रात्रिमे पानी पीनेका भी सर्वथा त्याग कर देता है ॥१९॥ इस छठी प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक रात्रिमें गन्ध, पुष्पमाल आदिका सेवन नहीं कर सकता, न कोई लेप लगा सकता है तथा अपने किसी रोगको शान्त करनेके लिये रात्रिमें तैल लगाना या उबटन लगाना आदि कार्य भी नहीं कर सकता ॥२०॥ इस छठी प्रतिमाको पालन करनेवाला व्रती श्रावक जिस प्रकार रात्रिमें भोजनका सर्वथा त्याग कर देता है उसी प्रकार वह दिनमे स्त्रीसेवन करनेका भी सर्वथा त्याग कर देता है ॥२१॥ इस प्रकार जो श्रावक इस छठी प्रतिमाका पालन करता है उसका आधा जन्म तो ब्रह्मचर्यसे व्यतीत होता है तथा आधा जन्म सब प्रकारके आहारके त्यागपूर्वक व्यतीत होता है अतएव ससारमें वही जन्म सफल और महत्त्वशाली गिना जाता है ॥२२॥ इस प्रकार उसका दिन और रात्रि दोनो ही त्यागपूर्वक व्यतीत होते हैं इस प्रकार उसका एक समय भी निष्फल व्यतीत नहीं होता इसलिये संसारमें वही साधु है, वही कृती है और वही बुद्धिमान् गिना जाता है ॥२३॥ इस प्रकार छठी प्रतिमाका वर्णन किया। सातवी प्रतिमाका नाम ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। इस प्रतिमामें अपनी विवाहिता धर्मपत्नीका भी सर्वथा त्याग कर देना पड़ता है और अपना हृदय सर्वथा निःशल्य बना लेना पड़ता है ॥२४॥ इस ब्रह्मचर्य प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक मनसे, वचनसे, कायसे और कृत-कारित अनुमोदनासे भूत-भविष्यत् वर्तमान तीनों काल सम्बन्धी समस्त स्त्रीमात्रके सेवन करनेका त्याग कर देता है ॥२५॥ इस सातवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक किसी कारण

हेतुस्तत्रास्ति विख्यातः प्रत्याख्यानावृतेर्यथा । विपाकात्कर्मणः सोऽपि नेतुं नार्हति संयमम् ॥२७
उदयात्कर्मणो नाग्न्यं कर्तुं नालमयं जनः । क्षुत्पिपासादि दुःखं च सोढुं न क्षमते यतः ॥२८
ततोऽक्षमः गृहत्यागे सद्मन्येवात्र तिष्ठते । वैराग्यस्य परां काष्ठामधिरूढः स शुद्धधीः ॥२९
इतः प्रभृति सर्वेऽपि यावदेकादशस्थितिः । इयद्वस्त्रावृतास्तेऽपि विशेषा मुनिसन्निभाः ॥३०
अष्टमी प्रतिमा साऽथ प्रोच्यते वदतां वरः । सर्वतो देशतश्चापि यत्रारम्भस्य वर्जनम् ॥३१
इतः पूर्वमतीचारो विद्यते वधकर्मणः । सचित्तस्पर्शनत्वाच्च स्वहस्तेनाम्भसां यथा ॥३२
इतः प्रभृति यद् द्रव्यं सचित्तं सलिलादिवत् । न स्पर्शति स्वहस्तेन बह्वाऽऽरम्भस्य का कथा ॥३३
निजोत्स्वबन्धुवर्गाणां मध्येऽप्यन्यतमाश्रितः । सिद्धं भक्तादि भुञ्जीत यथालब्धं मुनिर्यथा ॥३४
क्वापि दैवादाहूतस्य बन्धुनाऽथ सधर्मिणा । तद्गेहे भुञ्जमानस्य न दोषो न गुणः पुनः ॥३५
किन्त्वायं सधनस्वामित्वे वर्तते व्रतवानपि । अर्थागावशमस्वानामाज्ञापरायणपरायणः ॥३६

विशेषसे गृहस्थ या श्रावक कहलाता है। वास्तवमें देखा जाय तो एक प्रकारसे मुनिके ही समान है क्योंकि समस्त व्रतोंके समुदायमें वह ब्रह्मचर्य व्रत सबसे अधिक कठिन है, इसका पालन करना अत्यन्त कठिन है इसलिये जिसने इस व्रतको पालन कर लिया उसे मुनिके ही समान समझना चाहिये ॥२६॥ ब्रह्मचर्यप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक मुनिपदको धारण नहीं कर सकता, इसका प्रसिद्ध कारण प्रत्याख्यानावरणकर्मका उदय ही समझना चाहिये ॥२७॥ प्रत्याख्यानावरण-कषायके उदयसे वह नग्नपना (मुनिवेष) धारण करनेके लिए समर्थ नही है, और भूख-प्यास आदिके दुःखको भी सहन करनेके लिए समर्थ नही है ॥२८॥ इसीलिए वह घरके त्याग करनेमे असमर्थ होता है, गृहस्थ अवस्थाका त्याग नही कर सकता। अत्यन्त शुद्ध बुद्धिको धारण करने-वाला ब्रह्मचारी श्रावक अवस्थामे ही रहकर उत्कृष्ट वैराग्यको धारण करता है ॥२९॥ इस सातवीं प्रतिमासे लेकर ग्यारहवी प्रतिमातकके समस्त श्रावक अपने नियत किये हुए वस्त्र रखते हैं। अपने नियत किये हुए वस्त्रोके साथ साथ वे मुनियोके ही समान माने जाते है ॥३०॥ इस प्रकार सातवी प्रतिमाका स्वरूप कहा। अब आगे वक्ताओमे श्रेष्ठ ग्रन्थकार आठवी प्रतिमाका स्वरूप कहते हैं। जिसमे आरम्भका सर्वथा भी त्याग है और एकदेश भी त्याग है। खेती व्यापार आदि आजीविकाके कार्योंके आरम्भका सर्वथा त्यागी होता है इसीलिये वह सर्वदेश आरम्भका त्यागी कहलाता है तथा सचित्त अभिषेक पूजन आदि क्रियाओके आरम्भका त्यागी होता है इसी-लिए वह एकदेश आरम्भका त्यागी कहलाता है ॥३१॥ इस आठवी प्रतिमाके स्वीकार करनेसे पहले वह सचित्त पदार्थोंका स्पर्श करता था, जैसे अपने हाथसे जल भरता था, छानता था और फिर उसे प्रासुक करता था। इस प्रकार करनेसे उसे अहिंसाव्रतका अतिचार लगता था। परन्तु इस आठवी प्रतिमाको धारण कर लेनेके अनन्तर वह जल आदि सचित्त द्रव्योको अपने हाथसे छूता भी नही है, फिर भला अधिक आरम्भ करनेकी तो बात ही क्या है ॥३२-३३॥ आठवी प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक अपने बन्धुवर्गोंमेंसे किसी एकके आश्रय रहता है तथा उसके यहाँ जैसा कुछ बना बनाया भोजन मिल जाता है उसे ही मुनिके समान निस्पृह होकर कर लेता है ॥३४॥ कभी कभी यदि कोई अन्य कुटुम्बी अथवा बाहरका कोई अन्य सधर्मी पुरुष भोजनके लिए बुला लेवे तो उसके घर भी भोजन कर लेता है। इस प्रकार भोजन करनेमें न तो उसके व्रतमें कोई दोष आता है और न कोई गुण बढ़ता है ॥३५॥ इस आठवी प्रतिमाको धारण

प्रक्षालनं च वस्त्राणां प्रासुकेन जलादिना । कुर्याद्वा स्वस्य हस्ताभ्यां कारयेद्वा सधर्मिणा ॥३७
बहुप्रलपितेनालं स्वस्मै वा परात्मने । यत्रारम्भस्य लेशोऽस्ति न कुर्यात्तामपि क्रियाम् ॥३८
नवमं प्रतिमास्थानं व्रतं चास्ति गृहाश्रमे । यत्र स्वर्णादिद्रव्यस्य सर्वतस्त्यजनं स्मृतम् ॥३९
इतः पूर्वं सुवर्णादिसंख्यामात्रापकर्षणम् । इतः प्रभृति वित्तस्य मूलादुन्मूलनं व्रतम् ॥४०
अस्त्यात्मैकशरीरार्थं वस्त्रवेश्मादि स्वीकृतम् । धर्मसाधनमात्रं वा शेषं निःशेषणीयताम् ॥४१
स्यात्पुरस्तादितो यावत्स्वामित्वं सद्मयोषिताम् । तत्सर्वं सर्वतस्त्याज्यं निःशल्यं जीवनावधि ॥४२
शेषो विधिस्तु सर्वोऽपि ज्ञातव्यः परमागमात् । सानुवृत्त व्रतं यावत्सर्वत्रैवैष निश्चयः ॥४३
व्रतं दशमस्थानस्थमननुमतनामकम् । यत्राहारादिनिष्पत्तौ देया नानुमतिः क्वचित् ॥४४
आदेशोऽनुमतिश्चाज्ञा सैवं कुर्विति लक्षणा । यद्वा स्वतः कृते कार्ये प्रशंसानुमतिः स्मृता ॥४५
अयं भाव्यः स्वतः सिद्धं यथालब्धं समाहरेत् । तदप्येकाभिरोधाख्यं तस्यैव किल संवरः ॥४६

करनेवाला श्रावक व्रती होनेपर भी दशवी प्रतिमासे पहले पहले अपने घरका स्वामी बना रहता है इसीलिए वह दूसरेके घर भोजन करनेका नियम नहीं लेता ॥३६॥ वह अपने वस्त्रोंको प्रासुक जलसे अपने हाथसे धोता है, अथवा अन्य किसी साधर्मी भाईसे धुलवा लेता है ॥३७॥ बहुत कहने से क्या ? थोडेसेमे इतना समझ लेना चाहिये कि आठवी प्रतिमाको धारण करनेवाला व्रती श्रावक अपने लिए अथवा किसी दूसरेके लिए ऐसी कोई भी क्रिया नही करता जिसमें लेशमात्र भी आरम्भ हो ॥३८॥ इस प्रकार आठवीं प्रतिमाका स्वरूप कहा। व्रती श्रावककी नौवी प्रतिमा का नाम परिग्रहत्याग प्रतिमा है। इस नौवी प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सोना चांदी रुपया पैसा आदि समस्त द्रव्यमात्रका त्याग कर देता है ॥३९॥ इस नौवी प्रतिमाको स्वीकार करने के पहले सोना चादी आदि द्रव्योका परिमाण कर रक्खा था तथा अपनी इच्छानुसार वह परिमाण बहुत कुछ घटा रक्खा था अर्थात् बहुत थोडे द्रव्यका परिमाण कर रक्खा था परन्तु अब इस प्रतिमाको धारण कर लेनेपर वह श्रावक सोना चादी आदि धनका त्याग सर्वथा कर देता है ॥४०॥ इस परिग्रहत्यागप्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक केवल अपने शरीरके लिए वस्त्र, घर आदि आवश्यक पदार्थोंको स्वीकार करता है अथवा धर्मसाधनके लिए जिन जिन पदार्थोंकी आवश्यकता पडती है उनको ग्रहण करता है। इसके सिवाय बाकीके समस्त पदार्थोंका—समस्त परिग्रहोका वह त्याग कर देता है ॥४१॥ इस नौवीं प्रतिमाको धारण करनेसे पहले वह घर और स्त्री आदिका स्वामी गिना जाता था, परन्तु इस नौवी प्रतिमाको धारण कर लेनेपर उसे जन्म-पर्यन्तातकके लिए पूर्णरीतिसे सबका त्याग कर देना पडता है और तब सब तरहसे शल्य-रहित हो जाता है ॥४२॥ इस प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावककी शेष विधि अन्य शास्त्रोसे जान लेनी चाहिए क्योंकि यह निश्चय है कि व्रतोका स्वरूप समस्त शास्त्रोमे एक-सा ही वर्णन किया है ॥४३॥ इस प्रकार नौवीं प्रतिमाका निरूपण किया। श्रावकोकी दशवीं प्रतिमाका नाम अनुमति त्याग प्रतिमा है। इस अनुमतित्याग प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक आहार आदि बनानेके लिये भी कभी अपनी सम्मति नहीं देता ॥४४॥ किसी कामके लिये आदेश देना, सलाह देना, आज्ञा देना, अथवा 'ऐसा करो' इस प्रकार कहना अथवा जो कार्य किसीने पहलेसे कर रक्खा है उसकी प्रशंसा करना आदिको अनुमति कहते हैं ॥४५॥ इसका भी अभिप्राय यह है कि दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक जैसा कुछ बना बनाया भोजन मिल जाता है उसीको ग्रहण

इदमिदं कुरु मैवेदमित्यादेशं न यच्छति । भुक्तिमत्रानुदिष्टं भुङ्क्ते मनसापि भोजयेत् ॥४७
गृहे तिष्ठेद् व्रतस्थोऽपि सोऽप्यनर्थादपि स्फुटम् । शिरःक्षौरमपि कुर्वीत न कुर्वीत यथामतिः ॥४८
यद्वा यावन्मुनिव्रतं नास्ति वेषधरो भवेत् । शिखासूत्रादि धत्ता वा न धत्ता वा यथेच्छया ॥४९
तिष्ठेद्देवालये यद्वा गेहे सावद्यवर्जिते । स्वसम्बन्धिगृहे भुङ्क्ते यद्वाहूतोऽन्यसद्मनि ॥५०
एवमित्यादिविन्यासं व्याख्यातं दशमव्रतम् । पुनरुक्तभयादत्र नोक्तमुक्तं पुनः पुनः ॥५१
व्रतं चैकादशस्थानं नाम्नानुद्दिष्टभोजनम् । वर्णीषन्मुनिस्तद्वान्निर्जराधिपतिः पुनः ॥५२
समुद्दिश्य कृतं यस्मादन्नपानौषधादि यत् । जानन्नेवं न गृह्णीयाद्ध्रुवमेकादशव्रती ॥५३
सर्वतोऽस्य गृहत्यागो विद्यते सन्मुनेरिव । तिष्ठेद्देवालये यद्वा वने वा मुनिसन्निधौ ॥५४
उत्कृष्टः श्रावको द्वेधा क्षुल्लकश्चैलकस्तथा । एकादशव्रतस्थौ द्वौ स्तो द्वौ निर्जरकौ क्रमात् ॥५५

कर लेता है। वह कहकर कुछ नही बनवाता। इस प्रकार जो श्रावक अपनी इच्छाको रोकनेरूप तपश्चरण करता है उसके कर्मोका संवर अवश्य होता है ॥४६॥

इस दसवी प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक 'ऐसा करो ऐसा करो' 'ऐसा मत करो, ऐसा भी मत करो' इस प्रकारकी आज्ञा किसीको नही देता। उसे जो कुछ बना बनाया शुद्ध प्रासुक भोजन मिल जाता है उसे ही वह मुनिके समान भोजन कर लेता है ॥४७॥ इस प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक व्रती होनेपर भी घरमे रहता है तथा अपने मस्तकके बाल बनवा लेता है अथवा नही भी बनवाता। बाल बनवाने अथवा न बनवानेमे जैसी उसकी इच्छा होती है वैसा ही करता है ॥४८॥ इस दशवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक जबतक मुनिव्रत धारण नही करता तबतक कोई विशेष वेष धारण नही करता। जैसा है वैसा ही बना रहता है। चोटी और यज्ञोपवीत धारण करता है अथवा नहीं भी करता ॥४९॥ इस दशवी प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक किसी देवालय (जिनालयमे या चैत्यालयमें) रहता है अथवा किसी निर्दोष या पापरहित मकानमे रहता है तथा अपने सम्बन्धियोके घर कुटुम्बियोंके घर भोजन करता है अथवा बुलानेपर किसी अन्य साधर्मीके घर भोजन कर लेता है ॥५०॥ इस प्रकार अत्यन्त संक्षेपसे दशवी प्रतिमाका स्वरूप कहा। पुनरुक्त दोषके भयसे जो ऊपरकी प्रतिमाओमे कहा हुआ विषय है वह बार-बार नही कहा है ॥५१॥ इस प्रकार दशवी प्रतिमाका स्वरूप कहा। अब आगे ग्यारहवीं प्रतिमाका नाम उद्दिष्टत्यागप्रतिमा है अथवा इस प्रतिमाको पालन करनेवाला अनुद्दिष्ट भोजन करनेवाला है इसलिए अनुद्दिष्टभोजन भी इस प्रतिमाका नाम है। इस प्रतिमाको पालन करनेवाला उत्कृष्ट श्रावक ईषत् मुनि अर्थात् मुनिका छोटा भाई गिना जाता है और कर्म निर्जराका स्वामी होता है ॥५२॥ इस ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक जो कुछ अन्नपान औषधि आदि उसके लिए बनाया गया होगा उसको जानता हुआ वह कभी ग्रहण नहीं करता है ॥५३॥ इस ग्यारहवी प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक मुनिके समान ही पूर्णरूपसे घरका त्याग कर देता है। वह उत्कृष्ट श्रावक घरका सर्वथा त्याग कर या तो देवालयमे रहता है अथवा किसी वनमे मुनियोंके संघमे रहता है ॥५४॥ इस ग्यारहवीं प्रतिमाको पालन करनेवाला श्रावक उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है तथा वह उत्कृष्ट श्रावक दो प्रकारका होता है—एक क्षुल्लक और दूसरा ऐलक। इन दोनोंके कर्मोकी निर्जरा उत्तरोत्तर अधिक-अधिक होती रहती है। भावार्थ—क्षुल्लकके जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उससे अधिक ऐलकके कर्मोंकी निर्जरा होती है ॥५५॥

उक्तं च—

एयारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविहो । वत्थेयधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो बिदिओ ॥६३

तत्रैलकः स गृह्णाति वस्त्रं कौपीनमात्रकम् । लोचं श्मश्रुशिरोलोम्नां पिच्छिकां च कमण्डलुम् ॥५६
पुस्तकाद्युपधिश्चैव सर्वसाधारणं यथा । सूक्ष्मं चापि न गृह्णीयादीषत्सावद्यकारणम् ॥५७
कौपीनोपधिमात्रत्वाद् विना वाचंयमिक्रिया । विद्यते चैलकस्यास्य दुर्धरं व्रतधारणम् ॥५८
तिष्ठेच्चैत्यालये संघे वने वा मुनिसन्निधौ । निरवद्ये यथास्थाने शुद्धे शून्यमठादिषु ॥५९
पूर्वोदितक्रमेणैव कृतकर्मावधावनात् । ईषन्मध्याह्नकाले वै भोजनार्थमटेत्पुरे ॥६०
ईर्यासमितिसंशुद्धः पर्यटेद् गृहसंख्यया । द्वाभ्यां पात्रस्थानीयाभ्यां हस्ताभ्यां परमश्नुयात् ॥६१
दद्याद्धर्मोपदेशं च निर्व्याजं मुक्तिसाधनम् । तपो द्वादशधा कुर्यात्प्रायश्चित्तादि चाचरेत् ॥६२
क्षुल्लकः कोमलाचारः शिखासूत्राङ्कितो भवेत् । एकवस्त्रं सकौपीनं वस्त्रपिच्छकमण्डलुम् ॥६३

कहा भी है—ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है तथा वह दो प्रकारका होता है। एक तो खण्ड वस्त्रको धारण करनेवाला क्षुल्लक और दूसरा कौपीन-मात्र परिग्रहको धारण करनेवाला ऐलक। भावार्थ—क्षुल्लक श्रावक एक वस्त्र धारण करता है और कौपीन धारण करता है तथा ऐलक कोई वस्त्र नहीं रखता केवल एक कौपीन रखता है ॥६३॥

इन दोनो प्रकारके उत्कृष्ट श्रावकोमेसे जो ऐलक है वह केवल कौपीनमात्र वस्त्रको धारण करता है। कौपीनके सिवाय अन्य समस्त परिग्रहका-समस्त वस्त्रोका त्याग कर देता है तथा दाढी मूँछ और मस्तकके बालोका लोच करता है और पोछी कमण्डलु धारण करता है ॥५६॥ इसके सिवाय स्वाध्यायके लिये पुस्तक आदि सबके काममे आनेवाले धर्मोपकरणोको भी धारण करता है। परन्तु जो पदार्थ थोडी-सी भी हिंसाके कारण हैं या अन्य किसी पापके कारण हैं ऐसे पदार्थोको वह लेश मात्र भी अपने पास नही रखता है ॥५७॥ यह ऐलक श्रावक एक कौपीनमात्र परिग्रहको तो रखता है, इस कौपीनमात्र परिग्रहके सिवाय उसकी समस्त क्रियाएँ मुनियोके समान होती हैं तथा मुनियोके समान ही वह अत्यन्त कठिन-कठिन व्रतोको पालन करता है ॥५८॥ यह ऐलक श्रावक या तो किसी चैत्यालयमे रहता है या मुनियोके सघमे रहता है अथवा किसी मुनिराजके समीप वनमे रहता है अथवा किसी भी सूने मठमे या अन्य किसी भी निर्दोष और शुद्ध स्थानमे रहता है ॥५९॥ यह ऐलक श्रावक पहले कहे हुए क्रमके अनुसार समस्त क्रियाएँ करता है तथा दोपहरसे कुछ समय पहले सावधान होकर आहारसे लिये नगरमे जाता है ॥६०॥ आहारको जाते समय भी ईर्यापथ शुद्धिसे जाता है तथा घरोकी सख्याका नियम लेकर भी जाता है। तथा वहाँपर जाकर पात्रोके समान केवल अपने दोनो हाथोसे ही आहार लेता है ॥६१॥ यह ऐलक श्रावक विना किसी छल-कपटके मोक्षका कारण ऐसा धर्मोपदेश देता है तथा बारह प्रकारका तपश्चरण पालन करता है और किसी व्रतमे किसी प्रकारका दोष लग जानेपर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है ॥६२॥ इस ग्यारहवी प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकका दूसरा भेद क्षुल्लक है। यह क्षुल्लक श्रावक ऐलककी अपेक्षा कुछ सरल चारित्र पालन करता है, चोटी और यज्ञो-पवीत धारण करता है, एक वस्त्र धारण करता है, कौपीन धारण करता है, वस्त्रकी पीछी रखता है और कमण्डलु रखता है ॥६३॥ यह क्षुल्लक भिक्षाके लिये एक कासेका अथवा लोहेका

भिक्षापात्रं च गृह्णीयात्कांस्यं यद्वाऽश्ममयममलम् । एषणादोषनिर्मुक्तं भिक्षाभोजनमेकशः ॥६४
क्षौरं श्मश्रुशिरोलोम्नां शेषं पूर्ववदाचरेत् । अतीचारे समुत्पन्ने प्रायश्चित्तं समाचरेत् ॥६५
यथा निर्दिष्टकाले स भोजनार्थं च पर्यटेत् । पात्रे भिक्षां समादाय पञ्चागाराणि भ्रामरीवत् ॥६६
तत्राप्यन्यतमे गेहे दृष्ट्वा प्रासुकमम्बुकम् । क्षणं चातिथिभागाय सम्प्रेक्ष्याथ च भोजयेत् ॥६७
दैवात्पात्रं समासाद्य दद्यादन्नं गृहस्थवत् । तच्छेषं यत्स्वयं भुङ्क्ते नो चेत्कुर्यादुपोषितम् ॥६८
किञ्च गन्धादिद्रव्याणामुपलब्धौ सधर्मिभिः । अर्हद्बिम्बादिसाधूनां पूजा कार्या मुदात्मना ॥६९
त्रिधात्र साधकाः केचित्केचिद्गूढाह्वयाः पुनः । वानप्रस्थाख्यकाः केचित्सर्वे तद्वेषधारिणः ॥७०
क्षुल्लकाचारिणस्तेषां नात्युग्रं नातीव मृदु । मध्यवर्तिव्रतं तत्स्यात्पञ्चगुर्वात्मसाक्षिकम् ॥७१
अस्ति कश्चिद्विशेषोऽत्र साधकादिषु कारणात् । अगृहीतव्रताः कुर्युर्व्रताभ्यासं व्रताशया ॥७२

पात्र रखता है तथा शास्त्रोमे जो भोजनके दोष बतलाये हैं उन सब दोषोंसे रहित एक बार भिक्षा भोजन करता है ।।६४।। दाढ़ी मूँछ और मस्तकके बालोंको बनवा लेता है तथा बाकीकी समस्त क्रिया पहले कही हुई प्रतिमाओंके अनुसार करता है अर्थात् दश प्रतिमाओमे कही हुई समस्त क्रियाओंका पालन करता है । यदि उसके किसी व्रतमे किसी प्रकारका दोष या अतिचार लग जाता है तो वह उसका प्रायश्चित्त लेता है ।।६५।। भोजनके समयपर अर्थात् दोपहरके पहले वह भोजनके लिये नगरमे जाता है तथा भ्रमरके समान बिना किसीको किसी प्रकारका दुख पहुँचाये अपने पात्रमे पाँच घरोसे आहार लेता है ।।६६।। वह क्षुल्लक श्रावक उन पाँच घरोमेसे ही जिस घरमे प्रासुक जल दृष्टिगोचर हो जाता है उसी घरमे भोजनके लिये ठहर जाता है तथा थोडी देर तक वह किसी भी मुनिराजको आहार दान देनेके लिये प्रतीक्षा करता है । यदि आहार दान देनेके लिये किसी मुनिराजका समागम नही मिला तो फिर वह भोजन कर लेता है ।।६७।। यदि देवयोगसे आहार दान देनेके लिये किसी मुनिराजका समागम मिल जाय, अथवा अन्य किसी पात्रका समागम मिल जाय तो वह क्षुल्लक श्रावक गृहस्थके ही समान अपना लाया हुआ भोजन उन मुनिराजको दान देता है । दान देकर फिर अपने पात्रमे जो कुछ बचा रहता है उसको वह स्वयं भोजन कर लेता है । यदि अपने पात्रमे कुछ न बचे तो उस दिन वह उपवास करता है ।।६८।। तथा यदि उस क्षुल्लक श्रावकको किसी साधर्मी पुरुषसे जल चन्दन अक्षत आदि पूजा करनेकी सामग्री मिल जाय तो प्रसन्नचित्त होकर भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा कर लेनी चाहिये अथवा भगवान् सिद्ध परमेष्ठी या साधु परमेष्ठीकी पूजा कर लेनी चाहिये ।।६९।। इस प्रकार क्षुल्लक और ऐलक दोनो प्रकारके उत्कृष्ट श्रावकोकी क्रियाओका निरूपण किया । जिस प्रकार उत्कृष्ट श्रावकके क्षुल्लक और ऐलक ये दो भेद हैं उसी प्रकार क्षुल्लक श्रावकोके भी कितने ही भेद हैं । कोई साधक क्षुल्लक हैं, कोई गूढ क्षुल्लक होते हैं और कोई वानप्रस्थ क्षुल्लक होते हैं । ये तीनो प्रकारके क्षुल्लक क्षुल्लकके समान वेष धारण करते हैं ।।७०।। ये तीनो प्रकारके क्षुल्लक क्षुल्लकोकी ही क्रियाओको पालन करते हैं । ये तीनो प्रकारके क्षुल्लक न तो अत्यन्त कठिन व्रतोका पालन करते हैं और न अत्यन्त सरल व्रतोका पालन करते हैं किन्तु मध्यम स्थितिके व्रतोका पालन करते हैं तथा पच परमेष्ठीकी साक्षी पूर्वक व्रतोको ग्रहण करते हैं ।।७१।। क्षुल्लकोंके जो साधक गूढ और वानप्रस्थ भेद बतलाये हैं उनमें कुछ विशेष भेद नही है किन्तु थोड़ा-सा ही भेद है । इनमेसे जिन्होंने क्षुल्लकके व्रत धारण नही किये हैं, किन्तु क्षुल्लकके व्रत

[illegible] केचिद् व्रतं गृह्णन्ति साहसात् । न गृह्णन्ति व्रतं केचिद् गृहे गच्छन्ति कातराः ॥७३
दर्शनिकादिदिष्टान्तं मया प्रोक्तं गृहिव्रतम् । वृत्तान्तोऽवशेषं यावत् ज्ञेयं ज्ञेयं जिनागमात् ॥७४
अस्योत्तरगुणं मान्यं तपो द्वादशधा मतम् । सूचीमात्रं प्रवक्ष्यामि देशतो व्रतधारिणाम् ॥७५

तत्सूत्रं यथा—

अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ॥६४
[illegible]चतुर्विधाहारसंन्यासोऽनशनं मतम् । केवलं भक्तसलिलमवमौदर्यमुच्यते ॥७६
नियमः पञ्चषष्ठादिवस्तूनां संख्ययाऽशनम् । तथादिसंख्यया गृहा वृत्तिसंख्या प्रकथ्यते ॥७७
मधुरादिरसानां यत्समस्तं व्यस्तमेव वा । परित्यागो यथाशक्ति रसत्यागः स कथ्यते ॥७८
एकान्ते विजनस्थाने रागादिदोषवर्जिते । शय्या मठासनं भिन्नं शय्यासनमुदीरितम् ॥७९

धारण करना चाहते हैं वे उन व्रतोंका अभ्यास करते हैं ॥७२॥ उक्त वानप्रस्थ आदिमेंसे कितने ही व्रतोंका अभ्यास करके साहसके साथ व्रतोंको ग्रहण करते हैं और कितने ही कायर पुरुष व्रतोंको ग्रहण न करके अपने घरोंको चले जाते हैं ॥७३॥ इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार दर्शन-प्रतिमासे लेकर उद्दिष्टत्यागप्रतिमातक गृहस्थोंकी ग्यारह प्रतिमाओंका स्वरूप मैंने अत्यन्त संक्षेपसे कहा है। इन प्रतिमाओंके स्वरूप कहनेमें जो कुछ बाकी रह गया है वह अन्य जैनशास्त्रोंसे जान लेना चाहिए ॥७४॥ एकदेश व्रतोंको धारण करनेवाले इन श्रावकोंके (उत्कृष्ट श्रावकोंके) उत्तर-गुण बारह प्रकारके तप कहलाते हैं। आगे मैं संक्षेपसे नाम मात्र इन बारह प्रकारके तपोंको भी कहता हूँ ॥७५॥

तप दो प्रकार है—एक अन्तरंग तप और दूसरे बाह्य तप। इनमेंसे बाह्य तपके छह भेद हैं जो सूत्रकारने अपने सूत्रमें इस प्रकार बतलाये हैं—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश यह छह प्रकारका बाह्य तप है ॥६४॥

आगे संक्षेपसे इन्हींका स्वरूप लिखते हैं। अन्न पान लेह्य खाद्य इन चारों प्रकारके आहार-का त्याग कर देना अनशन तप कहलाता है। केवल भात और पानी लेना बाकीके समस्त आहारोंका त्याग कर देना अर्थात् थोड़ा भोजन लेना अवमौदर्य तप है ॥७६॥ मैं आज केवल दाल भात और पानी ऐसे तीन पदार्थ खाऊँगा बाकी सबका त्याग है अथवा चार या पाँच पदार्थ खाऊँगा या छह खाऊँगा बाकीके नहीं अथवा पाँच घर तक जाऊँगा, पाँच घरमें आहार मिलेगा तो लूँगा नहीं तो नहीं। इस प्रकार खाने योग्य पदार्थोंका नियम कर अथवा जाने योग्य घरोंका नियम कर आहारके लिए जाना अथवा आहारके लिए इस प्रकारका नियम कर लेना वृत्तिपरि-संख्या नामका तप कहलाता है ॥७७॥ मीठा, खट्टा, चरपरा, कड़वा, कषायला आदि रसोंका अथवा मीठा, दूध, दही, घी, तेल और फलादिक सचित्त पदार्थ इन छहों रसोंका पूर्ण रूपसे त्याग कर देना अथवा एक दो आदि अलग-अलग रूपसे रसोंका त्याग करना, जैसी अपनी शक्ति हो उसीके अनुसार त्याग करना रसपरित्याग नामका तप है। यदि अपनी शक्ति हो तो समस्त रसोंका त्याग कर देना चाहिए। यदि ऐसी शक्ति न हो तो फिर जितनी शक्ति हो उसके अनुसार एक दो चार आदि रसोंका त्याग कर देना चाहिए। इस प्रकारके त्यागको रसपरित्याग तप कहते हैं ॥७८॥ जहाँपर मनुष्योंका निवास न हो तथा राग-द्वेष उत्पन्न होनेके कोई कारण न हों ऐसे निर्दोष एकान्त स्थानमें सोने और बैठनेका स्थान बनाना विविक्तशय्यासन नामका तप कहलाता

आतापनादियोगेन वीरचर्यासनेन वा । वपुषः क्लेशकरणं कायक्लेशः प्रकीर्तितः ॥८०
षोढा बाह्यं तपः प्रोक्तमेवमित्यादिलक्षणैः । अमुना कथ्यतेऽस्माभिः षोढाभ्यन्तरं तपः ॥८१

तत्सूत्रं यथा—

प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ॥६५

प्रायो दोषेऽप्यतीचारे गुरौ सम्यग्निवेदिते । उद्दिष्टं तेन कर्तव्यं प्रायश्चित्ततपः स्मृतम् ॥८२
गुर्वादीनां यथायोग्यमभ्युत्थानं च गौरवम् । क्रियते स्वस्वसामर्थ्याद्विनयाख्यं तपः स्मृतम् ॥८३
तपोधनानां दैवाद्वा ग्लानित्वमुपेयुषाम् । यथाशक्ति प्रतीकारो वैयावृत्यः स उच्यते ॥८४
नैरन्तर्येण यः पाठः क्रियते सूरिसन्निधौ । यद्वा सामायिकीपाठः स्वाध्यायः स स्मृतो बुधैः ॥८५
शरीरादिममत्वस्य त्यागो यो ज्ञानदृष्टिभिः । तपःसंज्ञः सुविख्यातो कायोत्सर्गो महर्षिभिः ॥८६
कृत्स्नचिन्तानिरोधेन पुंसः शुद्धस्य चिन्तनम् । एकाग्रलक्षणं ध्यानं प्रोक्तं परमं तपः ॥८७

है ॥७९॥ आतापन आदि योग धारण कर अथवा वीरचर्या आसन धारण कर शरीरको क्लेश पहुँचाना कायक्लेश नामका तप कहलाता है । नग्न अवस्था धारण कर एक स्थानपर खड़े होकर ध्यान धारण करना आतापन योग है तथा भ्रामरी वृत्तिसे भोजन करना, ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतपर खड़े होना, वर्षामें वृक्षके नीचे रहना और शीत ऋतुमें नदीके किनारे या चौहटेमें रहना आदि वीरचर्या है । इनके द्वारा शरीरको क्लेश पहुँचाना कायक्लेश नामका तप कहलाता है ॥८०॥ इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप रीतिसे सबका लक्षण कहकर छहों प्रकारके बाह्य तपका निरूपण किया । अब आगे छहों प्रकारके अन्तरंग तपका लक्षण कहते हैं ॥८१॥

उन अन्तरंग तपोंको कहनेवाला सूत्र यह है—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान यह छह प्रकारका अंतरंग तप है ॥६५॥

आगे इनका स्वरूप संक्षेपसे कहते हैं । किसी व्रतमें या किसी भी क्रियामें किसी प्रकारका अतिचार या दोष लग जानेपर उसको बिना किसी छल कपटके अच्छी तरह गुरुसे निवेदन करना और उसके बदले गुरु महाराज जो कुछ आज्ञा दें, जो दण्ड दें उसे मन वचन कायसे पालन करना प्रायश्चित्त नामका तप कहलाता है ॥८२॥ आचार्य उपाध्याय आदि गुरुओंका अपनी सामर्थ्यके अनुसार आदर-सत्कार करना, उनके सामने खड़े होना, पीछे-पीछे चलना तथा अपनी सामर्थ्यके अनुसार उनका महत्त्व प्रगट करना आदि विनय नामका तप कहलाता है ॥८३॥ यदि दैवयोगसे किसी मुनिके किसी प्रकारका रोग हो गया हो अथवा और किसी प्रकारकी शरीरमें बाधा हो गयी हो तो अपनी शक्तिके अनुसार उसको दूर करना, उस मुनिराजकी सेवा करना, पैर दाबना तथा जिस प्रकार वह व्याधि दूर हो सके उसी प्रकार निर्दोष यत्न करना वैयावृत्य नामका तप कहलाता है ॥८४॥ आचार्य महाराजके समीप बैठकर निरन्तर शास्त्रोंका पाठ करनेको, अथवा सामायिकके पाठ करनेको विद्वान् लोग स्वाध्याय नामका तप कहते हैं ॥८५॥ ज्ञानरूपी नेत्रोंको धारण करनेवाले महा तपस्वी लोग शरीरादिकसे ममत्वका सर्वथा त्याग कर देनेको प्रसिद्ध कायोत्सर्ग नामका तप कहते हैं ॥८६॥ योगी लोग जो अन्य समस्त चिन्ताओंको रोककर अपने मनकी एकाग्रतासे केवल शुद्ध आत्माका चिन्तवन करते हैं उसको ध्यान नामका परम तपश्चरण कहते हैं ॥८७॥ इस प्रकार हमने कृपापूर्वक एकदेश व्रतोंको धारण करनेवाले श्रावकोंके लिए

एवमित्यादिविविधमेतं षोढा चाभ्यन्तरं तपः । निर्दिष्टं सूक्ष्माऽल्पात्प्रबोधतो मतधारिणाम् ॥८८

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यञ्जनसन्धिविवर्जितरेफम् ।

साधुभिरत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥८९

इति श्रावकाचारापरनाम लाटीसंहितायां सामायिकाद्येकादश प्रतिमापर्यन्त-
वर्णनं नाम षष्ठः सर्गः ॥६॥

छहों प्रकारके अंतरंग तपोंका स्वरूप अत्यन्त संक्षेपसे बतलाया ॥८८॥ इस ग्रन्थमें जो अक्षर, मात्रा, पद, स्वर आदि कम हो अथवा व्यंजन सन्धि रेफ आदिसे रहित हो तो भी सज्जन लोगोंको मेरा यह अपराध क्षमा कर देना चाहिए, क्योंकि शास्त्र एक प्रकारका अगाध समुद्र है इसमें कौन गोता नहीं खाता है अर्थात् कौन नहीं भूलता है ? छद्मस्थ अल्पज्ञानी सभी भूलते हैं ॥८९॥

इस प्रकार सामायिक प्रतिमासे लेकर उद्दिष्टत्याग नामकी ग्यारहवीं प्रतिमा तक
नौ प्रतिमाओंके स्वरूपको निरूपण करनेवाला यह छठा सर्ग समाप्त हुआ ।





परिशिष्ट



॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

रत्नकरण्ड-श्रावकाचार

हिन्दी-पद्यानुवाद

अनुवादक—श्रीयुत पं० गिरधर शर्मा 'नवरत्न', काव्यालंकार

पहला परिच्छेद

(१)

सकल कर्ममल जिनने धोये,
हैं वे वर्द्धमान भगवान।
लोकालोक भासते जिसमे,
ऐसा दर्पण जिनका ज्ञान॥
बडे चाव से भक्तिभाव से,
नमस्कार कर बारबार।
उनके श्रीचरणों में प्रणमू,
सुख पाऊँ हर विघ्नविकार॥

(२)

जो ससार दुख से सारे,
जीवो को सु बचाता है।
सर्वोत्तम सुखमे पुनि उनको,
भलीभाँति पहुचाता है।
उसी कर्म के काटनहारे,
श्रेष्ठ धर्म को कहता हूँ।
श्रीसमन्तभद्रार्यवर्य* का,
भाव बताना चाहता हूँ॥

(३)

धर्म किसे कहते हैं ?

गणधरादि धर्मेश्वर कहते,
सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान –।
सम्यक्चारित धर्म रम्य है,
सुखदायक सब भाँति निदान॥
इनसे उलटे मिथ्या हैं सब,
दर्शन ज्ञान और चारित्र।
भव कारण हैं भय कारण हैं,
दुख कारण हैं मेरे मित्र॥

* आचार्यवर्य

(४)

सम्यग्दर्शन का लक्षण

आठ अगयुत, तीन मूढता–
रहित, अमद जो हो श्रद्धान।
सच्चे देव शास्त्र गुरु पर दृढ,
सम्यग्दर्शन उसको जान।
सच्चे देव शास्त्र गुरु का मैं,
लक्षण यहाँ बताता हूँ।
तीन मूढता आठ अग-मद,
सबका भेद बताता हूँ॥

(५)

सच्चे देव का स्वरूप

जो सर्वज्ञ शास्त्र का स्वामी,
जिसमे नही दोष का लेश।
वही आप्त है वही आप्त है,
वही आप्त है तीर्थ जिनेश।
जिसके भीतर इन बातो का,
समावेश नही हो सकता।
नही आप्त वह हो सकता है,
सत्य देव नही हो सकता॥

(६)

भूख प्यास बीमारि बुढ़ापा,
जन्म मरण भय राग द्वेष।
गर्व मोह चिन्ता मद अचरज,
निद्रा अरति खेद औ स्वेद।
दोष अठारह ये माने हैं,
हो ये जिनमे जरा नही।
आप्त वही है देव वही है,
नाथ वही है और नही॥

(७)

सर्वोत्तम पद पर जो स्थित हो,
परम ज्योति हो, हो निर्मल।
वीतराग हो महाकृती हो,
हो सर्वज्ञ सदा निश्चल॥
आदिरहित हो अन्तरहित हो,
मध्य रहित हो महिमावान।
सब जीवो का होय हितैषी,
हितोपदेशी वही सुजान॥

(८)

बिना राग के बिना स्वार्थ के,
सत्यमार्ग वे बतलाते।
सुन सुन जिनको सत्पुरुषो के,
हृदय प्रफुल्लित हो जाते॥
उस्तादो के कर स्पर्श से,
जब मृदङ्ग ध्वनि करता है।
नही किसी से कुछ चाहता है,
रसिको के मन हरता है॥

(९)

शास्त्र का लक्षण

जो जीवो का हितकारी हो,
जिसका हो न कभी खडन।
जो न प्रमाणो से विरुद्ध हो,
करता होय कुपथ-खडन॥
वस्तुरूप को भलीभाँति से,
बतलाता हो जो शुचितर।
कहा आप्तका शास्त्र वही है,
शास्त्र वही है सुन्दरतर॥

(१०)

तपस्वी या गुरु का लक्षण

विषय छोड़कर निरारम्भ हो,
नहीं परिग्रह रक्खें पास।
ज्ञान ध्यान तप मे रत होकर,
सब प्रकार की छोडें आस ॥
ऐसे ज्ञान ध्यान तप भूषित,
होते जो साँचे मुनिवर।
वही सुगुरु हैं वही सुगुरु हैं,
वही सुगुरु हैं उज्ज्वलतर ॥

(११)

सम्यक्त्व के अग-नि शकित

तत्त्व यही है, ऐसा ही है,
नही और, नहि और प्रकार।
जिनकी सन्मारग मे रुचि हो,
ऐसी मनो खड्ग की धार ॥
है सम्यक्त्व अग यह पहला,
नि शङ्कित है इसका नाम।
इसके धारण करने से ही,
अजनचोर हुआ सुखधाम ॥

(१२)

नि कॉक्षित

भाँति भाँति के कष्ट सहे भी,
जिसका मिलना कर्माधीन।
जिसका उदय विविध दुखयुत है,
जो है पापबीज अतिहीन ॥
जो है अन्तमहित लौकिक सुख,
कभी चाहना नहि उसको।
नि कांक्षित यह अग दूसरा,
धाराऽनतमती इसको ॥

(१३)

निर्विचिकित्सित

रत्नत्रय से जो पवित्र हो,
स्वाभाविक अपवित्र शरीर।
उसकी ग्लानि कभी नहिं करना,
रखना गुण पर प्रीति सधीर ॥
निर्विचिकित्सित अग तीसरा,
यह सुजनो का प्यारा है।
पहले उद्दायन नरपति ने,
नीके इसको धारा है ॥

(१४)

अमूढदृष्टि

दुखकारक हैं कुपथ कुपथी,
इन्हें मानना नहिं मन से।
करना नहिं सम्पर्क सत्कृति,
यश गान नहिं वचनो से ॥
चौथा अग अमूढदृष्टि यह,
जगमे अतिशय सुखकारी।
इसको धार रेवती रानी,
ख्यात हुई जग मे भारी ॥

(१५)

उपगूहन

स्वय शुद्ध जो सत्यमार्ग है,
उत्तम सुख देने वाला।
अज्ञानी असमर्थ मनुजकृत,
उसकी हो निन्दामाला ॥
उसे तोडकर दूर फेकना,
उपगूहन है पचम अग।
इसे पाल निर्मल यश पाया,
सेठ जिनेन्द्र भक्त सुख सग ॥

(१६)

स्थितीकरण

सद्दर्शन से सदाचरण से,
विचलित होते है जो जन।
धर्मप्रेमवश उन्हें करे फिर-
सुस्थिर, देकर तन मन धन ॥
स्थितीकरण नामक यह छट्ठा,
अग धर्मद्योतक प्रियवर।
वारिषेण श्रेणिक का बेटा,
ख्यात हुआ चलकर इसपर ॥

(१७)

वात्सल्य

कपट रहित हो श्रेष्ठ भाव से,
यथायोग्य आदर सत्कार-।
करना अपने साधर्मियों का,
सप्तमाङ्ग वात्सल्य विचार ॥
इसे पालकर प्रसिद्धि पाई,
मुनिवर श्रीयुत विष्णुकुमार।
जिनका यश शास्त्रो के भीतर,
गाया निर्मल अपरपार ॥

(१८)

प्रभावना

जैसे होवे वैसे भाई,
दूर हटा जग का अज्ञान।
कर प्रकाश करदे विनाश तम,
फैला दे शुचि सच्चा ज्ञान ॥
तन मन धन सर्वस्व भले ही,
तेरा इसमे लग जावे।
वज्रकुमार मुनीन्द्र सदृश तू,
तब प्रभावना कर पावे ॥

(१९)

सम्यग्दर्शन सुखकारी है,
भवसन्तति इससे मिटती।
अङ्गहीन यदि हो इसमे तो,
शक्ति नही इतनी रहती ॥
विषकी व्यथा मिटा दे ऐसी,
शक्ति मत्र मे है प्रियवर।
अक्षर मात्राहीन हुए से,
मत्र नही रहता सुखकर ॥

(२०)

लोकमूढता

गगादिक नदियो मे न्हाये,
होगा मुझको पुण्य महान।
ढेर किये पत्थर-रेती के,
हो जावेगा तत्त्वज्ञान ॥

गिरि से गिरे शुद्ध होऊँगा,
जले आग में पावनतर।
ऐसे मन में विचार रखना,
लोकमूढ़ता है प्रियवर ॥

(२१)

देवमूढ़ता

दई देवता की पूजा कर,
मन चाहे फल पाऊँगा।
मेरे होये सिद्ध मनोरथ,
लाभ अनेक उठाऊँगा ॥
ऐसी आशाएँ मन मे रख,
जो जन पूजा करता है।
रागद्वेष भरे देवो की,
देवमूढता धरता है ॥

(२२)

गुरुमूढ़ता

नही छोडते गाँठ-परिग्रह,
आरभ को नही तजते हैं।
भवचक्रो को भ्रमने वाले,
हिसा को ही भजते हैं ॥
साधु सत कहलाते तिस पर,
देना इन्हे मान सत्कार।
है पाखण्डि मूढता प्यारो,
छोडो इसको करो विचार ॥

(२३)

आठ मद

ज्ञान जाति कुल पूजा ताकत,
ऋद्धि तपस्या और शरीर।
इन आठो का आश्रय करके,
है घमड करना मद वीर ॥
मद मे आ निजधर्मिजनो का,
जो जन करता है अपमान।
वह सुधर्म के मानभग का,
कारण होता है अज्ञान ॥

(२४)

अगर पापका हो निरोध तो,
और सम्पदासे क्या काम।
अगर पाप का आश्रय हो तो,
और सम्पदा से क्या काम ॥
मित्रो यदि पहला होगा तो,
दुख का उदय नहीं होगा।
यदि दुसरा होगा तो सम्पद,
होने पर भी दुख होगा ॥

(२५)

सम्यग्दर्शन की महिमा

सम्यग्दर्शन की शुभ सम्पद,
होती है जिनके भीतर।
मातगज हो कोई भी हो,
महामान्य है वे बुधवर ॥
गुदडी के वे लाल सुहाने,
ढँकी भस्म की वे आगी।
सम्यग्दर्शन की महिमा से,
कहे देव ये बडभागी ॥

(२६)

सुन्दर धर्माचरण किये से,
कुत्ता भी सुर हो जाता।
पापाचरण किये से त्यो ही,
श्वान योनि सुर भी पाता ॥
ऐसी कोई नही सम्पदा,
जो न धर्म से मिलती है।
सब मिलती है, सब मिलती है,
सब मिलती है, मिलती है ॥

(२७)

जिनके दर्शन किये चित्त मे,
उदय नही होवे समभाव।
जिनके पढ़ने सुनने से नहिं,
उच्च चरित हो हो न सुभाव।
जिन्हे मान आदर्श चले से,
सत्यमार्ग भूले पड जायँ।
ऐसे खोटे देव शास्त्र गुरु,
शुद्धदृष्टि से विनय न पायँ ॥

(२८)

ज्ञान शक्ति है ज्ञान बडा है,
कोई वस्तु न ज्ञान समान।
त्यो चारित्र बड़ा गुणधारी,
सब सुखकारी श्रेष्ठ महान ॥
पर मित्रो, दर्शन की महिमा,
इन सबसे बढ़कर न्यारी।
मोक्षमार्ग मे इसकी पदवी,
कर्णधार जैसी भारी ॥

(२९)

सम्यग्दर्शन नहिं होवे तो,
ज्ञान चरित्र कभी शुभतर।
फलदाता नहिं हो सकते हैं,
जैसे बीज बिना तरुवर ॥
सम्यग्दर्शन बिना ज्ञान को,
मित्रो समझो मिथ्याज्ञान।
वैसे ही चारित्र समझ लो,
मिथ्याचरित सकल दुखखान ॥

(३०)

मोहरहित जो है गृहस्थ भी,
मोक्षमार्ग–अनुगामी है।
हो अनगार न मोह तजा तो,
वह कुपथ का गामी है ॥
मुनि होकर भी मोह न छोडा,
ऐसे मुनि से तो प्रियवर।
निर्मोही हो गृहस्थ रहना,
है अच्छा उत्तम बहुतर ॥

(३१)

भूत भविष्यत वर्तमान ये,
कहलाते है तीनो काल।
देव नारकी और मनुज ये,
तीनो जग हैं महा विशाल ॥
तीनो काल त्रिजगमे नहिं है,
सुखकारी सम्यक्त्व समान।
त्योंही नहिं मिथ्यात्व सदृश है,
दुखदायक लीजे सच मान ॥

(३२)

मित्रो की सम्यग्दर्शन से,
सुदृष्टि हो जाते हैं।
नारक तिर्यक षंढ-स्त्रीपन,
कभी नहीं वे पाते हैं॥
व्रतविहीन वे होवें तो भी,
नीच कुलों मे नहि होते।
नहि होते अल्पायु दरिद्री,
विकृतदेह भी नहि होते॥

(३३)

विद्या वीर्य विजय वैभव वय,
ओज तेज यश वे पाते।
अर्थसिद्धि कुलवृद्धि महाकुल,
पाकर सज्जन कहलाते॥
अष्टसिद्धि नवनिधि होती हैं,
उनके चरणो की दासी।
रत्नो के वे स्वामी होते,
नृपगण के मस्तकवासी॥

(३४)

पाके तत्त्वज्ञान मनोरम,
वे महान है हो जाते।
सुरपति नरपति धरणीपति औ,
गणधर से पूजा पाते॥
धर्मचक्र के धारक अनुपम,
मित्रो तीर्थंकर होते।
तीनो लोको के जीवो के,
शरणभूत सच्चे होते॥

(३५)

बाधा शका रोग शोक भय,
जरा जहाँ है जरा नही।
जिसमे विद्या सुख है अनुपम,
जिसका क्षय है कभी नही॥
ऐसा उत्तम निर्मलतर है,
शिवपद अथवा मोक्ष महान।
उसको पाते है अवश्य वे,
जो जन सम्यग्दर्शनवान॥

(३६)

है देवेन्द्र चक्र की महिमा,
कही नही जो जाती है।
सार्वभौम की पदवी को सिर,
महिपावली झुकाती है॥
सब पद जिसके नीचे ऐसा,
तीर्थंकर है पद प्रियवर।
पा इन सबको शिवपद पाते,
भव्य भक्त प्रभु को भजकर॥

□□

दूसर परिच्छेद

(३७)

सम्यग्ज्ञान का लक्षण

वस्तुरूप को जो बतलाये,
नीके न्यूनाधिकता-हीन।
ठीक-ठीक जैसे का तैसा
अविपरीत सन्देह विहीन॥
गणधरादि आगम के ज्ञाता,
कहते इसको सम्यग्ज्ञान।
इसको प्राप्त कराने वाले,
कहे चार अनुयोग महान॥

(३८)

प्रथमानुयोग

धर्म अर्थ त्यो काम मोक्ष का,
जिसमे किया जाय वर्णन।
पुन्यकथा हो चरित-गीति हो,
हो पुराण का पूर्ण कथन॥
रत्नत्रय औ धर्म ध्यान का,
जो अनुपम हो महानिधान।
कहलाता प्रथमानुयोग है,
यो कहता है सम्यग्ज्ञान॥

(३९)

करणानुयोग

लोकालोक विभाग बतावे,
युग परिवर्तन बतलाता।
वैसे ही चारो गतियो को,
दर्पणसम है दिखलाता॥
है उत्तम करणानुयोग यह,
कहता है यो सम्यग्ज्ञान।
इसे जानने से मानवकुल,
हो जाता है बहुत सुजान॥

(४०)

चरणानुयोग

गृहस्थियो का अनगारों का,
जिससे चारित हो उत्पन्न।
बढे और रक्षा भी पावे,
है चरणानुयोग प्रतिपन्न॥
मित्रो इसका किये आचरण,
चरितगठन हो जाता है।
करते हुए समुन्नति अपनी,
जीव महासुख पाता है॥

(४१)

द्रव्यानुयोग

जीवतत्त्व का स्वरूप ऐसा,
ऐसा है अजीव का तत्त्व।
पापपुण्य का यह स्वरूप है,
बन्धमोक्ष हैं ऐसे तत्त्व॥
इन सबको द्रव्याणयोग का,
दीप भली विधि दिखलाता।
जो श्रुतविद्या के प्रकाशको,
जहाँ तहा पर फैलाता॥

□□

तीसरा परिच्छेद

(४२)

सम्यक्चारित्र

मोहतिमिर के दूर हुए से,
सम्यग्दर्शन पाता है।
उसको पाकर साधु समकिती,
श्रेष्ठ ज्ञान उपजाता है॥

फिर धारण करता है मुनिवर,
सुखकारी सम्यक्चारित्र।
रहे राग क्यों नहीं पास कुछ,
और द्वेष नस जावे मित्र ॥

(४३)

रागद्वेष के नस जाने से,
नहीं पाप ये रहते पांच।
हिंसा, मिथ्या, चोरी, मैथुन,
और परिग्रह लीजे जाँच ॥
इन सबसे विरक्त हो जाना,
सम्यग्ज्ञानी का चारित्र।
सकल विकल के भेदभाव से,
धरें इसे मुनि गृही पवित्र ॥

(४४)

बारह प्रकार का विकल चारित्र

बारह भेदरूप चारित है,
गृही जनो का तीन प्रकार।
पाँच अणुव्रत तीन गुणव्रत,
और भले शिक्षाव्रत चार ॥
क्रम से सभी कहो पर पहले,
पाँच अणुव्रत बतला दो।
उनका पालन करना सारे,
सागारो को सिखला दो ॥

(४५)

पाँच अणुव्रत

हिंसा मिथ्या चोरी मैथुन,
और परिग्रह जो हैं पाप।
स्थूलरूप से इन्हे छोडना,
कहा अणुव्रत प्रभु ने आप ॥
निरतिचार इनको पालन कर,
पाते हैं मानव सुरलोक।
वहाँ अष्टगुण अवधिज्ञान त्यों,
दिव्य देह मिलते हर शोक ॥

(४६)

अहिंसा

तीन योग औ तीन करण से,
त्रस जीवो का वध तजना।
कहा अहिंसाणुव्रत जाता,
इसको नित पालन करना ॥
इसी अहिंसाणुव्रत के हैं,
कहलाते पञ्चातीचार।
छेदन, भेदन, भोज्यनिवारण,
पीडन, बहुत लादना भार ॥

(४७)

इसी अणुव्रत के कारण से,
जाति-पाँति का था चडाल।
तो भी सब प्रकार सुख पाया,
कीर्तिमान् होकर यमपाल ॥
नही पालने से इस व्रत के,
हिंसारत हो सेठानी-।
हुई धनश्री ऐसी जिसकी,
दुर्गति नहिं जाती जानी ॥

(४८)

सत्य

बोले झूठ न झूठ बुलावे,
कहे न सच भी दुखकारी।
स्थूल झूठ से विरक्त होवे,
है सत्याणुव्रतधारी ॥
निन्दा करना, धरोड हरना,
कूटलेख लिखना परिवाद।
गुप्त बात को जाहिर करना,
ये इसके अतिचार प्रमाद ॥

(४९)

इस व्रत के पालन करने से,
पूज्य सेठ धनदेव हुआ।
नही पाल मिथ्यारत होकर,
सत्यघोष त्यों दुखी मुआ ॥

मिथ्या वाणी ऐसी ही है,
सब जग को सकटदाई।
इसे हटाओ नही लडाओ,
समझाओ सबको भाई ॥

(५०)

अचौर्य

गिरा पडा भूला रक्खा त्यो,
बिना दिया परका धन सार।
लेना नही, न देना परको,
है अचौर्य, इसके अतिचार-॥
माल चौर्य का लेना, चोरी-
ढग बतलाना, छल करना।
माल मेल मे नापतोल मे,
भग राजविधि का करना ॥

(५१)

इस व्रत को पालन करने से,
वारिषेण जग मे भाया।
नही पालने से दुखबादल,
खूब तापसी पर छाया ॥
जो मनुष्य इस व्रत को पाले,
नही जगत मे क्यो भावे।
क्यो नहिं उसकी शोभा छावे,
क्यो न जगत सब जस गावे ॥

(५२)

ब्रह्मचर्य

पापभीरु हो परदारा से,
नही गमन जो करता है।
तथा औरको इस कुममं मे,
कभी प्रवृत्त न करता है ॥
ब्रह्मचर्य व्रत है यह सुन्दर,
पाँच इसी के हैं अतिचार।
इन्हे भली विध अपने जी मे,
मित्रो लोजे खूब विचार ॥

(५३)

भण्ड-वचन कहना, निशिवासर-
अति तृष्णा स्त्री मे रखना।
व्यभिचारिणो स्त्रियो मे जाना,
औ अनग क्रीड़ा करना॥
औरों की शादी करवाना,
इन्हें छोडकर व्रतपाला॥
वणिक्सुता नीली ने नीके,
कोतवाल ने नहिं पाला॥

(५४)

परिग्रहपरिमाण

आवश्यक धन-धान्यादिकका,
अपने मन मे कर परिमाण।
उससे आगे नही चाहना,
सो है व्रत इच्छा परिमाण॥
अति वाहन, अति सग्रह, विस्मय,
लोभ लादना अतिशय भार।
इस व्रत के बोले जाते हैं,
मित्रो ये पाँचो अतिचार॥

(५५)

जयकुमार ने इस वर व्रत का,
पालन करके सुख पाया।
वैश्य 'मूछ-मक्खन' नहिं पाला,
'हाय द्रव्य' कर दुख पाया॥
पाँच अणुव्रत कहे इन्ही मे,
मद्य मास मधुका जो त्याग।
मिल जावे तो आठ मूल गुण,
हो जाते है गृही-सुहाग॥

□□

(५६)

चौथा परिच्छेद

गुणव्रत

मूल गुणो की बढती होवे,
इसके लिए गुणव्रत तीन।
कहे श्रेष्ठ पुरुषो ने नीके,
जिनसे होवें जन दुखहीन॥
दिग्व्रत और अनर्थदंडव्रत,
व्रत भोगोपभोग परिमाण।
इनको धारण करें भव्यजन,
मान शास्त्रको सुदृढ प्रमाण॥

(५७)

दिग्व्रत

अमुक नदी तक अमुक शैल तक,
अमुक गाँव तक जाऊँगा।
दशो दिशा मे अमुक कोस से,
आगे पद न बढाऊँगा॥
ऐसी कर मर्यादा आगे,
कभी उमर भर नहिं जाना।
सूक्ष्म पापनाशक दिग्व्रत यह,
इसे सज्जनो ने माना॥

(५८)

जो इस व्रत का पालन करते,
उन्हे नही होता है पाप।
मर्यादा के बाहर उनके,
अणुव्रत होय महाव्रत आप॥
प्रत्याख्यानावरण बहुत ही,
मित्रो कृशतर हो जाते।
इससे कर्म चरित्र-मोहनी,
मन्द-मन्दतर पड जाते॥

(५९)

महाव्रत

तन मन वचन योग से मित्रो,
कृत कारित अनुमोदन कर।
होते हैं नौ भेद, इन्ही से,
तजना पाँचों पाप प्रखर॥
कहे जगत मे ये जाते है,
पञ्च महाव्रत सुखकारी।
बहुत अश मे महाव्रती सा,
हो जाता दिग्व्रतधारी॥

(६०)

दशों दिशा की जो मर्यादा,
की ही उसे न रखना याद।
भूल भाल उसको तज देना,
या तज देना धार प्रमाद॥
ऊँचे नीचे आगे पीछे,
अगल बगल मित्रो बढ़ना।
दिग्व्रत के अतिचार कहाते,
याद न मर्यादा रखना॥

(६१)

अनर्थदण्डविरति

दिड्मर्यादा जो की होवे,
उसके भीतर भी बिन काम।
पापयोग से विरक्त होना,
है अनर्थदंडव्रत नाम॥
हिंसादान प्रमादचर्या,
पापादेश-कथन अपध्यान।
त्योंही दु श्रुति पाँचो ही ये,
इस व्रत के हैं भेद सुजान॥

(६२)

हिंसा दान

छुरी कटारी खड्ग खुनीता,
अन्यायुध फलसा तलवार।
साँकल सीगी अस्त्र-शस्त्र का,
देना, जिनसे होवे वार॥
हिंसा दान नाम का मित्रो,
कहलाता है अनरथदड।
बुधजन इसको तज देते हैं,
ज्यो नहिं होवे युद्ध प्रचड॥

(६३)

प्रमादचर्या

पृथ्वी पानी अग्नि वायु का,
बिना काम आरभ करना।
व्यर्थ छेदना वनस्पती को,
बे-मतलब चलना फिरना॥

औरों को भी व्यर्थ घुमाना,
है प्रमादचर्या दुखकर।
कहा अनर्थदंड है इसको,
शुभ चाहे तो इससे डर॥

(६४)
पापोपदेश या पापादेश

जिससे धोखा देना आवे,
मनुज करे त्यो हिंसारम्भ।
तिर्यंचो को सकट देवे,
वणिज करे फैलाकर दम्भ॥
ऐसी ऐसी बातें करना,
पापादेश कहाता है।
इस अनर्थदड को तजकर,
उत्तम नर सुख पाता है॥

(६५)
अपध्यान

रागद्वेष के वश मे होकर,
करते रहना ऐसा ध्यान।
उसकी प्रिया मुझे मिल जावे,
मिल जावे उसके धनधान।
वह मर जावे वह कट जावे,
उसको होवे जेल महान।
वह लुट जावे सकट पावे,
है अनर्थदडक अपध्यान॥

(६६)
दु:श्रुति

जिनके कारण से जागृत हो,
राग द्वेष मद काम विकार।
आरभ साहस और परिग्रह,
त्यो छावे मिथ्यात्वविचार॥
मन मैला जिनसे हो जावे,
प्यारो सुनना ऐसे ग्रन्थ।
दु:श्रुति नाम अनर्थ कहाता,
कहते हैं ज्ञानी निर्ग्रंथ॥

(६७)
अनर्थदण्डव्रत के अतिचार

स्मराधीन हो हँसी दिल्लगी-
करना, भडवचन कहना।
बकबक करना, आँख लडाना,
कायकुचेष्टा मे बहना॥
सजधज के सामान बढाना,
बिना विचारे त्यो प्रियवर-।
तन मन वचन लगाना कृति मे,
हैं अतिचार सभी व्रतहर॥

(६८)
भोगोपभोग परिमाण

इन्द्रिय-विषयो को प्रतिदिन ही,
कम कर राग घटा लेना।
है व्रत भोगोपभोगपरिमित,
इसकी ओर ध्यान देना॥
पचेन्द्रिय के जिन विषयो को,
भोग छोड दें वे हैं भोग।
जिन्हे भोग कर फिर भी भोगे,
मित्रो वे ही है उपभोग॥

(६९)

त्रस जीवो की हिंसा नहिं हो,
होने पावे नही प्रमाद।
इसके लिए सर्वथा त्यागो,
मास मद्य मधु छोड विषाद॥
अदरख निम्बपुष्प बहुबीजक,
मक्खन मूल आदि सारी।
तजो सचित चीजें जिनमे हो,
थोडा फल हिंसा भारी॥

(७०)

जो अनिष्ट हैं सत्पुरुषो के,
सेवन योग्य नही जो है।
उन विषयो को सोच समझकर,
तज देना जो व्रत सो है॥

भोग और उपभोग त्याग के,
बतलाये यम नियम उपाय।
अमुक समय तक त्याग 'नियम' है,
जीवन भरका 'यम' कहलाय॥

(७१)
नियम करने की विधि

भोजन वाहन शयन स्नान रुचि,
इत्र पान कुकुम-लेपन।
गीत वाद्य सगीत कामरति,
माला भूषण और वसन॥
इन्हे रात दिन पक्ष मास या,
वर्ष आदि तक देना त्याग।
कहलाता है 'नियम' और 'यम',
आजीवन इसका परित्याग॥

(७२)
भोगोपभोगपरिमाण के अतिचार

विषय विषो का आदर करना,
भुक्त विषयको करना याद।
वर्तमान के विषयो मे भी,
रचे पचे रहना अविवाद॥
आगामी विषयो मे रखना,
तृष्णा या लालसा अपार।
बिन भोगे विषयो का अनुभव,
करना, ये भोगातिचार॥

□□

पाचवां परिच्छेद

(७३)
शिक्षाव्रत-देशावकाशिक

पहला है देशावकाशि पुनि,
सामायिक प्रोषध उपवास।
वैयावृत्य और ये चारो,
शिक्षाव्रत है सुख आवास॥
दिग्व्रत का लम्बा चौडा स्थल,
काल भेद से कम करना।

प्रतिदिन व्रत देशावकाशि सो,
पूरे धर्मों का सुख भरना ॥

(७४)

अमुक गेह तक अमुक गली तक,
अमुक गाँव तक जाऊँगा ।
अमुक खेत से अमुक नदी से,
आगे पग न बढ़ाऊँगा ॥
एक वर्ष छहमास मास या,
पखवाड़ा या दिन दो चार ।
सीमा-काल भेद से श्रावक,
इस व्रत को लेते हैं धार ॥

(७५)

स्थूल सूक्ष्म पाँचो पापो का,
हो जाने से पूरा त्याग ।
सीमा के बाहर सध जाते,
इस व्रत से सुमहाव्रत आप ॥
हैं अतिचार पाँच इस व्रत के,
मँगवाना, प्रेषण करना ।
रूप दिखाय इशारा करना,
चीज फेंकना ध्वनि करना ।

(७६)

सामायिक

पूर्ण रीति से पञ्च पाप का,
परित्याग करना सज्ञान ।
मर्यादा के भीतर बाहर,
अमुक समय धर तमता ध्यान ॥
है यह सामायिक शिक्षाव्रत,
अणुव्रतो का उपकारक ।
विधि से अनलस सावधान हो,
बनो सदा इसके धारक ॥

(७७)

जब तक चोटी मूठी कपड़ा,
बँधा रहेगा मैं तब तक ।
सामायिक निश्चल साधूँगा,
यो विचार कर, निश्चयतक ॥
मार पलाठी भली भाँति से,
कायोत्सर्ग रमाया कर ।
है बैठना खड़ा रहना या,
समय कहा जाता व्रत वर ॥

(७८)

घर हो वन हो चैत्यालय हो,
कुछ भी हो निरुपद्रव हो ।
हो एकान्त शान्त अति सुन्दर,
परम रम्य औ शुचितर हो ॥
ऐसे स्थल मे बड़ी खुशी से,
तनको मन को निश्चल कर ।
एकभुक्त उपवास-दिवस या,
प्रतिदिन ही सामायिक कर ॥

(७९)

सामायिक के समय गृही,
आरभ परिग्रह तजते है ।
पहिनाये हो वसन जिसे,
ऐसे मुनि से वे दिखते हैं ॥
साम्यभाव स्थिर रख मौनी रह,
सब उपसर्ग उठाते हैं ।
गरमी सरदी मशक डाँस के,
परिषह सब सह जाते है ॥

(८०)

अशुभरूप अशरण अनित्य यह,
परस्वरूप ससार महान ।
अतिशय दु खपूर्ण है, तो भी,
बना हुआ है मेरा स्थान ।
इससे बिलकुल उलटा सुखमय,
मोक्षधाम शास्वत उत्तम ।
सामायिक के समय भक्तजन,
ध्यान धरो ऐसा उत्तम ॥

(८१)

अपने साम्यभाव को तजकर,
कर देना चचल तनको ।
वाणी को चचल कर देना,
कर देना चचल मन को ॥
सामायिक का काल टालना,
और पाठ रखना नहिं याद ।
ये अतिचार पाँच इस व्रत के,
कहे गये हैं बिना विवाद ॥

(८२)

प्रोषधोपवास

सदा अष्टमी चतुर्दशी को,
तज देना चारो आहार ।
यह प्रोषध-उपवास कहाता,
दिनभर रहे धर्म व्यवहार ॥
अजन मजन न्हाना धोना,
गन्ध पुष्प सजधज करना ।
आरभ पाँच पाप हिंसादिक,
इस दिन बिलकुल परिहरना ॥

(८३)

तजना चारो आहारो का,
होय निराकुल, है 'उपवास' ।
एक बार खाने को कहते,
'प्रोषध' जो हैं प्रभुपददास ॥
दो प्रोषध के बिचमे करना,
एक वास* का–कहलाता-।
शुद्ध 'प्रोषधोपवास' पूरा,
भव्य जनो का सुखदाता ॥

(८४)

देखे भाले बिन चीजो का-
लेना, मलक तज देना ।
और बिछाना बिस्तर का त्यो,
व्रत कर्तव्य भुला देना ॥

---

* उपवास

तथा अनादर रखना व्रतमे,
    हैं ये पाँचों ही अतिचार।
इन्हे छोडकर व्रत को पालो,
    धारो उर में धर्म विचार।

(८५)

वैयावृत्य

जो अनगार तपस्वी गुणनिधि,
    धर्महेतु, उनको दे दान।
प्रतिफलकी इच्छा बिन, है यह,
    वैयावृत्य सुव्रत सुखखान ॥
गुणरागी होकर मुनिवर के,
    चरण चापिये होय प्रसन्न।
उनका खेद दूर कर दीजे,
    सेवा कीजे जो हो अन्य ॥

(८६)

दान का स्वरूप

सूनारम्भ* तजा है जिनने,
    धर्मकर्म हित, हर्षाकार।
नवधाभक्ति§ भाव से ऐसे,
    आर्यों का तू गौरव कर ॥
निर्लोभीपन, क्षमा, शक्ति त्यों,
    ज्ञान, भक्ति, श्रद्धा, सतोष।
निर्मलदाता के गुण है ये,
    धारो इनको तजकर दोष ॥

(८७)

दान-फल

जिसने घर धर्मार्थ तजा,
    उस, अतिथिकी पूजा करना।
घर धदे से बढे हुए,
    पापोका है सचमुच हरना ॥

मुनिको नमनेसे ऊँचा कुल,
    रूप भक्तिसे मिलता है।
मान दास्यसे, भोग दानसे,
    स्तुतिसे शुचि यश बढ़ता है ॥

(८८)

बड का बीज भूमि मे जाकर,
    हो जाता है तरु भारी।
घेर घुमेर सघन घन सुन्दर,
    समय पाय छायाकारी ॥
वैसे ही हो अल्प भले ही,
    पात्रदान सुख करता है।
समय पाय बहु फल देता है,
    इष्ट लाभ बहु भरता है ॥

(८९)

दान के भेद

भोजन, भेषज, ज्ञान-उपकरण,
    देना और अभय आवास।
चार ज्ञानके धारी कहते,
    दान यही है चारो खास ॥
इनके पालन करने वाले,
    श्रीषेणौर वृषभसेना।
कोतवाल कौण्डीशव शूकर,
    हुए प्रसिद्ध समझ लेना ॥

(९०)

देवपूजा

प्रभुपद काम दहनकारी है,
    वाञ्छितफल देने वाले।
उनका प्रतिदिन पूजन करिए,
    वे सब दुख हरने वाले ॥

जिनपूजा को एक पुष्प ले,
    मेंडक चला मोद धरके।
मुआ मार्ग मे हुआ देव वह,
    महिमा महा प्रगट करके ॥

(९१)

वैयावृत्य या दान के अतीचार

हरे पत्रके भीतर रखना,
    हरे पत्र से ढक देना।
देने योग्य भोजनादिक को,
    पात्र अनादर कर देना ॥
स्मरण न रखना देने की विधि,
    अथवा देना मत्सर कर।
है अतिचार पाँच इस व्रत के,
    इन्हे सर्वथा तू परिहर ॥

□□

छट्ठा परिच्छेद

(९२)

सल्लेखना

आ जावे अनिवार्य जरा,
    दुष्काल, रोग या कष्ट महान।
धर्महेतु तब तनु तज देना,
    सल्लेखनामरण सो जान ॥
अन्त समय का सुधार करना,
    यही तपस्या का है फल।
अत समाधिमरण हित भाई,
    करते रहो प्रयत्न सकल ॥

(९३)

स्नेह, वैर, सम्बन्ध, परिग्रह,
    छोड, शुद्ध मन त्यो होकर।

---

* सूना :—कूटना १, पीसना २, आग जलाना ३, पानी भरना ४, बुहारी देना ५।

§ नवधा भक्ति :—पडिगाहना १, उच्च स्थान देना २, चरणोदक माथे लगाना ३, पूजा करना ४, प्रणाम करना ५, मन वचन और काय की शुद्धि रखना ६-७-८ और एषणा शुद्धि अर्थात् शुद्ध आहार देना ९।

क्षमा करे निज मन परिजनको,
यार्थे क्षमा स्वयं सुखकर ॥
कृत कारित अनुमोदित सारे,
पापों का कर आलोचन ।
निश्चल जीवन भरको धारे,
पूर्ण महाव्रत दुखमोचन ॥

(६४)

शोक, दुःख, भय, अरति, कलुषता,
तज विषादकी त्यो ही आह ।
शास्त्रसुधा को पीते रहना,
धारण कर पूरा उत्साह ॥
भोजन तजकर रहे दूध पर,
दूध छोडकर छाछ गहे ।
छाछ छोड ले प्रासुक जलको,
उसे छोड उपवास लहे ॥

(६५)

कर उपवास शक्ति अपनी से,
सर्व यत्न से निज मनको ।
णमोकार मे तन्मय कर दे,
तज देवे नश्वर तन को ॥
जीना चहना, मरना चहना,
डरना, मित्र याद करना ।
भावी भोग-वाञ्छना करना,
हैं अतिचार, इन्हे तजना ॥

(६६)

जिनने धर्म पिया है वे जन,
हो जाते है सब दुखहीन ।
तीररहित दुस्तर निश्रेयस,
सुखसागर को पिये प्रवीन ॥
जहाँ नही है शोक दुःख भय,
जन्म जरा बीमारी मौत ।
है कल्याण नित्य केवल सुख,
पावन परमानद का स्रोत ॥

(६७)

सल्लेखना मनुज जो धारें,
पाते हैं वे निरवधि मुक्ति ।
विद्या, दर्शन, शक्ति स्वस्थता,
हर्ष शुद्धि, औ अतिशय तृप्ति ॥
तीन लोकको उलट-पलट दे,
चाहे ऐसा हो उत्पात ।
नही कल्पशत में भी होता,
मोक्षप्राप्त जीवों का पात ॥

(६८)

कीटकालिमाहीन कनक-सी,
अति कमनीय दीप्ति वाले ।
तीनों लोक शिरोमणि सोहें,
निःश्रेयस पाने वाले ॥
धन पूजा ऐश्वर्य हुकूमत,
सेना परिजन भोग सकल ।
होय अलौकिक अतुल अभ्युदय,
सत्य धर्म का ऐसा फल ॥



सातवां परिच्छेद

ग्यारह प्रतिमा

(६९)

दर्शनप्रतिमाधारी

ग्यारह पद होते श्रावक के,
प्रति पद मे पहले गुणयुक्त ।
अपने गुण मिल होय पूर्णता,
यो बुध कहें सुमति समुत ॥
तत्त्वपथिक है शुचिदर्शन है,
भव-तनु भोगविरागी है ।
परमेष्ठीपद शरणागत है,
दर्शन प्रतिमाभागी है ॥

(१००)

व्रतप्रतिमाधारी

पाँच अणुव्रत सात शील औ,
निरतिचार सुखसे धरता ॥
शल्यरहित व्रतप्रतिमाधारी,
व्रतियो मे माना जाता ॥
शिक्षाव्रत हैं चार बताये,
तीन गुणव्रत उपकारी ।
ये सातो मिल शील कहाते,
इन्हें धरे व्रत का धारी ॥

(१०१)

सामायिक प्रतिमाधारी

तीन बार करके आवर्तन,
चार दिशा में चार प्रणाम ।
करे, परिग्रह सारे तज दे,
धर ले कायोत्सर्ग ललाम ॥
खड्गासन या पद्मासन धर,
होकर मन वच तनसे शुद्ध ।
करे वन्दना तीन काल मे,
सामायिकधारी सो बुद्ध ॥

(१०२)

प्रोषधधारी और सचित्तत्यागी

चारो पर्वों मे हर महिने,
धर्मध्यान मे रत रहकर ।
शक्ति छुपाये बिन प्रोषध का,
नियम करे वे 'प्रोषध-धर' ॥
जो नहिं खावें कन्द, मूल, फल,
शाखा, पुष्प, बीज, कच्चे ।
दयामूर्ति वे सचित्त त्यागी—
प्रतिमाधारी, हैं सच्चे ॥

(१०३)

रात्रिभुक्तित्यागी और ब्रह्मचारी

जीवो पर होकर दयालु जो,
रजनी में चारों आहार-।

करे नहीं सो 'रात्रिभुक्ति' का,
त्यागी 'दयावान्' निर्भर ॥
मलकारण मलबीज घृणायुत,
जान अंग, तज देना काम ।
मित्रो है यह सप्तम प्रतिमा,
ब्रह्मचर्य है इसका नाम ॥

(१०४)

आरंभत्याग और परिग्रहत्याग

सेवा कृषि वाणिज्यादिक के'
आरंभसे बस हट जाना ।
हिंसा हो नहिं इस विचारसे,
'आरभत्याग' इसे माना ॥
ममता तज निर्ममत्वरत हो,
बाह्य परिग्रह दस तजना ।
स्वस्थ और सतोषी होना,
परिग्रहत्याग इसे कहना ॥

(१०५)

अनुमति त्यागी

नहिं जिनकी अनुमति आरभमे,
परिग्रह मे नहिं होती है ।
सारे ही लौकिक कामो मे,
जिनकी अनुमति सोती है ॥
अनुमति त्यागी प्रतिमाधारी,
वे सनमति कहलाते हैं ।
साध भली विधि इस पदवीको,
ऊँचा पद पा जाते हैं ॥

(१०६)

उत्कृष्टश्रावक

घरको तज मुनिबनको जाकर,
गुरु-समीप व्रत धारणकर ।
तपते हैं भिक्षासन करते,
खडवस्त्रधारी होकर ॥
उत्तम श्रावक का पद यह है,
जो मनुष्य इसको गहते ।
उन्हे श्रेष्ठजन क्षुल्लक ऐलक,
भाग्यवान् श्रावक कहते ॥

(१०७)

सत्य बात तो यह है मित्रो,
पाप जीव का वैरी है ।
धर्मबन्धु है धर्म मित्र है,
धरो इसे क्या देरी है ॥
निश्चय करता हुआ इसी विध,
इसे पढ़ेगा जो मानव ।
अच्छे से अच्छा सर्वोत्तम,
ज्ञानी होवेगा वह ध्रुव ॥

(१०८)

हैं दर्शन चारित्र ज्ञान ये,
तीनो रत्न बड़े सुन्दर ।
रत्नकरण्ड बनाते हिय को,
जो जन धरे इन्हे शुचितर ॥
भली भाँति पुरुषार्थसिद्धि हो,
उनके चरणो की दासी ।
वरती हैं बन पतिव्रता-सी,
देती है यो सुख राशी ॥

(१०९)

कामी को ज्यो सुख देती है,
रमणी, त्यो सुख दो मुझको ।
माता लाड लडाती सुत को,
वैसे लाड करो मुझको ॥
ज्यो पवित्र करती है कुल को,
अति पवित्र सुगुणा कन्या ।
करो मुझे पावन वैसे ही,
सम्यग्दर्शन श्री धन्या ॥

॥ समाप्त ॥

नोट —इस ग्रन्थ मे ४००० रुपये से अधिक का कागज लगा है, वह सब जैन पचायत दरियागंज, नई दिल्ली से, मारफत श्री शातीलाल जी जैन कागजी के प्राप्त हुआ है। इसलिए हम उपरोक्त सोसाइटी तथा ला० शान्तीलाल जी के अत्यन्त आभारी हैं।